क्या कहाँ है ?

भूमिका

श्री. कन्हैयालालजी कोटेचा की यह पहिली कृति पाठकों के सामने है। जो बात चारसौ से अधिक पृष्ठ में लिखी गई है उसपर थोड़ी-सी पंक्तियों में मैं क्या प्रकाश डालूँ? पाठक पुस्तक से बातें करेंगे तो पुस्तक सब कुछ बोल ही देगी। मैं तो इस बारे में बस इतना ही कहूँगा कि जिस परिस्थिति और वातावरण में से कोटेचाजी निकल चुके हैं, उसी पर अनुभव और अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह बृहद् पुस्तक लिखी है, इसी दृष्टिकोण से अध्ययन के परिणाम-स्वरूप उन से बड़ा विद्वान भी इस विषय पर जो कुछ लिखता—चाहे वह कितना ही अच्छा लिखता—उससे इस पुस्तक का मूल्य स्वाभाविक तौर पर ज़्यादह ही है, क्योंकि अनुभव ज्ञान के साथ मिलकर ज्ञान को प्रामाणिक बना दिया करता है।

मैं यह कह दूँ कि लेखक के विचारों में और मेरे विचारों में जमीन-आसमान का अन्तर है। उन्होंने तेरहपंथी श्वेताम्बर साधुओं की शास्त्रीय दृष्टि से आलोचना की है लेकिन मैं किसी की आलोचना इस दृष्टि से न करके जग-हित की दृष्टि से ही किया करता हूँ। फिर भी मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि लेखक ने ईमानदारी के साथ साधु-वेष-धारी असाधुओं की आलोचना में काफ़ी सत्साहस का परिचय दिया है और मुझे आशा है यह सत्साहस उनके जीवन की प्रगति को यहीं तक सीमित न रख

कर और आगे—बहुत दूर—ले जायगा, और निज-पर-हित के महान यज्ञ में कुछ विशेष सेवा करने योग्य बना देगा।

मुझे जैनियों में दिगम्बर साधुओं के कारनामों का तो पता था और समझता था कि श्वेताम्बरों के साधु सच्चे साधु तो क्या होंगे पर कुछ भले होंगे, लेकिन इस किताब को पढ़कर मालूम हुआ कि जो बेढंगी रफ़्तार वहाँ भी वही यहाँ भी है, अन्यत्र भी यही गड़बड़ है।

ये साधु कहलाने वाले लोग साधु तो क्या, मनुष्य भी नहीं हैं—हाँ, वे मनुष्यत्वहीन मनुष्याकार जन्तु जरूर हैं। कोई मेरी बात माने या न माने लेकिन दूसरे देशों के इतिहास ने मानव-प्रकृति के अध्ययन और अनुभव ने और उतावली में नहीं बल्कि बहुत गंभीरता के साथ धीरे-धीरे बहकर मेरी विचार-धारा ने मुझे यह मानने पर मजबूर कर दिया है कि बिना डंडे की ताक़त के इन तथा ऐसे जन्तुओं की अक्ल ठिकाने नहीं लाई जा सकती। जबतक इनकी पीठ पर कोड़े न बरसाए जायँ और मजदूरी में लगाकर महनतकशी और ईमानदारी के साथ चार रूखी-सूखी रोटियाँ खाकर अपना पेट भरने के लिए मजबूर न किया जाय तबतक ये लोग हराम के टुकड़े तोड़ते हुए समाज की छाती पर मूँग दलने और माता मेदिनी को अपने बोझ से कुचलने और रौंधते रहने की गुस्ताखी करते ही रहेंगे। इन में कुछ अच्छे आदमी नहीं होंगे ऐसी कोई बात नहीं है लेकिन जब सामूहिक रूपसे विचार किया जाता है तब व्यक्ति विशेष के प्रति अन्याय हो सकता है पर उस अन्याय की ज़िम्मेदारी विचारक पर भी नहीं

लादी जासकती, गेहूँ के साथ घुन भी पिस ही जाया करते हैं। इसलिए यह मानते हुए भी कि भारत में साधु कहलानेवाले लाखों व्यक्तियों में थोड़े से भले भी होंगे, मैं अपने उपरोक्त निर्णय में दुःख के साथ किसी परिवर्तन की गुंजायश नहीं पाता। स्वयं लेखक मेरी इस राय से सहमत नहीं होंगे, शायद पाठकों में से इनेगिने ही सहमत होंगे लेकिन मैंने ईमानदारी के साथ जो समझा है वह आगे रख दिया है। अपनी बात कह देने में डर कैसा होता है यह मैंने कभी नहीं जाना है।

मुझे व्यक्तिगत द्वेष किसी से नहीं है, इन साधु कहलानेवाले प्राणियों से भी नहीं है। ये तो सचमुच बेचारे हैं, दया के पात्र हैं। इनसे द्वेष कैसा ? पर इनका सुधार करने की भावना से ही मैंने अपनी बात कह दी है। लेखक ने भी इसी भावना से प्रेरित होकर इतनी बातें कह डाली हैं। समय बदल रहा है, तेजी से बदल रहा है। पहिले ही इन लोगों ने अपने को न सुधारा तो समय आने पर मेरे बताए हुए उपाय की चक्की में पिसकर उन्हें अपने कारनामों का नतीजा भुगतना ही पड़ेगा। मै चाहता हूँ ऐसी नौबत न आए। मेरी हार्दिक भावना है इनका सुधार हो और ये लोग अपने और दुनिया के लिए उपयोगी सिद्ध होकर अपना मानव-जीवन सफल बनाएँ।

रघुवीरशरण दिवाकर

बी. ए., एल-एल. बी.

वर्धा।

धन्यवाद—

इस पुस्तक का मुद्रण इतना अच्छा हो पाया है इसके लिए मैं श्री० वल्लभदासजी जाजू, मैनेजिंग एजण्ट 'श्रीकृष्ण प्रिंटिंग वर्क्स लिमिटेड, वर्धा' का बहुत ही आभारी हूँ जिन्होंने काफ़ी दिलचस्पी के साथ विशेष तौर पर इस पुस्तक का खयाल रखा है। साथ ही मैं भाई हीराचन्द श्रावणे जैन को भी धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने प्रूफ़-करेक्शन में काफ़ी सहायता दी है।

—प्रकाशक

निवेदन

विचारशील पाठकवृंद !

मेरे इस पुस्तक के लिखने का क्या कारण हुआ और किस उद्देश्य की सिध्दि के लिए यह लिखी गई इसको खुलासा तौर पर बतला देने की अत्यन्त आवश्यकता है। वैसे तो पारस्परिक विरोधों को लेकर अनेक व्यक्ति अपनी बातकी पुष्टि करने और विपक्षी की बात का खण्डन करने का प्रयत्न किया ही करते हैं मगर मेरा उद्देश्य इसमें रागद्वेष वश जैन श्वेताम्बर तेरह पंथ सम्प्रदाय के खण्डन करने का कतई नहीं है। मुझे तो केवल जो जो घटनाएँ जिस प्रकार घटी हैं और जिस प्रकार से जैन श्वेताम्बर तेरह पंथ सम्प्रदाय के साधुगण शास्त्र-विरुद्ध आचरण कर रहे हैं वही यथार्थ रूप से पाठकों के सन्मुख रख देना है।

मेरा जन्म विक्रम सं० १९५१ में भाद्रसुदी ४ को हुआ था। मैं अपने पिताजी श्री० हज़ारीमलजी कोटेचा का दत्तक पुत्र हूँ। मेरे पिताजी हमारी बिरादरी में एक धनाढ्य व्यक्ति थे, जैन श्वेताम्बर तेरह पंथ सम्प्रदायके प्रमुख श्रावक थे। मुझे बचपन से ही अध्यात्म विषय की चर्चा का बड़ा शौक था। जब मै १०-११ वर्ष का था उस समय स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री० सिरीलालजी

महाराज की सेवामें विशेष समय व्यतीत किया करता था। स्थानक-वासियों की संगति में मेरे पिताजी को कोई श्रद्धा नहीं थी। बाहरी ढंग ठीक देखकर सं. १८६६ के करीब मेरे विचार जैन श्वेताम्बर तेरह पंथ सम्प्रदाय की तरफ झुके और मैंने लाडनूं (मारवाड़) में आचार्य महाराज के समक्ष इस सम्प्रदाय की श्रद्धा ग्रहण की। सं. १८६८ में मेरा विवाह हुआ। सं. १८७७ के करीब मेरे पिताजी का देहावसान हुआ। उसके बाद मेरी वैराग्य भावना प्रबल हो उठी तो मैंने अपनी माताजी से दीक्षा लेनेकी अनुमति मांगी मगर उन्होंने साफ इन्कार कर दिया और कहा कि जबतक मैं जिंदा हूँ तबतक तुम दीक्षा का नाम न लो। उनकी अस्वीकृति के कारण मुझे उस समय दीक्षा लेने का विचार छोड़ना पड़ा लेकिन सं. १८८६ से मैं शील-धर्म का पालन करने लगा। करीब ढाई साल तक शील धर्मका पालन करता रहा। सम्वत १८८२ के करीब मेरी माताजी का देहान्त हो गया। माताजी के देहावसान के बाद मेरे विचार फिर दीक्षा की तरफ खिंचे मगर लाखों का व्यापार फैला हुआ था इसलिए करीब तीन वर्ष व्यापार को समेटने और सुव्यवस्था करने मे व्यतीत हो गए। मैंने अपनी सम्पत्ति पर एक ट्रस्ट कायम करादिया जिसके चार ट्रस्टी (१) श्री. पूनमचंदजी चोरडिया, (२) श्री. छगनमलजी भंडारी, (३) श्री. नथमलजी भंडारी, और (४) श्री. कालूरामजी कोटेचा नियुक्त किए गए। उस समय मेरे तीन पुत्र थे [१] मूलचंद [सबसे बड़ा], [२] लोमकरण [मँझला] और कनकमल [सबसे छोटा]। मेरी वैराग्य भावना इतनी तीव्र थी कि मैंने अपने बड़े पुत्र मूलचंद को सम्पत्ति सम्हालने और घर बनाए

रखने के उद्देश्य से छोड़कर शेष दोनों पुत्रों से कहा कि "मैं दीक्षा ग्रहण करूँगा, अगर तुम लोगों की भी आत्म कल्याण करने की भावना हो तो तुम भी दीक्षा ग्रहण करो।" लामकरण को तो विशेष रुचि हुई नहीं मगर कनकमल ने दीक्षा लेनेकी उत्कट अभिलाषा प्रकट की। मैंने अपनी धर्म-पत्नी से भी दीक्षा लेनेके लिए कहा मगर उस की हिम्मत नहीं हुई। आखिरकार सं० १८८५ की कार्तिक सुदी ३ को मैंने तथा मेरे कनिष्ठ पुत्र कनकमलने जैन श्वे० तेरह पंथ सम्प्रदाय के आचार्य श्री, तुलछी रामजी द्वारा सरदारशहर [बीकानेर] में दीक्षाग्रहण की। उस दिन दीक्षा ग्रहण करने वाले पुरुषों और स्त्रियों की संख्या २१ थी। दीक्षा लेते समय मेरी वैराग्य भावना बहुत गहरी थी, परिणाम अत्यन्त दृढ़ थे, उस समय मेरे पास दो लाख की सम्पत्ति थी स्त्री, पुत्र बन्धु बान्धव, राज्य-सन्मान आदि सुख पुण्य के प्रभाव से उपलब्ध थे, मगर वैराग्य की सुदृढ़ भावना के सामने ये सब तुच्छ हो गए।

पहिले ही दिन जिस समय दीक्षा लेकर मैं टोले में सम्मिलित हुआ तो देखता क्या हूँ कि साधुओं को जहाँ शास्त्रानुसार सात्विक आहार करने का विधान है वहाँ साधुगण रसयुक्त पौष्टिक (जिसको मारवाड़ी भाषा में 'मालखाना' कहते हैं) माल उड़ा रहे थे। आहार को विशेष स्वादिष्ट बनाने के लिए लहसन के भुने हुए कुलिए, लहसन और मिर्च के बने हुए बाटिये, भुना हुआ नमक आदि दाल शाक वगैरह में डाल रहे थे। साधुगण की खानपान में यह जिव्हा-लोलुपता देख कर तथा परस्पर की

बोल चाल की भाषा का तरीक़ा देखकर मुझे उसी समय उन लोगों के साधुत्व में शंका होने लगी । मैंने सोचा कि अभी तो पहिला ही दिन है, कुछ दिन इन लोगों की गतिविधि को गहराई के साथ सब तरह से देखना चाहिए और इस प्रकार उन लोगों की तरफ़ से हृदय में शंका उत्पन्न होने के कारण लोगों के हर तरह के व्यवहार को ध्यान पूर्वक देखने की दृष्टि हो गई । धीरे धीरे उन के आहार, विहार, रहन-सहन, आदि सब तरह की क्रियाओं पर ध्यानपूर्वक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट मालूम होने लगा कि उन लोगों के व्यवहार में जीवनमें माया कपट भरा पड़ा है । एक दो महीने व्यतीत हुए होंगे कि मेरे ही एक रिश्ते-दार श्री० जगन्नाथजी भंडारी जो उस समय क़रीब २० साल हुए थे कि वे इस सम्प्रदाय में साधु हो गए थे और उस समय एक सिंघाड़बन्द (नेता) साधु थे, माघ-महोत्सव पर आचार्य महाराज के समीप आए थे । क्यों कि वे मेरे रिश्तेदार थे इस लिए उन पर विश्वास करके मैंने उन से पूछा—इस सम्प्रदाय के साधुओं का आचार और व्यवहार आप को कैसा लगता है ! यह सुनकर वे डर के मारे कुछ नहीं बोले । फिर मैंने उन से पूछा कि गरम पानी में उबाले हुए (शंकायुक्त और जिनका रूप रस. गंध, स्पर्श न बदल सका हो) छिलके सहित अखंड नारंगी (सन्तरे), अखंड अमरुद, अखंड नींबु (दाल शाक आदि में रस डालने के लिए), अनारके कुलिए, अंगूर, सेब, नाश्पाती, खुरमानी के बादाम, हरी किशमिश, बीज रहित मुनक्का आदि ऐसी अनेक वस्तुएँ जिन के सचित्त होने की पूरी सम्भावना है, ये

लोग निःशंक हो कर सेवन करते हैं और पानी भी (थोड़ीसी राख से बनाया हुआ) शंकायुक्त तथा पाँतरे का आहार आदि शास्त्र-विरुद्ध बहुत से दोष युक्त पदार्थों का सेवन करते हैं। तब जगन्नाथजी ने कहा—भाई, मुझे तो यह हालत देखते हुए बीस वर्ष हो चुके हैं मगर लोक-भय के कारण बोलने तक की हिम्मत नहीं होती, करें तो क्या करें ? इन नए आचार्य के गद्दी-नशीन होने के बाद तो हालत नित्य प्रति दिन और बिगड़ती जा रही है। दूसरे जैन नाम धारी साधु जो काम खुल्लम खुल्ला करते हैं वेही सब काम ये लोग छिपा छिपा कर कपटपूर्वक करते हैं। भगवान की आज्ञा के विरुद्ध बहुत से काम ये लोग संकेत-सूचक भाषा से करवाते हैं। इस पर मुझे यह खयाल हुआ कि किसी विद्वान साधु से पूछना चाहिए कि ऐसे आचार और व्यवहार के सम्बन्ध में शास्त्रों में क्या वर्णन है। बस, चूरु वाले श्री० सोहन लालजी महाराज से पूछताछ की। वे कहने लगे कि साधु भले ही हज़ारों दोष-युक्त पदार्थों का सेवन करें पर अन्तिम समय आलोचना करले तो आराधक हो जाता है। किसी स्त्री को साधु अपनी जंघा पर बिठला कर आलिंगन करे, अङ्ग-कुचेष्टा करे तो भी साधु का साधुत्व नष्ट नहीं होता है, वह केवल दंड का अधिकारी होता है। साधु का साधुत्व तो सुई-डोरा बद्ध मैथुन से ही जाता है। फिर जीवनलालजी, चम्पालालजी, नथमलजी आदि कई साधुओं से कई तरह के प्रश्न पूछे मगर किसी ने भी संतोष जनक उत्तर नहीं दिया। पूछने पर एक बार भीव राजजी ने यह फ़रमाया कि आराधक होना बड़ा मुश्किल है आराधक होने

की बात केवली ही जानते हैं ।

इस के बाद आचार्य महाराज का विहार हुआ । कई स्थानों में होते हुए हम मुकाम चूरु पहुँचे । वहाँ के श्रावक अन्य स्थानों की तरह महाराज के पंचमी जाने के समय 'घणी खम्मा' 'अन्नदाता' 'पूज्य परमेश्वर' आदि अनेक सन्मान-सूचक शब्द साथ साथ चलते हुए नहीं बोल रहे थे । इस पर कई साधुओं ने वहाँ के श्रावकों से कहा कि यहाँ के भाईयों में भक्ति कम है । दूसरे नगरों में तो महाराज के पंचमी जाने के समय श्रावक लोग 'घणी खम्मा' आदि अनेक सन्मान-सूचक शब्द ज़ोर ज़ोर से बहुत बोलते हैं लेकिन यहाँ ऐसा नज़र नहीं आता । इस पर श्रावक लोगों में बात चली जिस के फलस्वरूप अगले ही रोज़ 'घणी खम्मा' आदि के बुलन्द नारे लगने लगे । इस के बाद ही चुरु में माधोलालजी ने आचार्य महाराज से कहा कि हमारे सम्प्रदाय में जो यह नियम है कि यदि श्रावक श्रद्धावश साधु के भावनार्थ धोवन पानी (अचित्त पानी) रखे तो साधु उस पानी को ले सकता है, शास्त्र विरुद्ध है । इस शंका का समाधान न होने पर माधोलालजी इस तेरह पंथ सम्प्रदाय से अलग हो गए । इस के बाद चुरु से आचार्य महाराजा का ५८ ठाणों सहित राजलदेसर की तरफ़ विहार हुआ और ५८ ही ठाणों सहित आचार्यजी के सगे भाई श्री० चम्पालालजी महाराज का विहार सरदार शहर की तरफ़ हुआ । साधुओं के आहार जल की कठिनाई मिटाने के लिए श्रावक लोग बड़ी संख्यामें गाँव गाँव में डेरे डालते हुए चलते थे । आचार्य महाराज राजलदेसर पहुँचे ।

जिस मकान में ठहरे थे वहाँ के एक कमरे में किवाड़ रस्सी से बंद किए हुए थे। उन किवाड़ों को खोलने के इरादे से चौथमलजी महाराज ने रस्सी खोल दी। किवाड़ खुल गए शाम को श्रावकों को किवाड़ बन्द करने का संकेत करने से किवाड़ बन्द हो गए। इस प्रकार अपनी सुविधाओं को देखते हुए काम करते और करा लेते थे। उसी मकान में कबूतर बहुत थे। साधु लोग उन्हें रजोहरण की डंडी से उड़ा दिया करते थे। एक दिन छगम राजजी साधु से मैंने कहा—बेचारे तिर्यंच को क्यों उड़ाते हो, अंडे वगैरह होंगे तो अन्तराय होगा, मगर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। एक दिन मानमलजी नामक साधु ने कहा कि नारसिंह बेचारा हम लोगों का बहुत काम करता है। प्रतिक्रमण का हुक्म होते ही मतियों के ठिकाने मालूम कर देता है, रोशनी की जरूरत होने पर लालटेन ले आता है, आचार्य व साधुओं के लिए पचर्मा की जगह तलाश कर के बता देता है, वर्षा के समय खिड़की दरवाजे वगैरह बन्द कर देता है और वर्षा के बाद खोल देता है। आहार के लिए गाँवों (पड़ाव) के डेरों की संख्या बता देता है। इस तरह के अनेक काम करता है। आचार्य महाराज के बड़े भाई चम्पालालजी इस समय सरदार शहर में थे। वहाँ से एक श्रावक के द्वारा आचार्य महाराज से पुछवाया कि विहार कर के किस रास्ते से आवें। उत्तर में रत्नगढ़ का हुक्म मिला। जब चम्पालालजी रत्नगढ़ पहुँचे तो आचार्य महाराज उन के स्वागत के लिए गए। इस प्रकार के पाट सन्मान देने से साधुओं में भी इस बात की काफी आलोचना

हुई। आचार्यजी ने साधुओं को उलाहना देते हुए कहा कि जय महाराज के वक्त भी उन्होंने अपने भाई को पाट पर बैठने का सम्मान दिया था, यह तो आचार्य की मरज़ी की बात है कि जो तबियत में आए वह करे। इस के बाद आचार्यजी ने चम्पालालजी का अनुचित सम्मान करने की भूल का अनुभव किया। जिस वक्त हम लोग रतनगढ़ में थे उस वक्त मेरे रिश्तेदार (न्यातीले) भी आचार्यजी की सेवा करने आए। उनसे मैं ने प्राइवेट तरीके से वहाँ का सब हाल कहा। इस के बाद आचार्य जी का विहार बिदासर की तरफ़ हुआ तो हस्तीमलजी (जो पहिले साधु था और फिर निकल कर श्रावक रुप में अपनी ज़िदगी इन के सहारे व्यतीत करता था, अब भी करता है) ऊँट पर चढ़ा हुआ बिदासर की तरफ़ जा रहा था मैं पंचमी से वापिस आरहा था। मैंने पूछा — हस्तीमलजी, कहाँ जा रहे हो? उत्तर मिला — पूज्य महाराज का बिदासर के विहारका हुक्म हुआ है अतः अगले स्थान का प्रबन्ध करने जा रहा हूँ। फिर महाराज का विहार हुआ। साथ में श्रावकों के काफ़ी डेरे थे ही। रास्ते में एक छोटे गाँव में पड़ाव हुआ। उस वक्त वर्षा की बूँदें गिर रही थी। साधुओं ने आचार्यजी से आहार की आज्ञा माँगी। आचार्यजी ने कहा— श्रावकों से पूछो कि पानी की बूँदें आती है या नहीं? पूछने पर कुछ श्रावकों ने कहा-नहीं आती हैं कुछ ने कहा ठहर ठहर कर आती हैं। इसी बीचमें क़रीब सौ ठाणोंका आहार आ चुका। पाँच छः मिनिट बाद तो वर्षा ज़ोरो से होनें लगी। साधुलोग गांव में तीन चार जगह ठहरे हुए थे। पंचमी का बहाना कर के सब को आहार पहुँचाया गया इस के बाद

जयगणे नामक गाँव के लिए विहार हुआ। उस समय भी थोड़ी थोड़ी बूँदे गिर रही थीं। एकबार जब जयगणे में आहार पानी आचुका था तब मैं भी पिछले गाँव से आ पहुँचा। रास्ते मे चौथमलजी महाराज से मुलाक़ात हुई। वे किसी ठिकाने आहार पहुँचाने जा रहे थे। मैं भी उन के साथ हो गया। मैंने उन से पूछा-कहाँ ठहरना है? तो जिस ठिकाने उन्होंने आहार दिया, वही ठिकाना मुझे बता दिया और वहाँ आधा आहार दे दिया। वर्षा चालू थी बाक़ी आधा आहार दूसरे ठिकाने पहुँचाना था। चौथमलजी ने कहा कि मुझे लघुशंका करनी थी इसलिए आहार ले आया बाक़ी आधा आहार दूसरे ठिकाने देकर लघुशंका निवारण करूँगा। यह है इन का काम निकालने का कपटयुक्त ढंग।

जयगणे से विहार कर के आते वक्त वर्षा के कारण करीब बारह तेरह साधु पिछले गाँव में ठहर गए थे, उन में एक मैं भी था। इन साधुओं के लिए एक श्रावक जो चला गया था, बाल बच्चों सहित वापिस पिछले गाँव आया और साधुओं से कहने लगा— महाराज, बारिस की वजह से आप लोगों का विहार नहीं हो सका इसलिए मैं वापिस आया हूँ। रसोई बन रही है। कृपा करके गोचरी के लिए पधारिएगा [इस विषय और प्रसंग को लेकर जो मैंने पैम्फलेट प्रकाशित किए हैं उन में इस का ज़िक्र किया है] जयगणे में कुछ साधुगण मेरे सामने ही ऐसी ऐसी आलोचना करने लगे जो एक साधुजीवन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ही नहीं बल्कि उस पर एक कलंक थी। एक चौथमलजी (दूसरे) नामक साधुने करीब दो घंटे तक ऐसी बातें सुनाई जिन में यह भी कहा कि

पंचमी का बहाना करके सोहनलालजी आदि बड़े बड़े पंडित संत जोधपुर में मंडोर या रानी का बाग तथा उदयपुर में सहेलियों की वाड़ी आदि देखने गए थे। खैर यहाँ से बिदासर का विहार हुआ। वहाँ शोभाचन्दजी नाम के एक श्रावक से सुखलालजी महाराजने कहा—बाटियाँ कच्ची थीं। एक साधु ने कहा—घी नहीं था।

इस प्रकार की अनेक बातें हैं जो साधु जीवन के लिए बहुत ही दोषयुक्त हैं। यह सब लीला देख कर मैंने यह निश्चय कर लिया कि यहाँ रह कर अपनी आत्मा का पतन करना है उसे कलुषित कर के अपनी साधना को और अपने जीवन को नष्ट करना है। दिल फट गया। मैंने अपने कनिष्ठ पुत्र कनकमल से कुछ बातें कहीं। मैंने उस से कहा कि इन में साधुत्व का लेश मात्र भी नहीं है। ये तो सब के सब सूत्र–विरुद्ध आचरण कर रहे हैं। कनकमल को आचार्य महाराज बहुत लाड़ प्यार से रखते थे। बालक तो था ही, उसने आचार्य महाराज से जाकर मेरी कही हुई बातें कह सुनाई। आचार्यजी ने दीवान साहब मगनलालजी महाराज से सब बातें कहीं। मगनलालजी ने दूसरे दिन मुझे एकान्त में लेजाकर पूछा—क्या तुम्हें साधुओं के साधुत्व में कुछ शंका हो रही है? मैंने कहा–साधुओं के आचरण देख कर मुझे अवश्य शंका हो रही है। इस प्रसंग पर मगनलालजी महाराज तथा आचार्य महाराज दोनों के साथ मेरी जो बातें हुई वे सब पैम्फलेटों में प्रकाशित हो ही चुकी हैं। आखिरकार सम्वत १९-९३ में चैत्र वदी २ को क़रीब साढ़े चार महीने इन आचार हीन

साधुओं के साथ रह कर और इन्हें असाधु—साधुत्वहीन वेषधारी साधु—समझ कर इन से अलग हो गया। इस के बाद स०१९-९६ में वैशाख सुदी १३ को जगन्नाथजी भी जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है अलग हो गए। अलग हो जाने के बाद जब मैं अपने गाँव बनी वापिस आगया, तब मगनलालजी लोगों के सन्मुख मुझ पर कल्पित और झूठे दोष लगाते हुए कहने लगे कि कन्है-या लाल से साधुत्व का पालन नहीं हो सका इसलिए निकल गया। जब मैं बनी में था तब आचार्यजी तथा मगनलालजी ने इसी प्रकार के कई आरोपों से भरा हुआ एक छःसात पेज में लिखा हुआ पत्र पान्डरकवड़ा निवासी श्रीयुत अमरचन्दजी मुंथा के पास श्रावकों द्वारा भिजवाया। इस पत्र के आरोपों तथा कलकत्ता और बिदासर के एक पत्र के आरोपों के उत्तर में मुझे भी इन तेरह पंथ सम्प्रदाय के साधुओं के दोष–सेवन के बारे में १ से ५ पैम्फ़लेट प्रकाशित कराने पड़े। कुछ दिन बाद एक तेरहपंथ सम्प्रदाय के श्रावक की मुझ चिट्ठी मिली जिस में लिखा था कि वैशाख सुदी ६ (संवत १९९६) को लाड़नू (मारवाड़) में कनकमल का देहान्त हो गया है। उस में यह भी लिखा था कि कनकमल की अकाल मृत्यु का कारण साधुओं की लापरवाही और श्रावकों की अन्धभक्ति है। इस की नकल मैंने जगन्नाथजी द्वारा निकाले हुए पैम्फ़लेट नं०१ में छपाई थी। मैंने जो पाँच पैम्फ़लेट छपवाए थे उन की कतिपय बातों की बाबत सरदार शहर के विरधीचन्दजी गोठी ने मेरे मुनीमजी पूनमचन्दजी चोरडिया से कहा कि ये सब बातें झूठ हैं। तब पूनमचन्दजी ने कहा कि आप आचार्य महाराज से

तो पूछिए। इस पर पूनमचन्दजी को साथ लेकर गोठीजी आचार्य महाराज के पास गए। उस वक्त परिषद् में करीब चारसौ भाई बहिन थे। पूनमचन्दजी ने आचार्य महाराज से पूछा — महाराज, जैसा कि इस पैम्फलेट में लिखा है, क्या आप अखण्ड सन्तरे और अखण्ड अमरूद का और निंबू भोग करते हैं अथवा नहीं। मगन-लालजी महाराज ने उत्तर दिया—हाँ, उबाले हुए लेते हैं। पूनम-चन्दजी ने कहा—पैम्फलेट में 'उबाले हुए' ही तो लिखा है। पैम्फलेट को पूनमचन्दजी ने परिषद् में पढ़कर सुनाया। पूनमचन्दजी ने चम्पालाल की बाबत तथा जुओं की बाबत जो कुछ पैम्फलेट में लिखा था उस के बारे में पूछा—क्या ये सब बातें भी सच्ची हैं। आचार्य महाराज ने स्वीकार किया। तब पूनमचन्दजी ने कहा—महाराज आप लोग ऐसी चीजें न लेवें तो क्या हर्ज है। इस पर आचार्यजी ने आवेश में आकर उत्तर दिया कि हम जो काम करते हैं वह शास्त्रानुकूल ही करते हैं। कन्हैयालालजी जितना चाहे पैम्फलेट छपाएँ, अपनी तीन लाख की सम्पत्ति भी स्वाहा कर दें, लेकिन हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं। यह है एक सम्प्रदाय के आचार्य महाराज का नम्र और सरल उत्तर।

चैत्र सुदी ७ (सं० १९९८) को मैं सुजानगढ़ गया था। वहाँ मैंने तेरह पंथ सम्प्रदाय की तरफ़ से उड़ाई हुई अपने खिलाफ तीन बातें सुनीं— (१) आचार्य तुलछीरामजी अपने श्रावकों के सामने मेरा लिखा हुआ कह कर एक पोस्ट-कार्ड दिखाते हैं जिस में यह लिखा हुआ था कि (मेरे पुत्र) कनकमल (जो उन के साथ द्रव्यलिंगी बना हुआ था) को ज़हर देकर मरवा दिया। ऐसे झूठ

लिखनेवाले कन्हैयालाल की प्रामाणिकता क्या है [२] मगन-लालजी महाराज (दीवान साहब) श्रावकों के सामने कहते हैं कि कन्हैयालाल जेवर चोरी कर के मद्रास ले गया [३] पाथरी में कन्हैयालालने बगीचा लगाया है। उदयपुर के कन्हैयालालजी भंडारी जो मीठालालजी (तेरहपंथी द्रव्य साधु) के पिता हैं, सुजानगढ़ सेवा करने आए हुए थे। वे मुझसे मिले और मैंने उन से उपरोक्त बातों का हवाला देते हुए कहा—देखिए, ये लोग साधु कहलाकर कितने कितने झूठे दोष मुझ पर लगा रहे हैं। दूसरे दिन कन्हैयालालजी फिर मुझ से मिले और कहने लगे कि पोस्ट कार्ड है तो सही, मगर तुम्हारा लिखा हुआ नहीं है। इन लोगों को ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसी झूठी बातें कह कर द्वेष फैलाते हैं, कलह बढ़ाते हैं, क्या यह साधुओं का काम है। इस प्रकार के साधुओं से तो मिथ्यात्वी ग्रहस्थ भला, जो इन्सानियत [मनुष्यत्व] तो रखता है। ऐसी हैं इन की लीलाएँ।

मैं तेरहपंथियों को वीर प्रभु का अनुयायी समझता था। जब इन में प्रवेश किया और देखा कि यहाँ तो उलटी गंगा बह रही है और यहाँ रहने से अकल्याण ही संभव है तो मैं इन से अलग हो गया। आध्यात्मिक कल्याण की भावना के कारण ही द्रव्यगुरु से अलग होना पड़ा। उन से अलग होने के बाद मुझ अकेले में ऐसी शक्ति नहीं थी और मैं सूत्र का जानकार भी नहीं हूँ इसलिए महाव्रत न पालसका। कुगुरुओं का धन्दा बुरा होता है। शुभ कर्मों के उदय से मैं उस फंदे से तो छूटा। अब

कल्याण होने का कब अवसर मिलेगा, यह सब कर्मों के आधीन है।

मिथ्यात्व का खंडन करना और सम्यक्त्व का मंडन करना मेरा ध्येय है। यहाँ सिद्धान्त और न्यायपूर्वक, असत्य का विरोध किया गया है और सत्य का समर्थन किया गया है। भगवान का धर्म वही है जो केवली ने कहा है। वही सत्य है मान्य है। अपनी तरफ़ से कुछ भी कल्पना करना केवली की आज्ञा मानना नहीं है। शास्त्रों में जगह जगह इस का खुलासा किया गया है। पक्षपात को छोड़कर ही यहाँ सत्य का समर्थन किया गया है। भावों को छिपाना दूसरों को झूठा उपदेश देकर कुमार्ग पर ले जाना, पाप है। इससे अनन्त संसार बढ़ता है। मेरा ध्येय सत्य को प्रगट कर के सच्चे धर्म की प्रभावना करना है और भूले भटके भाइयों को सुमार्ग बतलाना है।

यह पुस्तक मैंने अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार लिखी है। शुद्ध भाषा का मैं पूरा जानकार नहीं हूँ। शास्त्र पढ़ा हुआ पंडित भी नहीं हूँ। अतः इस ग्रंथ में त्रुटियों और भूलों का रहना स्वाभाविक है। पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि कहीं उन्हें ग़लती मालूम पड़े तो कृपया सूचना दें ताकि सुधार कर लिया जाय।

मैंनें यह ग्रन्थ किसी द्वेष भाव से नहीं लिखा है। मेरा उद्देश तो यही है कि मैं अपने अनुभवों के आधार पर जिसे ग़लत समझा हूँ वह पाठकों को बता दूँ और जो ठीक समझा है वह भी पाठकों के सामने रख दूँ। मेरी भावना यही है कि

भरत क्षेत्र में साधुत्व का पतन न हो और इसमें जहाँ कमी हो या दोष हो वहाँ पूर्णता आए, सुधार हो।

मैं आशा करता हूँ कि पाठक उपरोक्त प्रार्थना पर ध्यान देंगे और जहाँ ग़लती दीखे वहाँ सुधारकर पढ़ेंगे और सूचना देंगे।

भगवान महावीर के चरण-कमलों में

समर्पण

भगवन्,

मैं आप के चरणों का एक तुच्छ दास हूँ। मेरी शक्ति संकीर्ण है पर भक्ति विशाल है, इसलिए यह स्वाभाविक ही है कि आप के तीर्थ की दुर्दशा को देखकर मेरा हृदय दुखी हो—आहत हो। यह मैं मानता हूँ कि यह मेरी कमजोरी ही है; लेकिन, भगवन्! मेरी कमजोरी का मूल तो मेरे सरागी होने में ही है। सरागी होते हुए यदि आप के तीर्थ के प्रति अनुराग हो तो यह मेरे इस तुच्छ जीवन के लिये, मैं समझता हूँ, गौरव की ही बात है। पूर्ण वैराग्य का इच्छुक होते हुए भी द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देखते हुए मैं अपने सात्विक अनुराग के लिये लज्जित हूँ—ऐसी कोई बात नहीं है। मुझे गर्व है कि मै आपका पुजारी हूँ और आप मेरे आराध्य देवता हैं। मुझे गर्व है कि मै आप के तीर्थ का एक सेवक हूँ और आप का तीर्थ मेरा पथ-प्रदर्शक है। खैर!

इस सात्विक अनुराग से प्रेरित होकर ही मैंने अपनी तुच्छ बुद्धिसे यह पुस्तक लिखी है। आप सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं। आप जानते हैं कि इस पुस्तक को लिखने में मेरा कोई भी स्वार्थ नहीं है। न मैं विद्वान हूँ, न लेखक, लेकिन आपकी भक्तिने मुझे जो शक्ति और साहस प्रदान किया है उसीका यह परिणाम है, या यूँ कहिए

कि आपके भक्त कहलानेवालों अथवा आपके भक्त और अनुयायी बनने का दावा करनेवालों द्वारा ही आपके महान् तीर्थ की जो अवनति व दुर्दशा हो रही है उसे दूर करने के लिए ही यथा-शक्ति प्रयत्न करने की तीव्र भावना का ही यह चमत्कार है; अन्यथा कहाँ मैं, और कहाँ यह वृहद् पुस्तक !

जो ज्ञान आपसे मुझे मिला है, मैंने उसे ही अपने ढंग से रखने का प्रयत्न किया है। मेरा इसमें कुछ भी नहीं है—सब आपका ही है, मैं भी आपका ही हूँ। अतः आपके परम पुनीत चरण-कमलों में ही पूरे आदर और भक्ति के साथ मैं यह कृति समर्पित करता हूँ और आपसे प्रार्थना करता हूँ कि जिस उद्देश्य से मैंने यह पुस्तक लिखी है उसमें मुझे सफलता प्रदान करें !

आपका चरणानुदास

कन्हैयालाल कोटेचा श्रावक

(महावीरपंथी)
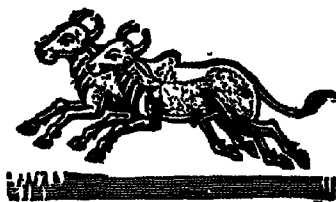
मुनिधर्म और तेरहपंथ

अध्याय : १

दुरंगी चाल

भ्रम विध्वंस ग्रंथकी भूमिका के पृष्ठ ।।।~ में जयाचार्यजी ने असत्य लेखनद्वारा तेरहपंथियों को भगवान् का पट्टाधिकारी सिद्ध किया है। उस मे वर्तमान तेरहपंथी द्रव्यलिंगियों के प्रथम आचार्य भिक्षुजी ने विक्रम संवत् १८०८ में पूज्य श्री० रघुनाथजी (बावीस सम्प्रदाय) के पास दीक्षा ग्रहण की। उनके समीप रह कर आठ वर्ष तक सूत्र सिद्धान्त सीखे। सूत्र न्याय का अध्ययन करते करते भिक्षुजी को मालूम हुआ कि मेरे द्रव्यगुरु श्री० रघुनाथजी साधु न होकर द्रव्यलिंगी हैं। उन्होंने बताया कि उद्दिष्ट आहारादिक स्थानादिक का वे सेवन करके ३०८ सूत्रों के विरुद्ध आचरण करते हैं। उन्होंने सम्वत् १८१७ में अरहंत भगवान की साक्षी से आषाढ़ सु० १५ को स्वयमेव भाव-दीक्षा ग्रहण की, ऐसा 'विध्वंस'

के पृष्ठ ||≈ में लिखा है। पाठावली मे १८१६ सम्वत् लिखा है और यह भी उल्लेख आया है कि अन्य व्यक्तियो को भी दीक्षा दी गई।

चतुर्थ पट्टधर जयाचार्यजी रचित भ्रम विध्वंस ग्रन्थ मे पता चलता है कि भिक्षुजी ने साधु-जीवन का श्रीगणेश किया। इस बात को १७९ वर्ष व्यतीत हो गए है। जीतमलजी आचार्य रचित भ्रम विध्वंस के पृष्ठ |||≈ में यह लिखा है कि भगवान श्री महावीर स्वामी के मुक्त होने के पश्चात् १००० वर्ष पूर्व का ज्ञान रहा। यह भगवती सूत्र २० उ० ८ की साक्षी मे लिखा है। भस्मग्रह उतरने पर २००० वर्ष बाद श्रमण निग्रंथ की कभी कभी पूजा होगी ऐसा कल्पसूत्र के अनुसार लिखा है। आगे चलकर सारांश निकाला है कि भगवान के पश्चात् २९१ वर्ष तक शुद्ध प्ररूपणा रही और इसके बाद १६९९ वर्ष तक अशुद्धि-बहुल प्ररूपणा रही। दोनो को मिलाने से १९९० वर्ष हुए। उस समय धूमकेतु ग्रह ३३३ वर्ष के लिए लगा। वि० सं० १५३१ में लुंका मेहता प्रगट हुआ। २००० वर्ष पूर्ण होने के कारण भस्म ग्रह उतर गया। ४७० वर्ष नन्दीवर्धन साका के और १५३० वर्ष विक्रम संवत् के, इस प्रकार मिलाकर २००० (दो हज़ार) वर्ष हो गए। उस समय लुंका मेहता प्रगट हुआ। बाद में धूमकेतु का ज़ोर होने से पिछली शुद्ध प्ररूपणा शीतल हो गई। धूमकेतु का बल हीन होने से भिक्षुजी का अवतार हुआ। सं० १८१७ में ऐसा लिख कर भिक्षुजी के नाम से जीतमलजी महाराज ने अपना

साधुत्व सिद्ध किया है। गुणवान् पुरुष की आड़ लेने से अनाचार भी छिप जाते हैं।

जेसलमेर के भण्डार से निकली हुई बता कर और उसे सत्य मान कर पहिली पाठावली को प्रतिवर्ष पर्यूषण के रोज़ तेरहपंथी पढ़ कर सुनाया करते हैं, क्योंकि इस से अपना साधुत्व सिद्ध करने का स्वार्थ उन्हे अभीष्ट है। संभवतः जयाचार्यजी ने इसमें कुछ फेरफ़ार किया है, ऐसा भाषा पर से अनुमान होता है। आगे उसका थोड़ा-सा अंश लिख कर बताया जाता है। वीर-प्रभु के मुक्त होने समय देवलोक का धनी सौकेन्द्र (देवों का राजा) ने हाथ जोड़ कर बहुत आदरपूर्वक नमस्कार किया और पूछा, "हे स्वामी, आपकी जन्म राशि के ऊपर दो हज़ार वर्ष तक के लिए भस्म-ग्रह बैठा है। उसका क्या फल होगा"?

वीर-प्रभु ने उत्तर दिया कि "भस्म-ग्रह के बैठने के २००० वर्ष तक श्रमण निग्रंथ की कोई पूजा न होगी। २००० वर्ष व्यतीत होने के बाद श्रमण निग्रंथ की कभी कभी पूजा होगी"। तीनों पाठ से आगे केवलज्ञान रहित युगान्तर-भूमि होगी। निम्न १० वस्तुएँ भी न रहेगीः— १. मनःपर्यय ज्ञान, २. परम अवधि-ज्ञान, ३. पुलाक लब्धि, ४. आहारक शरीर, ५. उपशम श्रेणी, ६. क्षपक श्रेणी, ७. जिनकल्प, ८. परिहार विशुद्धि चरित्र, ९. सूक्ष्म संपराय चरित्र, १०. यथाख्यान चरित्र। वीर-मुक्ति के पश्चात् नन्दी-सूत्र की साक्षी द्वारा २७ पाठ शुद्ध प्रचलित हुए। भगवन्त की आज्ञा सहित आगे चलकर लिखा है कि २१ हज़ार वर्ष तक भगवती

सूत्र शं० २० उ० ८ की साक्षी के अनुसार सूत्र को ही तीर्थ का नाम दिया है और लिखा है कि पाँचवें आरे (काल) के अन्त मे चार तीर्थ रहेंगे :–

(१) "दुपस्स साधु" (२) "फाल्गुणी साध्वी"

(३) "नागल श्रावक" (४) "सत्यश्री श्राविका"

आगे चल कर लिखा है कि १२ वर्ष का काल पड़ा, ९ निंदक हुए। पृष्ठ ४ में लिखा है कि वीर निर्वाण के पश्चात् ९८० वर्ष बाद पुस्तक रूप में शास्त्र लिखा गया। देवड्ढीगणी आचार्य के समय तक शुद्ध पाठ रहा—मार्ग शुद्ध रहा। तत्पश्चात् साधुत्व नहीं रहा। १००८ वर्ष बाद पूर्व का ज्ञान रखनेवालों का विछोह हो गया। २००१ वर्ष बाद लुंका मेहता सच्ची श्रद्धा का पात्र हुआ, ऐसा लिखा है। पृष्ठ ६ में यह उल्लेख आया है कि वि० सं० १८१६ मे भिक्षुजी ने भाव-दीक्षा ग्रहण की। अनुक्रम से तेरहपंथियों के ९ पाटों का नाम लिखा है। यह उपर्युक्त पट्टावली की बातें कल्पसूत्र की टीका से (९ पाट छोड़ कर) मिलती हुई हैं।

उपर्युक्त भ्रम विध्वंस ग्रंथ की भूमिका के पृष्ठ ॥।= व पट्टावली का सारांश यह है कि भगवती श० २० उ० ८ मे बताया है कि वीर निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक पूर्व का ज्ञान रहा। वैसा रहा भी है और पट्टावली में नन्दी सूत्र के २७ वें पाठ देवड्ढीगणी आचार्य के समय तक शुद्ध रूप में प्रचलित रहा—ऐसा लिखा है। नन्दीसूत्र में २७ वें पट्टधारी का नाम गोविंदाचार्य लिखा है। मालूम होता है कि यह देवड्ढीगणी का ही

उपनाम हैं। वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष बाद शास्त्र लिखा गया। १००८ वर्ष बाद पूर्व ज्ञान के धारी न रहे तब तक साधु-पूजा होती रही, यह पहिले सिद्ध हो चुका है। इस बात को तेरह-पंथी मानते भी हैं। शास्त्र न्याय से है; परन्तु भ्रम विध्वंसकार ने पृष्ठ.।।।≈ में ऐसा लिखा है कि वीर-निर्वाण के २९१ वर्ष बाद तक शुद्ध प्ररूपणा रही और तत्पश्चात् १६९९ वर्ष तक अशुद्ध प्ररूपणा रही। सूत्र की साक्षी ली जाय तो यह कुछ भी ठीक नहीं है। केवल जीतमलजी महाराज ने अपने मन की कल्पना से यह न्याय जमाया है। केवल सूत्र के विरुद्ध यह मिथ्या जमाया है; क्योंकि सूत्र में इन्होंने ही उपर्युक्त साक्षी १००८ वर्ष पूर्व तक की मानी है और इन्होंने ही बिना आधार के २९१ वर्ष तक शुद्ध प्ररूपणा का होना लिख मारा है। अपने में साधुपन न होने के कारण अपना साधुपन सिद्ध करने के लिए ऐसा लिखा मालूम होता है। केवल लोगों को भ्रम-जाल में डालने के लिए बड़ी पट्टावली में श्रमणनिर्ग्रंथ की पूजा २००० वर्ष न होगी और बाद को होगी ऐसा वीर-प्रभु द्वारा कहा बताया गया है और उसी पट्टावली में ९८० वर्ष तक मार्ग का आज्ञानुसार चलते रहना लिखा है। केवली के वचनों के विरुद्ध कैसे हो सकता है? यह पट्टावली प्रत्यक्ष झूठ रची हुई मालूम होती है। यह वचन केवली का होता तो प्रत्यक्ष वचन-विरुद्ध न होता। विरुद्ध वचन अल्पज्ञ का ही हो सकता है। इसी पर से मालूम पड़ता है कि अपना मत स्थापित करने के वास्ते पट्टावली की

रचना की गई मालूम होती है। जयाचार्य का भी पट्टावली सत्य मानने का यही उद्देश्य दीखता है कि अपने असत्य को सत्य रूप में रख कर प्रगट किया जाय। पाठक गण यह भी सोचें कि जीतमलजी महाराज ने, भगवती सूत्र श० २० उ० ८ में यह ठहराया है कि तीर्थ नाम सूत्र है। प्रश्नोत्तर सार्द्ध शतक के प्रश्न ९९ में बावीस संप्रदाय में असाधुपन और साधु का विरह बताने के लिए और अपना साधुपन सिद्ध करने के लिए नियन्ठा की रचना की है और झीनी चर्चा की है। ढाल २० व २१ व भगवती सूत्र श० २५ उ० ६ की साक्षी द्वारा बताया गया है कि साधु का विरह कभी नहीं होता है अर्थात् साधु हमेशा रहता है। देखिए तो सही, जब बावीस सम्प्रदाय से काम पड़ता है तब तो उपर्युक्त साक्षी के आधार पर साधु का विरह ठहरा देते हैं और जब इनका ही कोई व्यक्ति दोष-सेवन करता नज़र आने से असाधु ठहरता है तो श० २५ उ० ६ द्वारा साधु का विरह न बता कर अपना साधुपन जमाते है। यह तो मौका देख कर बोलने की बात है। यह कैसे जम सकती है? यह तो जीतमलजी ने केवल लोगों को फँसाने के लिए मनचाही रचना कर डाली है। भिक्षुजी ने तो ऐसी रचना नहीं की थी। चौथे आचार्य ने अनेक बातें उलटी रखी हैं, जो शास्त्रो द्वारा आगे बताई जायँगी। भला, ऐसी दुरंगी चाल इन लोगों को शोभा देती है?

अध्याय : २

भावों की महिमा

श्वेताम्बर तेरहपंथी द्रव्यसाधुओं का आचरण शास्त्रानुकूल नहीं है, और जो शास्त्रानुकूल नहीं है वह अधर्म है, मिथ्यात्व है। भगवान केवली की जो आज्ञाएँ हैं वे हमें शास्त्र द्वारा मिलती हैं, उनका पालन करना ही धर्म का पालन करना है। कहा भी है—

"आणाए मामगं धम्मं"—अर्थात्-आज्ञा में ही मेरा धर्म है।

आचा० प्र० श्रु० अ० ६ उ० २ सू० ६

बहुत लोग जैन-धर्म सुन नहीं पाते। ऐसे सौभाग्यशाली विरले ही होते हैं जिनको जैनधर्म का उपदेश मिलने का सुअवसर प्राप्त होता है। जिन लोगों को ऐसा सुअवसर मिलता भी है वे उस पर श्रद्धा नहीं लाते और यदि लाते हैं तो सच्चे अर्थों में श्रद्धालु नहीं बन पाते; जीवन में—व्यवहार में और आचरण में—जैन-धर्म की अमूल्य शिक्षाओं को नहीं उतार पाते। ऐसे ही लोगों के लिए सुयग० श्रु० १ अ० २ उ० २ सू० ३१ में बताया गया है कि "जैनधर्म सुना नहीं और यदि कभी सुना तो अंगीकार नहीं किया"।

भावों की महिमा अपरंपार है। मोक्ष का आधार भावों की शुद्धता ही है।

देखिए, कहा भी है—

दान शील तप भावना, शिवपुर मारग चार। भाव विसेख भविक जन आये अधिक सुजाण॥ भाव चरित्र तप जप करे तो पामोला निर्वाण ॥१॥ भाव विना भक्ति किसी, भाव विना शिसीख। भाव विना, भणचो किश्यो, भाव विना शी दीख। इण प्रे भावे भावना जिम अंखाड़ मुनीश ॥ २ ॥ कर्म मैल खेरू करे केवल लियो जगीस ॥

उदाहरण

भरत चक्रवर्ती ने शीशे (काँच) के महल मे केवल-ज्ञान प्राप्त किया। (जंबू दी० चक्र० श्रु० १२३)

चंद्रलह्या ने सामायिक में केवल ज्ञान प्राप्त किया। म्हब्रापुंत्र ने महल में जाति-श्रमण-ज्ञान प्राप्त किया। (उं० अं० १९ सू० ७)

मेंढक के भव में नंदण मणिहारे के जीव ने जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त किया। (ज्ञानाता श्रु० १ अ०१३ सू० ३१)

प्रशनचन्द्र सूरि अतापना लेते लेते, ध्यान में मनोभावो का संग्राम करते करते सातवें नरक ले जानेवाले कर्म इकट्ठे किए, पीछे शुभ भावनाओं का उदय हुआ और उन अशुभ कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करके सिद्ध हुए, सुना है।

अशुभ भावो से तन्दुल मान्छला सातवे नरक गया । अशुभ भावों से कालकसुरी कसाई सातवें नरक गया ।

ऊपर शुभाशुभ भावनाओं और उनके परिणामों को बताने वाले कुछ उदाहरण दिए गए हैं। स्वर्ग, नरक, मोक्ष, अनन्त-बंधन सभी कुछ भावो पर निर्भर है। अशुभ भावों को लेकर कोई भी काम किया जाय, भले ही उसका बाहरी रूप सात्विक दिखाई देता हो, वह अशुभ फल का ही देनेवाला है। मनुष्य को चाहिए कि वह कभी अपने भावो को अशुद्ध न करे बल्कि सदैव उन्हें स्वच्छ, निर्मल और पवित्र बनाए रखे। इसी में उसका कल्याण है।

अध्याय : २

साधु-जीवन

बहुत से भाई मुझपर यह आक्षेप किया करते हैं कि मैं आचार्य और साधुओं की निंदा करके पाप का भागी बनता हूँ। मैं उनकी यह बात मानता हूँ कि आचार्य और साधु की निंदा करना एक भयंकर पाप है। दशवै० अ० ९ उ० १ सू० ५ में कहा भी गया है कि जिनवचनानुसार चलनेवाले शुद्ध जिन-वचन-युक्त पाँच प्रकार के आचार का पालन करनेवाले आचार्य की असातना करनेवाले प्राणी को कभी मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। दशवै० अ० ९ उ० १ सू० ८ में भी कहा गया है कि आचार्य की असातना करना पर्वत से अपना सिर फोड़ना है। निस्संदेह आचार्य अथवा साधु की निंदा करना दुष्कर्म है, पाप है और ऐसा मूर्खतापूर्ण कार्य है कि जिससे आचार्य या साधु की तो कुछ हानि होती नहीं है, अपना ही सर्वनाश होता है। लेकिन यह न भूल जाना चाहिये कि 'आचार्य' और 'साधु' से उस आचार्य या साधु का प्रयोजन है जो आगम की आज्ञाओं के अनुसार आचार्य-जीवन अथवा साधु-जीवन व्यतीत करते हुए स्वपर-कल्याण करता है, न कि ऐसे व्यक्ति का जो केवल आचार्य या साधु का वेष तो लिए

हुए है लेकिन जिसका आचार विचार, जिसका जीवन, शास्त्रानुसार अपने वेष के अनुकूल नहीं हैं अर्थात् जो बाह्य दृष्टि से साधु मालूम होता है; लेकिन अन्तरंग दृष्टि से असाधु है। ऐसे साधु-वेषी असाधु दुनिया को ठगने की कोशिश करते है और समझते हैं कि हमने दुनिया को बहुत कुछ ठगा भी; लेकिन वस्तु-स्थिति यह है कि वे हीं ठगे जाते हैं, वे ही अपना पतन कर लेते हैं, अपनी आत्मा को कर्ममल द्वारा अधिकाधिक दूषित और बन्धनयुक्त कर देते हैं और जितना दूसरों का अकल्याण करते हैं उससे सहस्रों गुणा अहित और अपकार अपना ही कर डालते हैं। ऐसे साधुत्वहीन साधुवेषधारी असाधुओं की असलियत प्रकट करना, उनका असाधुत्व बता कर जनता को उनसे होशियार रहने के लिए कहना, इनके दम्भ और ढोंग का रहस्योद्घाटन करके साधु-धर्म का संरक्षण करना किसी भी तरह और किसी भी अंश तक साधु-निंदा या मुनि-निंदा नहीं है, बल्कि वह तो एक धर्म-प्रेमी और समाजप्रेमी का धर्मोचित कर्त्तव्य है कि वह साधु-धर्म को कलंकित करनेवाले और दुनिया में अपने धर्म और आगम को जग-हँसाई का विषय बनानेवाले दंभी व्यक्तियों की पोल खोल कर दुनिया के सामने रख दे और इस तरह अपने धर्म और अपने आगम को अपमान से बचा ले। इसी कर्त्तव्य-बुद्धि से प्रेरित होकर मैंने श्वे० तेरहपंथी साधु कहलानेवाले व्यक्तियों के विषय में अपने विचार और अनुभव अब तक लिखे है और इस पुस्तक द्वारा विशेष रूप से लिख रहा हूँ। मैंने आचार्य या साधु की

अब तक न निंदा की है, न कर रहा हूँ और न करूँगा; क्योंकि मैं तो आचार्य या साधु के चरण-कमलो पर अपना मस्तक रखने में गौरव समझता हूँ, लेकिन मैंने साधुत्व का ढोंग करनेवाले असाधुओं का चरित्र-चित्रण अवश्य किया है, कर रहा हूँ और यदि उनकी यही बेढंगी रफ़्तार रहीं तो आगे भी करता रहूँगा।

तेरहपंथी एक उदाहरण दिया करते है कि किसी सेठ ने एक बढ़िया मकान बनाया। बड़े बड़े लोग उसे देखने आए और उसकी तारीफ़ की। एक मेहतर भी आया। मकान में जो टट्टी (पाख़ाना) बनी हुई थी उसमें उसने दोप निकाला। इसपर से तेरहपंथी कहा करते है कि साधु के गुण को न देखते हुए जो उसमें अवगुण निकालते है वे चाण्डाल सरीखे है। इसके उत्तर में मुझे दो बाते कहनी है—

(१) किसी के अवगुण निकालना अगर चाण्डाल सरीखे व्यक्ति का काम है तो सबसे पहिले ये लोग ही चाण्डाल हैं; क्योंकि ये सदैव दूसरों के दोप निकाला करते है, दूसरों की पीठ पीछे बुराई किया करते हैं, अपने विरोधियो की निंदा किया करते है, मै तो यहाँ तक कहूँगा कि साधु के अवगुण निकालने वाले को चाण्डाल कह कर वे स्वयं चाण्डाल बन जाते है; क्योंकि किसी को चाण्डाल कहना, उसकी निंदा व अवगुणवाद करना ही है।

(२) शास्त्र में लिखा है कि सबसे प्रेम करो, किसी से घृणा न करो। अब मै उन लोगों से पूछता हूँ कि आप पाप से घृणा

करते हैं या नहीं? ये उत्तर देंगे—'करते हैं'। क्यों भाई, जब शास्त्र में किसी से भी घृणा करने का निषेध किया है तब पाप से क्यों घृणा करते हो। बात साफ़ है। किसी से घृणा न करने की बात का यही अर्थ है कि किसी व्यक्ति से घृणा मत करो, भले ही उसके पापों से करो। यही बात अवगुण निकालने के बारे में है। व्यक्ति के प्रति द्वेष व घृणा न होते हुए, हाँ, अवगुणों से द्वेष होते हुए, समाज-हित की भावना से तथा उस व्यक्ति का भी सुधार करने के ख्याल से उसके अवगुण निकालना बुरा नहीं, प्रशंसनीय है; बल्कि कर्त्तव्य भी है। मैं उसी कर्त्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

साधु-असाधु की परीक्षा करने के लिए अथवा यह देखने के लिये कि अमुक व्यक्ति शास्त्रानुकूल साधुधर्म का आचरण करता है या नहीं, आवश्यक है कि साधु-जीवन के वास्तविक रूप को समझा जाय। अतः संक्षेप में नीचे साधु-जीवन के विषय में ही वर्णन किया गया है, जिसके आधार पर पाठक यह समझ सकते हैं कि तेरहपंथी द्रव्यलिंगी साधु सच-मुच कहाँ तक साधु हैं और उनके विषय में जो मेरे विचार हैं वे कहाँ तक ठीक हैं और जो मेरी नीति है वह कहाँ तक उचित है?

[१] दशवै अ० ९ उ १ सूत्र १४-१५ में आचार्य को 'सुय सील बुद्धि ऐ" (अच्छी बुद्धि-सद्बुद्धि-वाला) बताया है। [२] दशा० श्रु० ९ सू० ७ के अनुसार आचार्य नाम रख कर जो व्यक्ति अनाचार का पालन करता है उसको महा-मोहनीय कर्म का बन्धन होता है [३] ठा० ठा० ३ उ०

३ सू० ७ मे यदि शास्त्र में बताए हुए आचार के अनुकूल आचरण न करे तो उसे छोड़ देना बताया है। [४] ठा० ठा० ४ उ० ४ सू० १२ मे चमार की टोकरी सरीखे आदि चार प्रकार के आचार्य बताए हैं और यह बताया है कि चमार की टोकरी सरीखा आचार्य [?] गुणविहीन होने से अपूज्य है, भ्रष्ट आचार्य को पूजने से अनन्त संसार बढ़ता है। राजा की टोकरी [करंडी] के समान जो आचार्य होते है वे सर्व-गुण-सम्पन्न होते है उनकी रंच मात्र भी असातना नहीं करनी चाहिए, बल्कि उनका अधिक से अधिक पूजा, सत्कार और भावपूर्वक भक्ति करना चाहिए। [५] व्यवहार उ० ३ सू० २६ से ३३ तक में बताया है कि जो व्यक्ति मिथ्या वचन बोलता है वह आचार्य की पदवी के लिए सर्वथा अयोग्य है। [६] भिक्षुजी ने भी कहा है कि जो साधु एक दोष का भी सेवन करता है उसने अपने चरित्र को नष्ट कर दिया है [७] ठा० ठा० ४ उ० ३ चो० सू० १६ में चार प्रकार के साधुओ का वर्णन हैं। उनमे एक तो वह है जो धर्म का त्याग कर देता है; लेकिन गच्छ (सम्प्रदाय) की मर्यादा नहीं छोड़ता है, ऐसा साधु वास्तव मे असाधु है। व्यवहार उ० १० सू० १६ में चौभंगी मे भी ऐसे ही साधु का वर्णन आया है जो धर्म छोड़ देता है; लेकिन गच्छ की मर्यादा बनाए रखता है। [नोट:—तेरहपंथी साधुओं को चाहिए कि उपर्युक्त चौभंगी के उपदेश के अनुसार वे गच्छ की मर्यादा छोड़ें, दम्भ, ढोंग और अनाचार को छोड़ें, और धर्म का पालन करे अर्थात् जिस धर्म

को उन्होंने छोड़ रखा है उसका ईमानदारी के साथ पालन करें और गच्छ की मर्यादा के लिए जो उसकी अवहेलना और हिंसा हो रही है, उसे बंद कर दें। यह कभी न भूलना चाहिए कि धर्म सर्वोपरि है, धर्म ही मूल है; अतः गच्छ की मर्यादा के लिए धर्म की हत्या नहीं करनी चाहिए और न गच्छ की मर्यादा की आड़ में अधर्म को धर्म रूप में प्रकट कर के अपना और दूसरों का सर्वनाश करना चाहिए; बल्कि यदि धर्म की पवित्र वेदी पर गच्छ की मर्यादा का बलिदान करना पड़े तो उस मर्यादा का सहर्ष और साहसपूर्वक तथा निःशंकित रूप से बलिदान कर देना चाहिए। तेरहपंथी गृहस्थों को भी इस ओर विशेष ध्यान देकर अपना कर्त्तव्य-पालन करना चाहिए] [८] ठा० ठा० चोथे सू० १६ में भी चार तरह के साधु बताए हैं। विशेष कारणवश जो वेष छोड़े; लेकिन धर्म न छोड़े, जो धर्म न छोड़े, लेकिन वेष न छोड़े, आदि। यहाँ भी वेष से धर्म को ही महत्त्व दिया गया है। [९] ठा० ठा० ४ उ० ३ सू० १९ में निम्न प्रकार चार तरह के साधुओं का वर्णन है:- (क) नेता निर्ग्रंथ जो बहुत क्रियाशील—कर्म करने वाला—है; लेकिन अतापना व समिति रहित—आचार विहीन—है। ऐसा साधु धर्म का आराधक नहीं है। (ख) नेता साधु जो अल्प क्रिया-शील—कर्म न करने वाला—है लेकिन अतापना व समिति सहित—आचार-पालन करने वाला—है। ऐसा साधु धर्म का आराधक है। (ग) थोड़े समय का दीक्षित श्रमण निग्रंथ साधु जो महा क्रियाशील व कर्म शील है;

लेकिन अनापना रहित और समिति रहित है अर्थात्-आचरण विहीन है, ऐसा साधु धर्म का आराधक नहीं है। (घ) थोड़े समय का दीक्षित साधु जो अल्प क्रियाशील अर्थात् कर्म न करने वाला है; लेकिन जो अतापना सहित और समितिवान है—तपस्वी और सदाचारी है—ऐसा साधु धर्म का आराधक है। (१) आचा० श्रु० १ अ० २ उ० ३ सू० १२ में कहा है कि जो कुगुरु के मिथ्या उपदेश में बताए हुए क्रियाकाण्ड को पकड़ कर उस से चिपक जाते हैं वे संसार रूपी भवसागर से पार नहीं होते हैं। [११] सुय० प्र० श्रु० अ० १३ सू० १४ के अनुसार जो ज्ञानवान् और त्यागी होकर घमंड करता है, वह मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी है। (नोटः—वर्तमान तेरहपंथी आचार्य ने लाडनूँ में पूनमचन्दजी से कहा था कि कन्हैयालाल हमारे खिलाफ़ पैम्फ़लेट आदि निकालने में तीन लाख रुपये भी खर्च कर दे तो हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं। यह कितने मान व घमंड की बात है !)

ठा० ठा० १० में सूत्र १३८ के १० अछेरे के अनुसार हुंडा सर्पिणी काल अनन्त काल में आता है तब असाधु की पूजा होती है। संभवतः उसी के मुताबिक इस समय तेरहपंथियों की पूजा हो रही है। ये लोग कहते हैं कि इस से पहिले श्री० कमलप्रभा आचार्य हुए थे, उन्होंने एक दोष को दोष न कहने से अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण किया है। तुलछीगणीजी एक नहीं, बहुत से दोषों को दोष नहीं कहते या समझते हैं, और उन्हें छिपाते भी हैं; अतः इनकी क्या दुर्गति

होगी यह भगवान ही जाने। तुलछीगणी ने कनक की ढाल की जो रचना की है उसकी तीसरी गाथा में उन्होंने स्वयं कहा है कि शासन का अवगुण गाया। इस प्रकार उनके ही मुख से उनके शासन में अवगुण होना सिद्ध हुआ। किसी ने सच कहा है कि भूत वह है जो सिरपर चढ़ कर बोले। यहाँ अपने अवगुणों का भूत सिर पर चढ़ कर ही बोला है तभी तो आचार्यजी से बिना जाने बूझे स्वयं ही अपने शासन के अवगुणों की सहज स्वीकारता हो गई है।

बृहद् कल्प० उ० ४ सू० ७ मे बताया है कि जो अशुद्ध मन वाला होता है वह लकीर का फ़कीर भी होता है और उसके लिए लकीर छोड़ना कठिन होता है। तुलछीगणी आदि के सम्बन्ध मे यह कथन ठीक ठीक चरितार्थ हो रहा है। अब तुलछीगणीजी ने हाज़री में यह बन्दोबस्त किया सुना जाता है कि साबुत सन्तरे न लिए जाएँ। भला, सोचिए दोप न होता तो यह बन्दोबस्त क्यों होता। अन्य फल भी साबुत लिए जाते हैं परन्तु उनको बन्द करने का प्रबन्ध क्यों नहीं किया गया? कारण स्पष्ट है। लोक-लज्जा के लिए कुछ कर दिया, बाकी कैसे किया जाय। इन जिव्हा-लोलुपों से त्याग हो सके तभी न? जिव्हा इंद्रिय पर विजय हो तभी तो त्याग सम्भव है।

अब हम अठारह तरह के पापो का संक्षेप में वर्णन करते हैं।

(१) 'प्राणाती पात'—आधाकर्मी उद्देशिक आहार तथा पातरे का आहार लेना और साधु भावनार्थ परिग्रह रखने का

उपदेश देना। इस पाप का भागी छह-काय का हिंसक कहा गया है।

(२) **मृषावाद्**—अपने दोष छिपाना, झूठ बोलना।

(३) **आदत्तादान**—चोरी, प्रभुवचन की चोरी करना, भाव चोरी करना।

(४) **आचार**—कुशील सेवन

(५) **मूर्च्छा**—अथवा परिग्रह-शरीरादि वस्त्र पात्र आहार आदि म मोह रखना।

(६ से १० तक) **क्रोध-मान-माया-लोभ**

शरीर आहार आदि के प्रति क्रोध करना, अपने को बड़ा और सत्य व धर्म का ठेकेदार समझना, मन में कुछ और हो लेकिन वचन से कुछ और प्रकट करना, स्वादिष्ट व सुन्दर वस्त्र पात्र आदि की लालसा रखना।

(११) **द्वेष**—जो संघ आदि से अलग हो जाय अथवा जो आलोचना करे, सत्य सुझाए, उसके प्रति द्वेष रखना।

(१२) **कलह**—संघ के लिए अथवा अपने स्वार्थ के लिये कलह करना।

(१३) **अभ्याख्यान**—जो संघ से अलग हो जाय अथवा जो आलोचना करे उस पर मिथ्या आरोप करना।

(१४) **पेसून**—[चुगली खाना] किसी के पीठ पीछे उसकी झूठी निंदा करना।

(१५) परपरीवाद—भिन्न सम्प्रदाय वाले के बारे में, संघ से अलग होने वाले आदि के बारे मे झूठमूठ अवगुण बताना।

(१६) रति-अरति—संयम मे अरति और असंयम में रति रखना।

(१७) कपट सहित झूठ बोलना।

(१८) मिथ्यात्व—आगम की उपेक्षा करना।

नोट—ऊपर अठारह तरह के पापों की जो बहुत संक्षेप में व्याख्या की गई है उस पर से हम देखेंगे कि इन तेरहपंथियो में ये सभी अठारह पाप हैं। आगे चल कर अलग अलग अध्याय द्वारा इनके आचारो और विचारो का जो परिचय दिया जायगा अथवा यूँ कहिए कि इनके बारे में 'ढोल में पोल' की कहावत की सच्चाई पर प्रकाश डाला जायगा उससे पाठक वृन्द सहज ही समझ सकेंगे कि इन लोगों में कम नहीं, पूरे अठारह पाप हैं और वे भी कम मात्रा में नहीं हैं।

सुयग० श्रु० १ अ० ११ उ० २ सूत्र २९-३० में बताया है कि कितने ही दुराचारी साधु धर्म की विराधना कर के अष्ट-कर्मो के बन्ध के भागी बनते है और संसार में परिभ्रमण करते हैं। जिस तरह टूटी हुई नाव में पानी के रोकने का प्रबंध न होने से अर्थात् पानी घुसने का मार्ग होने से पानी भर जाता है और नाव डूब जाती है। इसी तरह पापकर्म करने वाले अनार्यसाधुओं के पास कर्म-वर्गणाओं को रोकने वाला संयम न

होने से अर्थात् कर्मों के आने के लिये असंयम रूपी मार्ग होने से उसकी आत्मा से कर्मों का बन्धन होता है और होता रहता है जिसका परिणाम यह निकलता है कि उसके जीवन की नौका संसार के भवसागर में डूब जाती है। आज इन तेरहपंथियों की जीवन नौकाओं की यही दुर्दशा हो रही है। हम मंगलमय भगवान से प्रार्थना करते है कि वे इन्हे सुबुद्धि प्रदान करें जिससें ये अपनी नौकाओं को डूबने से बचा ले।

ठा० ठा० ३ उ० ४ सूत्र १४ में बताया है कि तीन तरह के व्यक्तियों को सुमार्ग पर लाना कठिन है। (१) दुष्ट (२) मूर्ख (३) कुगुरुओं के शिकार। तेरहपंथियों में ये तीनों ही बातें हैं, लेकिन क्योंकि सूत्र में शब्द 'कठिन' है 'असंभव' नहीं है इसलिये हमने भगवान से उपर्युक्त प्रार्थना करने में कोई भूल नहीं की है।

साधु की पहचान

आगम की आज्ञाओ के अनुसार साधु की पहचान निम्न बातों से करना चाहिए:—

पाँच महाव्रतों का पालन। तीन 'करण' और तीन 'योग' का शुद्ध भावना के साथ और किसी तरह की माया के बिना अखण्ड पालन। जिन आज्ञा में धर्म, बाहर अधर्म—इसका पूरा पूरा विचार। रात्रि भोजन त्याग। रात्रि में कणमात्र भी स्निग्ध पदार्थ न रखना, न रखवाना, और न रखने वाले को अच्छा समझना। पाँचों आचार का पूर्ण पालन—(१) ज्ञान (२) दर्शन

(३) चरित्र (४) तप (५) वीर्य। पांचों इन्द्रियो पर निम्न प्रकार विजय—[१] शब्द स्वर कैसा भी हो, मधुर, कठोर, अच्छा, बुरा, उसके प्रति राग द्वेष का अभाव [२] मनोहर रूप द्वारा चक्षु इन्द्रिय पर किसी भी प्रकार के आकर्षण रूपी प्रभाव का न होना [३] सुगंध या दुर्गंध के प्रति घ्राण इन्द्रिय को रुचि अथवा अरुचि की प्रवृत्ति न होना [४] रसयुक्त और गरिष्ठ आहार का त्याग; यदि कभी ऐसा आहार मिल जाय तो तपस्या के साथ उसका सेवन, नीरस भोजन [५] मन वचन कायसे छहों काया का शोभनीक वस्त्रों रहित होना अर्थात् देह की छटा या सौन्दर्य के प्रति पूर्ण उपेक्षा। पाँच समिति की तीन गुप्ति पूर्वक अच्छी तरह आराधना। ९ नियमों सहित ब्रह्मचर्य का धर्म पालन। दस विधियों से यति धर्म का पालन। बारह प्रकार के तपों की तपस्या, १७ प्रकार के संयम का आचरण। २२ परिषहों पर विजय। २७ गुणों का सद्भाव। ३३ असातनाओं का अभाव। ४२ प्रकार के दोषों का निराकरण। ४७ दोषों को टालकर आहार सेवन। ५२ तरह के अनाचार का त्याग, बुलाने पर न जाना और साधु के उद्देश्य से बना हुआ भोजन न लेना आदि। ९ प्रकार के वाह्य परिग्रह का मन वचन काय से त्याग। १४ प्रकार के आभ्यंतर अंतरंग परिग्रह का त्याग [१] मिथ्या [२] स्त्री [३] पुरुष [४] नपुंसक (की अभिलाषा) [५] हास्य [६] रति (प्रसन्नता) [७] अरति (अप्रसन्नता) [८] शोक [९] दुर्गच्छा (घृणा) [१०] भय [११] क्रोध [१२] मान [१३] माया [१४] लोभ।

नोट—साधु के लिए बाह्य और अभ्यंतर दोनो प्रकार के परिग्रह को छोड़ना अनिवार्य है। ९ तरह के बाह्य परिग्रह को अनन्त वार छोड़ा जा चुका है, लेकिन उस से कार्य-सिद्धि नहीं हुई अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं हुआ। अभ्यन्तर परिग्रह छोड़े विना बाह्य परिग्रह छोड़ कर कोई सच्चा साधु नहीं बन सकता—वह तो द्रव्यलिंगी साधु ही हो सकता है और जब तक द्रव्यलिंगी साधु भाव-लिंगी साधु नहीं है तब तक वह साधु ही नहीं है —साधु वेषधारी असाधु है। भाव लिंगी साधु बनने के लिए अभ्यंतर परिग्रह का त्याग अनिवार्य है। अतः यह खूब घ्यान रखना चाहिए कि केवल बाह्य परिग्रह के त्याग से कोई लाभ नहीं है अभ्यंतर परिग्रह का त्याग भी आवश्यक है, आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है।

साधु के लिये निम्न बातों का पालन करना आवश्यक है:—

[१] वर्षा की बूँदे गिर रही हों ज़ोर की हवा से धूल उड़ रही हो, पतंगे उड़ रहे हों,उस समय गोचरी नहीं करे [२] समिति पूर्वक मन्दगति से आना जाना (चलना) चाहिए [३] एक एक दिन छोड़ कर—ऐसी धारणा करके—गोचरी के लिए नहीं जाय [४] गृहस्थों के साथी गोचरी के लिए नही आए जाए [५] रास्ते की सेवा मे लाभ बता कर गृहस्थों के साथ विहार नहीं करे [६] रास्ते में सेवा करने वालों का आहार नहीं ले। [७] गृहस्थों के साथ पंचमी (शौच) के लिए नहीं जाए आए। [८] जानबूझकर पूजा सत्कार नहीं कराए। [९] अमुक गाँव का विहार हो—ऐसा पहिले न

कहे, न सोचे और दीक्षा देने का कारण लगाकर एक गाँव में एक महीने से ज्यादह नहीं ठहरना चाहिए और इस तरह चतुर्थमास का एक विहार लगा कर वर्ष में नौ विहार से कम विहार न करे [१०] जिस से वर्तमान या भविष्य काल में कोई आरम्भ (कार्य) हो ऐसा वचन न बोले [११] मोह मोच्छव न करे और ऐसा न कहे कि मोह—मोच्छव अमुक जगह किया जायगा [१२] जब तक रंग, रस, गंध और स्पर्श न बदल जाय तब तक राख का घुला पानी ग्रहण न करे। कोई चीज़ पानी में जब तक पूरी पूरी तरह न घुल-मिल जाय तब तक उसे न ले [१३] अति उष्ण गरमागरम आहार न ले [१४] जानबूझ कर जिव्हा—लोलुपता—पूर्वक सरस आहार न ले और यदि कभी सरस आहार मिल जाय तो फ़ौरन तपस्या करे [१५] शरीर के स्थिर रखने के लिए ही नीरस और रूखा आहार ले [१६] माँडले के पाँच संयोग के दोष स्वाद के लिए न लगावे [१७] अज्ञात कुल की—अपरिचित कुल की—थोड़ी थोड़ी गोचरी करे और इस प्रकार भ्रमर की तरह बहुत से घरों की गोचरी करे [१८] जीमण में आगे पीछे—पहिले या बाद को—न जावे। [१९] स्वाभाविक रूप से मकान आदि खुला मिले तो ग्रहण करे। [२०] साधु के निमित्त से यदि मकान आदि की सफ़ाई हुई है तो उस मकान में न रहे। [२१] संकेतों या भाषा द्वारा दरवाज़े (किवाड़े) बन्द न कराए, न खुलवाए। [२२] संकेत या भाषा द्वारा गृहस्थ से काम न कराए। गृहस्थ से लाई हुई चीज़

अपने ठिकाने पर गृहस्थ को वापिस न करे बल्कि जहाँ से वह चीज़ लाया हो वहीं पहुँचाए (दशवे कालिक सूत्र में बताए हुए १८ पापो में से एक का भी सेवन करे तो साधु भ्रष्ट हो जाता है) [२३] तपस्या में "आमिल" करे तो गृहस्थ को रोटी न चिपड़ने की पहिले से ही सूचना न दे [२४] गरम पानी के अन्दर से निकाला हुआ नीबू, साबुत अमरूद (जाम), अनार, नारंगी, पिस्ता, बादाम, पानी के नारियल का टुकड़ा, ख़रबूजे का पणा, संतरे का पणा, तरबूज़ का पानी आदि का सेवन न करे। [२५] चारो काल के नित्य कर्म नियमित रूप से बराबर उपयोगपूर्वक करे। [२६] उपयोग सहित लोलुपता भाव न रखे। [२७] ग़रीब का मालदार (धनवान) से ज्यादह आदर न करे, समभाव से बरताव करे। [२८] स्थानक मे कोई गृहस्थ दर्शनों के लिए जाय और वहाँ वह आहार के लिए कहे तो उसके यहाँ आहार के लिए न जाय। [२९] भाषा द्वारा श्रावक को दलाली करने के लिए कोई काम न बताए। [३०] देश-विदेश में विचरने वाला साधु चिट्ठी या तार से गृहस्थ द्वारा आई हुई आचार्य की आज्ञा को न माने—उस पर अमल न करे। [३१] चूल वाले किवाड़ को रजोरहण की डंडी से ज़रा भी न खोले। [३२] बिना चिंतवन के १२ कुल की गोचरी करे, बिना चिंतवन के जावे, सूचना देकर गोचरी के लिए न जावे। [३३] जिस मकान में साधु ठहरा हुआ हो उसके मालिक का नाम मालूम कर के गोचरी के लिए जाना चाहिए; क्योंकि उसके यहाँ आहार

लेना ग्राह्य नहीं है। दूसरी जगह ठहर कर उस मकान-मालिक के यहाँ आहार लेने की प्रथा ठीक नहीं है—दोषयुक्त है। (३४) सच्ची-झूठी-मिली-हुई भाषा न बोले। (३५) शंका के साथ न बोले—निःशंक होकर बोले। (३६) बिना संकेत के पूरी छानबीन (खोज) करे। (३७) कोई कारण लगा कर हाथ मुँह का स्नान न करे (३८) कोई कारण लगा कर नित्य पिंड [एक घर से रोज़ लेना] और रोज़ एक घर से ही धोवण-पानी न ले। (३९) टट्टी की इच्छा के बिना पानी में पंचमी के लिए न जावे। (४०) तीन हथेली (पुसली) (चुल्लू), से अधिक पानी से टट्टी न धोवे। (४१) डरपोक न होवे। (४२) चौमासा यहाँ किया जायगा—ऐसा पहिले न कहे। (४३) गधे की तरह गोचरी न करे अर्थात् एक घर से ज्यादह आहार न ले। (४४) दीपक वाले मकान में न रहे। (४५) अधपका [अपरिपक्व] शाक न ले। (४६) गृहस्थ का संदेश मान कर कोई काम न करे। (४७) प्रमाण से अधिक आहार न करे। (४८) प्राप्त काम-भोगों का त्याग करे। (४९) आगे पीछे दान की प्रशंसा न करे। (५०) सूर्योदय से पहिले प्रति-लेखना न करे। (५१) जो दोष लग गया हो उसकी शीघ्र आलोचना करे। (५२) हींगलू एक धातु है उसे न रखे और कपड़े में भिगोई हुई स्याही, रोगन, वार्निश जिस में तेल पड़ा करता है और चावलों के माँड से बनी हुई जिल्द पट्ठा भी न रखे। (५३) पात्र को न रँगे। (५४) भावनापूर्वक परिग्रह रखने का उपदेश न करे। (५५) जीमणवार ज्यौनार का आहार ग्रहण

न करे। (५६) चलते समय न बोले। (५७) पुराना कपड़ा भी न धोवे और तेल, घी आदि न लगावे। (५८) चोट या फुँसी या गूमड़ा पर लुपरिया पुल्टिस या मरहम आदि लगा कर रात्रि में बासी न रखे [यह निशीथ सूत्र के उ० ३ में त्याज्य है]। (५९) सेवा में आगे आगे चलने वाला नौकर न रखे। (६०) गृहस्थ से न कुछ सीखे, पढ़े और न सिखाए पढ़ाए। (६१) भाषा समिति-द्वारा कोई काम करने के लिए न समझावे। (६२) सुदृढ़ साधु तीन पात्र न रखे, [सूत्र के अनुसार सतवीर साधु ही तीन पात्र रख सकता है]। (६३) चोट आदि को न कुरेदे या फोड़े (यह निशीथ सूत्र आदि में त्याज्य है) (६४) घोप मार्ग मे आर्यिका के लाये हुए आहार का सेवन न करे (६५) आचार्य के कपड़े की प्रतिलेखना न कराए; आचार्य साधु से लेख द्वारा त्याग न कराए (६६) आचार्य उस साधु को जो तीन दोषों से अधिक सेवन कर चुका है, निकाल दे। (६७) होठो पर रोम न आए ऐसी छोटी उम्र वालों को शास्त्र न सिखाए, [यह निशीथ सूत्र के १९ उ० में त्याज्य है] (६८) प्रत्येक साधु को स्वयं रात में शौच के लिए जाने के लिए दिन में तीन जगह देख रखना चाहिए। (६९) चिकित्सा न कराए। [चिकित्सा कराना इक्कीसवाँ अनाचार है] (७०) अशुचि के बिना रजोहरण आदि न धोए (७१) आचार्य उपाध्याय के अतिशय के लिए कपड़े न धोए (यह बात ठा० ठा० के पाठमें नहीं है, पर टीका में इसका उल्लेख हुआ है, लेकिन टीका की यह

बात मानने योग्य नहीं है। ठीक यही है कि कपड़े नहीं धोने चाहिए)। (७२) मर्यादा से बाहर वस्त्र और पात्र न रखे (नोट— [आचार्य और साधु के लिए समान नियम है।] (७३) किसी साधु के देहान्त से उसका रजोहरण पुणजणी बढ़ जाय तो उसे डेढ़ महीने से अधिक पास न रखे। (७४) नेना (सिघाड़ाबंध) साधु एक चिरमली रखे, इस से दूसरा उपकरण न बनाए। (७५) ग्राम, नगर, कोट के अन्दर बाहर का आहार मिला कर न लें। (७६) मंत्र, तंत्र, डोरा न कराए। (७७) साध्वी चौरास्ते पर या प्रसिद्ध जगह में न रहे। (७८) सल्लेखना (संथारा) आदि के कारण बिना घर जाकर दर्शन न देवे। (७९) जहाँ गृहस्थ के स्त्री आदि का निवास हो वहाँ उनके मध्यागृह में न रहे। (८०) जहाँ स्त्री बैठी हो उस जगह उसके उठने के एक मुहूर्त्त बाद बैठे। (८१) तीन घर से सामने लाकर कोई भी चीज़ देवे तो न लेवे। (नोटः—तिदरी तक में भोजन लेना बताया है)। (८२) एक घर को २-३ बार आहार लेने के लिए न जाए। (८३) किनारी फाड़ कर साबुन थान न रखे। (८४) विशेष कारण बिना पहिले पहर की दवाई चौथे पहर में गृहस्थ की आज्ञा से उपयोग में न लाए। (८५) दर्शन की प्रतिज्ञा न कराए। (८६) छः दंडी के दान का निषेध कर के कह कर त्याग न कराए।

भिक्षुजी की गाथा

गुरु ने देख दोष लगावे तो। तुरत करे निकालो जी लाला लोलो कर उठे नहीं॥ या जिन शासनरी पालोजी। भगवन्त भाख्या श्रावक ये हवा॥१॥

आंबासु लिव स्याय। सिंचे धतुरो आय आसमन अति घणीए आम्ब लेवण तणीए ॥७॥
आम्ब गयो कुमलाय धतुरो रयो दृढाय जायने जोवे जर ए नयणा नीर झरेए ॥८॥
दुरणु चरो मग्गो विरणं अणि यह्र गामीणं ॥ (आचार ढुकर बताया;)

॥ आचा० श्रु० १ अ० ४ उ० ४ सू० ३ ॥

अध्याय : ४

स्थापन दोष (थापना दोष)

प्रश्न:—(क) वर्तमान तेरहपंथी आचार्य तुलछीरामजी और आज्ञाधारी साधुओं का यह कथन है कि यदि साधु की भावनार्थ साधु के उद्देश्य से गृहस्थ एक दो दिन या अधिक समय के लिए चारों प्रकार के आहार वस्त्र, पात्र, पाट पाटलादिक अनेक पदार्थ रखे या पाट पाटलादिक को कमरे से बाहर निकाल कर—स्थानान्तर करके—रखे तो कोई दोष नहीं है। क्या उनका यह कथन सत्य है?

(ख) शास्त्र में मूर्च्छा को ही परिग्रह बताया गया है। इन तेरहपंथियों को यह मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह है या नहीं?

उत्तर:—उपर्युक्त प्रश्न के क भाग का उत्तर 'नहीं' और ख भाग का उत्तर 'हाँ' में है। विस्तारपूर्वक समझाने के लिए निम्न विवरण है:—

(क) भिक्षुजी का कथन है:—

" श्रावकरे सचित्त अचित्त द्रव्य सगलाई ।
गृहस्थ के परिग्रह मांही कह्यो उववाई उपांग मये वली सुयंग मये रख्या लागे कर्म रखाया पिण नहीं जिन धर्म तिनो करण सारखा ये किज्यो पारखाए ।।

एक दोष सेवे कोई साध, ते संजम दियो विराध तिणने गुरु जाणने वान्दे कोई, ते तो अनन्त संसारी होई । घणा दोष सेवे साक्षात्, तिणने गुरु जाणीने वान्दे दिन रात ते तो अज्ञानी बाल, रुड़सी के तेइ काल ।। "

भिक्षुजी के उपर्युक्त कथन के अनुसार जो द्रव्य साधु के उद्देश्य से रखा गया है उसे ग्रहण करना साधु के लिए दोष है। पाट पाटलादिक सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में यही बात है। साक्ष सूत्र दशवै० अ० ४ के अनुसार षट जीवनी काय की हिंसा का त्याग पाँच महाव्रत और रात्रि भोजन त्याग अनिवार्य हैं, अतः उद्दिष्ट भोजन अथवा अन्य कोई उद्दिष्ट पदार्थ साधु के लिए मन वचन काय से त्याज्य हैं। वैसा ही प्रश्न व्या० संवरद्वार १ सू० ५ में भी त्याज्य बताया है।

वस्त्र और पात्र के अध्याय १४ में शास्त्रीय प्रमाणो तथा सच्ची घटनाओं के आधार पर से पाठकों को भलीभाँति मालूम हो जायगा कि इन तेहरपंथी साधुवेषियों में कितनी मूर्च्छा है। अन्य अध्यायों में भी उनकी जिव्हा-लोलुपता आदि का जो परिचय दिया गया है उससे शरीर के प्रति इन लोगों का मोह तथा अन्य हर प्रकारकी मूर्च्छा का परिचय मिल सकता है। अतः

यहाँ विस्तार रूप से इस विषय में प्रकाश डालना उपयुक्त नहीं है। यहाँ तो इतना कह देना ही काफी है कि तेरहपंथी साधु-वेषियों में मूर्च्छा है और वह मूर्च्छा खूब गहरी है—गृहस्थ की मूर्च्छा से किसी तरह कम नहीं है, बल्कि शायद एक सद्गृहस्थ से ज्यादह ही है।

निम्न प्रश्नावली द्वारा यह बात पाठकों को समझ मे भली भाँति आ जायगी —

१ (क) **प्रश्नकर्ता** (महावीर पंथी):—प्रथम महाव्रत मे देव गुरु धर्म के लिए हिंसा करना, कराना या करनेवाले को अच्छा जानना गर्भित है या नहीं अथवा इस का उस से कोई मेल है या नहीं ?

उत्तरदाता (तेरह पंथी):—नहीं, नहीं।

(ख) **प्रश्न**—देव गुरु धर्म के लिए भाषा अथवा संकेतों द्वारा जो हिंसा करे, करावे और करनेवाले को अच्छा जाने तो उसे क्या कहना चाहिए ?

उत्तर—मिथ्या-दृष्टि।

२ (क) **प्रश्न**—दूसरे महाव्रत में देव गुरु धर्म के लिए मिथ्या वचन बोलना, बुलाना या बोलनेवाले अच्छा जानना गर्भित है या नहीं, अथवा इस का उससे कोई मेल है या नहीं ?

उत्तर—नहीं, नहीं।

(ख) **प्रश्न**—देव गुरु धर्म के लिये भाषा अथवा संकेतों द्वारा कोई मिथ्या वचन बोले, बुलवाए या बोलनेवाले को अच्छा जाने तो उसे क्या कहना चाहिए ?

उत्तर—मिथ्या-दृष्टि ।

३ (क) **प्रश्न**—तीसरे महाव्रत मे देव गुरु धर्म के लिए आचार आदि की चोरी करना कराना या करनेवाले को अच्छा जानना गर्भित है या नहीं ? अथवा इसका उस से कोई मेल है या नही ?

उत्तर—नहीं, नहीं ।

(ख) **प्रश्न**—देव गुरु धर्म के लिए भाषा अथवा संकेतों द्वारा कोई आचार आदि की चोरी करे, कराए अथवा करनेवाले को अच्छा जाने तो उसे क्या कहना चाहिए ।

उत्तर—मिथ्या-दृष्टि ।

४ (क) **प्रश्न**—चौथे महाव्रत में देव गुरु धर्म के लिए आचार कुशील का व कुशील का सेवन करना, कराना, सेवन करनेवाले को अच्छा जानना गर्भित है या नहीं ? अथवा इस से उसका कोई मेल है या नहीं ।

उत्तर—नहीं, नहीं ।

(ख) **प्रश्न**—देव गुरु धर्म के लिए भाषा अथवा संकेतों द्वारा कोई आचार-कुशील का सेवन करे, करावे या सेवन करनेवाले को अच्छा जाने तो उसे क्या कहना चाहिए ।

उत्तर—मिथ्या-दृष्टि ।

५ (क) **प्रश्न**—पाँचवे महाव्रत मे देव गुरु धर्म के लिए परिग्रह रखना, रखाना, रखनेवाले को अच्छा जानना गर्भित है या नहीं अथवा इसका उससे कोई मेल है या नहीं ?

उत्तर—परिग्रह रखना तो महाव्रत में गर्भित नहीं है और न उसके अनुकूल ही है लेकिन रखने की बात भिन्न है क्योंकि यदि साधु के लिए गृहस्थ द्रव्य न रखे तो वह साधु की भावना किस तरह भावे ! कैसे काम चले ?

(ख) प्रश्न—साधु की भावनार्थ गृहस्थ आसणादिक चार प्रकार के आहार, वस्त्र, पात्र तथा अन्य द्रव्य एक दो दिन या अधिक समय के लिए रखे अथवा पाट पाटलादि कमरे से बाहर—स्थानान्तर करके— रखे तो उसे क्या कहना चाहिए ?

उत्तर—साधुभक्त श्रावक, सद्गृहस्थ। गृहस्थ साधु की भावनार्थ एक दो दिन या अधिक समय के लिए (जितने भी समय के लिए वह चाहे) कोई भी द्रव्य या अनेक द्रव्य रखे तो इस में दोष नहीं है। पाट पाटलादि को कमरे से बाहर—स्थानान्तर कर के—रखने में भी कोई दोष नहीं है। भिक्षुजी ने श्रावक के बारहवें व्रत की ढाल में कहा भी है —"खप करी राखे सुव्रतो"।

भिक्षुजी ने बारह व्रत की ढाल मे वर्तमानकाल का उपदेश करते हुए "खप करी राखे सुव्रतो"—ऐसा कहा है। श्रावक अपने जीमने (भोजन करने) के समय जब बैठे, जब उसके निमित्त से परोसी हुई थाली उसके सामने आवे, उस समय श्रावक यह भावना करे कि यह वस्तु मेरे लिए बनी है, मेरे अव्रत में है, परिग्रह मे है, पाँचवाँ पाप है, सावद्य योग है, उसे रखना मेरी कमजोरी है, अव्रत में उसका सेवन करना मेरा दौर्बल्य

है, और उस समय अपनी आत्मा के कल्याण के लिए १०-२० मिनिट या एक दो घंटें के लिए भावसहित स्वतः निरन्तर यह भावना भावे कि मेरे भाग्योदय से—मेरे शुभ कर्मों के उदय से—कोई सुपात्र साधु अतिथि पधारे और चित्त, वित्त व पात्र तीनों का शुद्ध योग मिलने से बारहवें व्रत का पालन हो तो यह धन्य दिवस है, धन्य घड़ी है। ऐसे समय के लिए ही भिक्षुजी ने "खप करी राखे सुजतो" का कथन किया है। "खप करी राखे सुजतो" का अर्थ है—"द्रव्य शुद्ध है ही"। भिक्षुजी ने इसी उद्देश्य से ऐसा कहा है, नहीं तो वे ऐसा क्यों फ़रमाते कि आसणादिक चारों आहारों को रखना, रखाना कर्म-बन्धन का कारण है। भिक्षुजी के ऊपर मिथ्या आरोप करना एक दीर्घ संसारी का ही काम हो सकता है। शुद्ध आत्मा जिन वचनों के अनुकूल होती है, मिथ्या-दृष्टि उसकी खींचातानी करते हैं। तेरहपंथी इस खींचातानी में जीरण सेठ की घटना का हवाला देते हैं। एक तो जीरण सेठ की घटना का उल्लेख सूत्रों में नहीं है, यह ग्रन्थकार की अपनी रचना है। दूसरे, जीरण सेठ ने अपने लिए तय्यार हुए पदार्थ की "निरवद्य भावना" भाई थी, परन्तु द्रव्य रखकर ऐसा न किया था। जीरण सेठ की घटना को लेकर उसे ग़लत रूप में प्रकट करके अपनी बात का समर्थन करना न्याय विरुद्ध है, मिथ्या है। चार महाव्रतों का वर्णन एक सरीखा करना, लेकिन पाँचवें महाव्रत के विवेचन में अगर, मगर, लेकिन, नहीं तो, आदि लगाकर दूसरी तरह से—बिलकुल नए ढंग से—उसका प्रतिपादन करना कितनी साफ़ धोके-बाज़ी है। पाँचों महाव्रतों की मान्यता एक सरीखी है और होनी

चाहिए। अतएव उनका प्रतिपादन भी एक-सा ही होना चाहिए। तेरहपंथी मन ही मन में अपना यह सफ़ेद झूठ अवश्य समझते और मानते होंगे। दिल में छिपी हुई चोरी प्रकट हो ही जाती है। रोज़ सुबह शाम प्रतिक्रमण में साधु कहता है कि आसणं, पाणं, खादीमं, स्वादिमं; कणमात्र भी स्निग्ध पदार्थ रात्रि में रखा हो, रखाया हो या रखनेवाले को अच्छा जाना हो तो यह अतिचार है, जिसके लिए "मिच्छामि दुःकड़ं" लेते हैं, जिसके लिए प्रायश्चित करते है। लेकिन पहिली ही क्षुधा-परिषह के वश में होकर खाने के लोलुपी गलत ढंग से प्रतिपादन करते हैं। प्रतिक्रमण में "गोयर चरियाए" की पाटी में यह भी आता है जिसके अनुसार साधु अपने निमित्त से स्थापित किया हुआ—रखा हुआ—पदार्थ ले तो उसके लिए "मिच्छामि दुःकड़ं" लेते हैं। तेरहपंथी जिस पाठ को रोज़ पढ़ते हैं, उसीके विरुद्ध आचरण करते हैं। यह अज्ञानता है या दुराग्रह? श्रुतकेवली बनने का दावा और अपनी ही भाषा में ऐसा कोरापन। समझदारी का तो दीवाला ही निकाल दिया। बलिहारी है ऐसी बुद्धि की।

देखिए, दीक्षा लेते समय पंच महाव्रत की प्रतिज्ञा का वर्णन इस तरह किया जाता है:—

"आहावरे पंचमे भन्ते महव्वए परिग्गहाउं वेरमणं। सव्व भन्ते परिग्गहं पच्चक्खामि, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलंग वा चित्त मन्तं वा अचित्त मन्तं वा। नेव सयं परिग्गहं परिगएहंज्जा, ने वन्नेहिं परिग्गहं परिगएहा वेज्जा

परिग्गहं परिगण्हन्ते वी अन्ने न समणुजाणेज्जा, जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न करावेमि करेन्ता पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भन्ते पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि; पंचमे भन्ते महव्वए उवट्ठिओमि। सव्वाउ परिग्गहाउ वेरमणं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अ० – अब, अ० – दूसरा, प० – त्यागा, भ०भगवान, म० – महाव्रत, प० – परिग्रह, वे० – छोड़ता हूं। स० – सब प्रकार, भ० – भगवन्त, प० – परिग्रह, प० – त्याग करता हूं। से० – उसका स्वरूप बताते हैं, अ० – अल्प (कीड़ी आदि), वा० – और, ब० – ज्यादह (एरंडकाष्टादिक), वा० – फिर, अ० – छोटा वज्र (हीरादिक), वा० – अथवा, थू० – वड़ा (हस्ती आदि), वा० – फिर, चि० – सजीव (शिष्यादिक), वा० – और, अ० – निर्जीव (वस्त्रादिक), वा० – फिर, ने० – कभी नही (न० – न, एव० – कभी), स० – स्वत, प० – परिग्रह, प० – नही रखता हूँ, ने० कभी (न – न, एव – कभी) अ० – दूसरा पास, प० – परिग्रह, प० – नही रखता हूं, प० – परिग्रह रखता हो, वि० – फिर, अ० – अन्य रखता हो, न० – नही, स० – अच्छा जानता हूं, जा० – जब तक, आत्मा शरीरमें हैं वहाँ तक, ति० – तीनो प्रकार (त्रिविधे), ति० – त्रिविधे, म० – मन से करना या वचन से कराना, का० – काया से; न० – रखूँ नही, क० – रखता हूं, न – नही, क० – रखाता हूँ, क० – अन्य रखते, पि० – प्रत्ये, अ० – दूसरे को, न – नही, स० – अनुमोदन करता हूँ, त० – इसलिए, भ० – हे पूज्य, प० छोड़ता हूँ, ग० – ग्रहण करता हूं, अ० – आत्मा को पाप से, वो० – अलग करता हूं, पं० – पाँचवाँ, भ० – हे भगवन, म० – महाव्रत के विषय में, उ० – सावधान हुआ, स० – सव प्रकार के, प० – परिग्रह, वे० – छोड़ता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—गुरु कहते हैं कि परिग्रह को छोड़ दे। तब शिष्य कहता है, "हे पूज्य, मै सब प्रकार से परिग्रह का त्याग करता हूँ परन्तु पहिले साधुने जैसा किया होगा मैं वैसा ही करूँगा"। गुरु दूसरे साधु के त्याग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, जिस की क़ीमत कम, वज़न कम (कौड़ी-प्रमुख), वज़न ज्यादह क़ीमत कम (काष्ट प्रमुख), वजन कम कीमत ज्यादह (वज्र हीरा प्रमुख) वज़न ज्यादह क़ीमत ज्यादह (हाथी प्रमुख) सचित्त (शिष्य प्रमुख) और जो अचित्त (निर्जीव) वस्तु है उसे वह नहीं रखता है, दूसरे से नहीं रखाता है, और कोई रखता हो तो उस को अच्छा नहीं जानता है। तब शिष्य कहता है, "हे पूज्य, मैं भी ऐसे परिग्रह का त्याग करता हूँ, जब तक शरीर में आत्मा है, तब तक के लिए मन वचन कायपूर्वक परिग्रह को छोड़ता हूँ—परिग्रह नहीं रखूँगा, न रखाऊँगा और कोई रखेगा तो उसे अच्छा नहीं जानूँगा, पहिले जो परिग्रह रखा था गुरु को साक्षी कर के उसकी निंदा करता हूँ—उसे बुरा समझता हूँ और परिग्रह को आत्मा से दूर करता हूँ। हे पूज्य, मैं पाँचों महाव्रतों के विषय परिग्रह को छोड़ने के लिए सावधान हो गया हूँ"।

टीका—परिग्रह रखूँ नहीं, रखाऊँ नहीं और रखने को अच्छा नहीं जानूँ, परिग्रह का मुझे नव कोटि त्याग है, दीक्षा लेते समय ऐसा कहनेवाले तेरहपंथियों से कोई पूछे कि क्या वे सचमुच परिग्रह का ऐसा त्याग करते हैं। उन्होंने अपनी इन्द्रिय-लोलुपता के कारण त्याग का नाम कर रखा है, पर उनके जीवन

में त्याग का नाम भी नहीं है, आत्मवंचना है, ढोंग हैं, अपने और दुनिया के प्रति मायाचारी है। खेद तो इस बात का है कि इन साधु-वेषियों के जीवन मे त्याग का लवलेश भी नहीं है फिर भी अन्ध-भक्त—ऐसे अन्धे भक्त जिन को आँखें होते हुए भी दिखाई नहीं देता है जो बुद्धि के अन्धे हैं—उनकी पूजा करते है; उन्हें साधु समझ कर खुद धोका खाते है और दूसरों को धोका देते हैं। निःपक्षता पूर्वक विचार करने की शक्ति न होने से वे साधु असाधु की परीक्षा नहीं कर पाते, बस जिस को साधु के वेष में देख लिया जिस पर साधुत्व का साइन बोर्ड लगा देख लिया, उसी की पूजा करने लग जाते हैं। यह कैसी विडम्बना है? यह कैसी दयनीय मूर्खता और विवेक-शून्यता बल्कि जड़ता है?

रोग़न (वारनिश) गाढ़ा होने से उस में अपने हाथ से तेरहपंथी साधु-वेषी असाधु तेलादिक मिला कर रखते हैं (ऐसा करने वालों को सूत्र में असाधु बताया गया है)। ये लोग जिल्द [पट्ठा] खलता आदि को चावल के माँड से—लेही [चिकी] से—बना कर काम में लेते हैं। ये लोग रजोहरण और उसकी डंडी गोछा गच्छा कपड़ा आदि मणी बन्द वज़न से रखते हैं। पूछने पर कहते हैं कि यह तो राज का है। इससे यह पता चलता है कि 'राजेश्री सो नर केशरी' की कहावत इन के सम्बन्ध में उपयुक्त है।

चोट आदि के लिए ये लोग मरहम (मल्लम). आदि तेल २ या ३ दिन तक के लिए रखते है जब कि सूत्रों में इसका स्पष्ट निषेध है। निशी उ० १६ में बताया है कि प्रमाण से अधिक रखने में चौमासी दंड होता है। देखिए:—

पाठ—"विड मुब्भे इमं लोणे तेल्लं सप्पिं च फाणियं।
नते सन्निहिं मिच्छन्ति नायपुत्तं-वओ-रया ॥ १८ ॥
लो भस्से सणुफोसे मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्नि ही कामे गिही पव्वइए न से ॥१९॥
दश० अ० ६ सू० १८ व १९

शब्दार्थ—वि० – गोमूत्र से पक्का नमक, उ० – समुद्रादिक का नमक, प्रासुक, अप्रासुक, इ० – अप्रत्यक्ष, लो० – नमक, ते० – तेल, स० – घी, च० – फिर, फा० – ढीला गुड़, न० – नही, ते० – वे साधु, स० – रात्रि में बासी रखना, ई० – वांछे, ना० – श्री० महावीर, व० – वचन का विषय, र० – अनुरक्त हो, ॥ १८ ॥

लो० – बासी रखने वाला लोभ वश, ए० – अप्रत्यक्ष, अ० – अनुभव जानना, म० – ऋषभ आदि तीर्थंकर, अ० – दूसरा, वि० – परन्तु, जं० – कोई भी, सि० – होवे, स० – बासी रखने का, का० – अभिलाषा, गि० – गृहस्थ, प० – कही, न० – नही, से० – वे साधु ॥ १९ ॥

भावार्थ—जिस को श्री महावीर स्वामी के वचनों के ऊपर श्रद्धा है वे नमक (सचित्त), अचार, तेल, घी, गुड़ आदि वस्तुओं को रात्रि में बासी नहीं रखते ॥ १७ ॥

लोभवश अगर ज़रा भी वस्तु बासी रखे उसे साधु नहीं समझना चाहिए। और ऐसा साधुवेषी जो बासी रखता है साधु

तो है ही नहीं, गृहस्थ भी नहीं है, उसे गृहस्थ भी नही कहना चाहिए। क्योंकि गृहस्थ के सिर और देह पर तो पगडी आदि वेष रहता है जब कि इसके यह वेष नहीं है।

विशेष प्रमाण के लिए देखिए—

(१) निशीथ उ० ४ सू० २४ मे बताया है कि साधु के देनेके उद्देश्य से आशनादि आहारों की स्थापना हुई हो, तो बिना छान-बीन और खोज के जो घर में प्रवेश करे, कराये, करने को अच्छा जाने तो उसे लघुमासिक प्रायश्चित लेना चाहिए।

(२) दशवे अ० १० सू० ८ व अ० ६ सू० १९ में कहा गया है कि जो आसणादिक चार आहार का संचय नहीं करे, नहीं कराए और करने को अच्छा नहीं जाने वही साधु है। और जो करता है वह गृहस्थ है, परन्तु दीक्षित नहीं है।

(३) सुय० श्रु० प्र० खस्म० अ० १३१ सूत्र २ मे कहा गया है कि आरंभ परिग्रह दोनों कर्म-बन्ध के कारण है। जो स्वतः परिग्रह रखे, रखाए और रखने को अच्छा जाने उसके लिए दुख से छुटकारा नहीं है।

(प्रश्न व्या० सम्वर द्वार २ अ० ५ सू० ९ में तो मर-णान्तक कष्ट में भी औषधि-चूर्ण रखने का निषेध किया है।

पाठः— जे भिक्खु टवणा कुलाइं अजाणि यं अपुच्छियं अगवेसियं पुव्वमेव पिंडवाय पडियाए अणु-पविसई, अणुपवि संतं वा सइज्जइ ॥२४॥

(निशी० उ० ४, सूत्र २४)

भावार्थः—गृहस्थ के घर में साधु के देने योग्य आहारादिक की स्थापना कर रखी हो और साधु साध्वी बिना जाने पूछे बिना गवेषणा के वहाँ आहार के लिए प्रवेश करे, प्रवेश करने को अच्छा जाने तो उसके लिए लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

टीकाः—उपर्युक्त पाठ के अनुसार साधु की भावनार्थ आमणादिक कोई वस्तु जिस घर मे स्थापित की हुई हो तो बिना तपास और खोज किए उस घर में प्रवेश करना और प्रवेश करने को अच्छा जानना पाप बताया है और उसके लिए प्रायश्चित का विधान किया गया है। जब प्रवेश तक करना पाप है तो उसे लेने—ग्रहण करने—की बात का तो कहना ही क्या, वह महापाप हुआ।

और देखिए—

पाठः—"तं हेव आसणं पाणगं वा विविहं खाइम साइमं, लभिता। 'हां ही अट्ठो सुए परे वा' तं ननिहे न निहावए जे स भिक्खु" ॥८॥

(दशवे० अ० १० सू० ८)

शब्दार्थः—तं० — वैसा ही, अ० — आसण, पा० — पान, वा० — फिर, वि० — अनेक प्रकार के, खा० — मेवादिक, सा० — स्वादिम, ल०— प्राप्त हुये। हां० — मन मे चितवन करे कि यह हो, अ० — अर्थ, सु० — कल अथवा (प०) परसों काम पड़ेगा, वा० — फिर, त० — वे आहारादिक ऐसा जानकर, न० — नहीं, नि० — बासी रखे, न० — नहीं, नि० — बासी रखाए (बासी रखने का अनुमोदन न करे), जे० — जे, स० — वो, भि० — साधु ॥८॥

भावार्थः--जो विविध प्रकार अशनं, पान, खादिम, स्वादिम प्राप्त करके, कल अथवा परसों काम पड़ेगा--ऐसा विचार करके, उसको संचय नहीं करता है, अन्य से सचय नहीं कराता है और करने वाले को अच्छा नहीं जानता है, वही साधु है ।

टीका :--यहाँ बताया है कि जो स्वयं संचय नहीं करता, न दूसरे से कराता है और न करने वाले को अच्छा जानता है उसे यहाँ साधु बताया गया है । तेरहपंथियो का प्रतिपादन तो स्पष्टतः जिन वचन और भिक्षुजी के कथन के सर्वथा विरुद्ध है । भिक्षुजी के कथन को अपनी स्वार्थ--सिद्धि के लिए ग़लत तरह से पेश करते है । भिक्षुजी ने तो एक दोष के सेवन करने वाले को भी असाधु बताया है, लेकिन ये तेरहपंथी तो अनेक दोषों का सेवन करते हैं । देखिए:--

" न हु पाण वहं अणु जाणे, मुच्चेज कयाइ सव्व दुक्खाणं । एवायरिए हिं अक्खायं, जेहिं इमो साहु धम्मो पण्णंतो ॥ ८ ॥

उ० अ० ८ सूत्र ८

शब्दार्थ :--हु० -- निश्चय, पा० -- प्राणवध आदि, न० -- अनुमोदन करे, हु० -- निश्चय, हं० -- अनजानमें हिंसा का अनुमोदन करे, मु० -- मुक्त, कया० -- निवारपणी, सव्व० -- सब दुखो से न छूटे, स० -- सब दुख, ए० -- ऐसा, आ० -- आचार्य, अ० -- बताया, जे० -- येणे, ई० -- यह, सा० -- साधु का, ध० -- धर्म, प० -- प्रतिपादन किया ॥८॥

भावार्थः—प्राणवधादिक पाँच तरह के आश्रव का जो अनुमोदन करता है, वह दुःखों से कभी छुटकारा नहीं पा सकता, ऐसा तीर्थंकर भगवान ने बताया है।

विज्ञ पाठकगण विचार करें कि परिग्रह रखने में दोष न बताने वाले ये तेरहपंथी तीर्थंकर के कितने अनुयायी हैं और इन को दुःखों से कैसे मुक्ति प्राप्त हो सकती है। ये तो कर्म-बन्धन करते रहते हैं, पापों के भागी होते रहते हैं, भला इनको मोक्ष प्राप्त हो सकता है, ये संसार-सागर से तर सकते हैं? कदापि नहीं।

पाठ—"न सो परिग्ग हो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा, मुच्छा परिग्ग हो वुत्तो इअवुत्तं महेसिणा ॥ २१ ॥

--दशवै० अ० ६ सूत्र २१

शब्दार्थः—न०—नहीं, सो०—वह (ममता रहित वस्त्र आदि रखते), प०—परिग्रह, उ०—कहा (कौन, किसने) ना०—वर्धमान स्वामी, ता०—षटकाय की रक्षा करने वाले, मु०—मूर्च्छा (ममता से वस्त्र आदि उपकरण रखें तो), प०—परिग्रह, उ०—बताया, इ०—ऐसा, उ०—कहा, म०—महाऋषि ॥२१॥

भावार्थ—ज्ञातपुत्र श्री० महावीर स्वामी ने इन पात्रादिक धर्मोपाधि को परिग्रह नहीं कहा है; परन्तु महर्षियो ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।

पाठ—उसिणं परियावणं परि दाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परियावेणं सायं नो परिदेवए ॥ ८ ॥

—उत्त० अ० २ सूत्र ८

शब्दार्थ—उ० – उन्हें, प० – पृथ्वी आदि, प० – अति, या० – ताप से, प० – अभ्यन्तर और बाह्य उत्पन्न हुई अग्नि, त० – पड़ा, घि० – ग्रीष्म ऋतु का, वा० – शीत काल का, प० – तपे सूर्य की किरणे पड़े, सा० – प्रसन्नता, नो० – नही इच्छा करे कि शरीर को शान्ति हो ॥८॥

भावार्थ—शीत काल के पश्चात् उष्ण काल आए, तब उसकी उष्णता को सहन करना उष्ण परिषह है। ग्रीष्म ऋतु में उष्ण भूमि आदि के अताप से और पसीने मैल आदि के कारण साधु मन मे भी ऐसी इच्छा न करे कि वर्षा हो जाय, ताकि गरमी का कष्ट दूर हो जाय और चैन मिले।

नोट—ऊपर परिग्रह की व्याख्या करते हुए बताया गया है कि मूर्च्छा ही परिग्रह है। परिग्रह का सम्बन्ध वस्त्र पात्रादि वस्तुओं से तथा आहारादि से नहीं है, बल्कि इन के मोह से है।

ये तेरहपंथी लोग मन मे तृष्णा रखते है और उस तृष्णा को बुझाते भी हैं, लेकिन ऊपर ही ऊपर शब्दो आदि से ऐसा ढोंग करते है मानो उन्हें कोई तृष्णा ही नहीं है, कोई मोह ही नहीं है। उदाहरण के तौर पर देखिए। जब ये लोग कहीं ऐसे मकान में होते हैं जहाँ किवाड़ें बन्द रहने के कारण हवा नहीं होती है तो ये कहते हैं कि यहाँ तो हवा नहीं है। श्रावक गण इस पर किवाड़ें खोल देते हैं ताकि हवा आने लगे। इस पर वे कुछ नहीं कहते है और इस तरह अपनी इच्छा को पूरी कर लेते हैं। यह है इन लोगों की तपस्या। मुँह से नहीं कहते कि किवाड़े खोल दो तो क्या हुआ, मन से तो कह देते है। असली कहना तो मन

का है। पाप पुण्य का सम्बन्ध मन से ही तो है। 'यहाँ तो हवा नहीं है' इन शब्दों मे छिपी इच्छा यह है कि यहाँ हवा आनी चाहिए और इस तरह ये लोग शब्द-जाल द्वारा अपने मन को ठगते हैं, अपने को नीचे गिराते हैं। ज्यादह हवा होती है और ये कम हवा चाहते हैं तब भी ये लोग इसी तरह अपना काम चलाया करते हैं। इस तरह ये लोग भिक्षु का वेष धारण करते हुए भी भिक्षु नहीं हैं। देखिए—

(१) दशवै अ० १० सूत्र १६ में बताया है कि जो वस्त्र पात्र प्रमुख उपाधि मे मूर्च्छा-रहित, किसी स्थान मे आसक्ति-हीन द्रव्य-भाव-संगति रहित है, वही भिक्षु है।

(२) सुयड० प्र० श्रु० अ० २ उ० १ सूत्र ९ मे कहा गया है कि बारह परिग्रह त्यागी, कृश, मास मास खमण तप करनेवाला साधु भी यदि मायावी हो तो वह अनन्त बार गर्भ में उत्पन्न होगा अर्थात् अनन्त काल तक संसार मे भ्रमण करेगा।

(३) सुय० प्र० श्रु० खस्म० अ० १ उ० १ सूत्र २ मे आरम्भ और परिग्रह दोनों को कर्म का बीज (अर्थात् कर्म-बन्धन का कारण) बताया, जो इन को धारण करे, धारण करते को अच्छा जाने तो वह कभी दुःख से मुक्त नहीं होता है।

और भी देखिए—

पाठ—

जे भिक्खू ममायं पसंसई पसंसं तं वा साइज्जई ॥५७॥

—निशी० उ० १३

भावार्थ—जो साधु ममत्वी की प्रशंसा करे, करते को अच्छा जाने, तो लघु-चौमासिक प्रायश्चित बताया है।

पाठ—"उवहिम्मि अमुछिए अगिद्धे अन्नाय उच्छं पुल-निप्पुलाए।
कय विक्किय सन्निहिओविरए सव्व सङ्गावगए य जे स भिक्खु ॥१६॥

—दशवै० अ० १० सूत्र १६

शब्दार्थ—उ०—वस्त्र पात्र के लिए, अ०—मूर्च्छा रहित, अ०—गृद्धता रहित, मिलने की इच्छा रहित, अ०—अनजाने घर का उ०—थोड़ा थोड़ा आहार, उ०—सरस, नि०—नीरस, क०—मोलका न लेवे, वि०—बेचा हुआ न लेवे, स०—घृतादि वासी रखने के लिए, वि०—विरक्त हो, स०—सर्व, स०—गृहस्थी के संग रहित राग द्वेष मोहादि कर्म-बन्धन का कारण जान कर, आ०—परिचय रहित, य०—फिर, जे०—वे, स०—वह, भि०—भिक्षु ॥१६॥

भावार्थ—जो साधु वस्त्रपात्र प्रमुख उपाधि की मूर्च्छा नहीं रखता है, किसी भी स्थान से आसक्ति नहीं रखता है, अज्ञात कुल में से थोड़ा थोड़ा आहार लेता है, ऐसे दोष नहीं रखता है जो चारित्र्य को गिराते है, क्रय-विक्रय संचय नहीं करता है, रात्रि में बांसी पदार्थ नहीं रखता है, गृहस्थ आदि से किसी तरह की भी द्रव्य भाव संगति नहीं रखता है, वही साधु है।

अध्याय : ५

सचित्त-अचित्त

(आधाकर्मी)

१ प्रश्नः—तेरहपंथी साधु को 'लघु सिंघ' तप के पारणे में अंबील में पानी बिना घी की रोटी खानी चाहिए। ऐसे तपस्वी के लिए पाँच सात अच्छे रसयुक्त भोजन करने वाले घरों में सूचना दे दी जाती है कि जब रसोई बने तब घी से रोटी न चिपड़ी जाए। तदनुसार गृहस्थ रोटी नहीं चिपड़ता है। गोचरी के समय वही रोटियाँ जिन्हें सूचना के अनुसार नहीं चिपड़ा जाता है, तपस्वी के लिए लादी जाती हैं। यह दोप-सेवन है या नहीं ?

उत्तरः—अच्छे रसयुक्त भोजन करने वाले कुल में सूचना दिए बिना अज्ञात कुल में बिना घी की चिपड़ी सूखी रोटियाँ मिल सकती हैं, लेकिन अपरिचित कुल से लेने का कष्ट न उठा कर रसयुक्त और स्वादिष्ट भोजन करने वाले परिचित कुल में ही सूचना देते हैं। यह सर्वथा दोप-सेवन है। पहिले सूचना दे देने से ही आधाकर्मी उद्दिष्ट और थापीता दोप यहाँ स्पष्ट है।

साधु को देने के भावनार्थ सूखी रोटी रखना, सूचना मिलने के फलस्वरूप और कार्य स्वरूप सूखी रोटी बनाना—इससे आधाकर्मी दोष हुआ। वही सूखी रोटी साधु को देने के उद्देश्य को लेकर अलग स्थापित कर के रखने से थापीता दोष (स्थापन दोष) हुआ। साधु को देने के उद्देश्य से—साधु के उद्देश्य से—सूखी रोटियाँ बनाने से उद्दिष्ट आहार का दोष हुआ। इस तरह तीनों उपर्युक्त दोषों का सेवन निर्विवाद और बिल्कुल स्पष्ट है। प्रत्यक्ष दोष-सेवन होते हुए भी जब इन तेरहपंथियों से पूछा जाता है कि आप ऐसा क्यों करते है तो वे उत्तर देते हैं कि हम ने तो घी लगाने को मना किया, आरम्भ घटाया, बढ़ाया नहीं, अतः इसमें कोई दोष नहीं है। विचारशील पाठकवृन्द विचार करें कि इन लोगों का यह कैसा कपटजाल है, मायाचार है। प्रत्यक्ष रूप से सूत्र-विरुद्ध आचरण करते हैं, और उस पर से उसका अनुमोदन करते है, उसको अच्छा बताते है यह 'चोरी और सीनाज़ोरी' नहीं तो और क्या है ?

२ **प्रश्न**—तेरहपंथी पांतरा कर के गोचरी के लिए जाते हैं। यह दोष सेवन है या नहीं ?

उत्तर—ये तेरहपंथी द्रव्य लिंगी साधु साध्वी जिस गाँव में जाते हैं, वहाँ पहिले ही दिन श्रावकों के आधे घर एक दिन की गोचरी के लिए और बाकी आधे घर दूसरे दिन की गोचरी के लिए नियुक्त कर दिए जाते हैं, मुँह से ये लोग यही कहते हैं कि पाँतरे का नियम नहीं बनाया है, लेकिन पाँतरे से अर्थात् एक एक

दिन छोड़कर बारी बारी से श्रावको के घर जाते रहते हैं। गोचरी के समय ऐसा निश्चित किया जाता है कि अमुक साधुओं को अमुक घरो में अथवा इतने घरों में जाना है। आचार्य की शाम की गोचरी के लिए ८-१० घर अलग छोड़ दिए जाते हैं। अगर बावीस सम्प्रदाय के किसी श्रावक की उपस्थिति में कोई तेरहपंथी श्रावक साधु से यह कहता है कि "महाराज, आज पाँतरा है, व्रत निपजाने की कृपा करिएगा", तब अवसर पाकर उस श्रावक से यह कहा जाता है कि ऐसा नहीं बोलना। इस तरह चोरी करके ये पाँतरे जाने में कोई संकोच नहीं करते। यदि तेरहपंथी श्रावक ही होता है तो उससे साधु पूछता है—भाई, आज तुम्हारे यहाँ पाँनरा है न' ? और श्रावक उत्तर देता है "हाँ, महाराज ! पाँतरा है।" साधु वर्ग की तरफ़ से पता चला कि चौथे पट्टधारी पूज्य जयाचार्यजी ने साधु बढ़ जाने के कारण पाँतरे का विधान किया। उनसे पहिले पाँतरे का नियम नहीं था—ऐसा सुनने में आया। कुछ भी हो, यह निश्चित है, निर्विवाद है कि इस तरह के नियम से दोप का सेवन होता है, गृहस्थ और साधु दोनों ही इस पाप के भागी बनते हैं। तेरहपंथी साधु (?) अपनी सफ़ाई में कहा करते हैं कि "जब गृहस्थ हमारी गुरु आमना लेता है तब ही हम उससें तेरहपंथी साधुओं को-दोपयुक्त पदार्थ देने का त्याग करवा देते हैं। अब यदि गृहस्थ हमें दोषयुक्त पदार्थ देता है, अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध आचरण करता है, तो इसमें उसका अपराध है, हमारा नहीं; पाप का भागी गृहस्थ है, हम नहीं"। साधुओं की यह सफ़ाई

कितनी लचर और बेहूदी है ? पाप पुण्य शब्दों से नहीं, भावों से हुआ करता है। साधु गृहस्थ से प्रतिज्ञा दिलाता है उस समय गृहस्थ समझता है कि यह तो रूढ़ि का पालन हो रहा है और साधु भी यही समझता है। साधु जानता है कि मुझे दोषयुक्त पदार्थ तो मिलेगा ही और गृहस्थ भी जानता है कि साधु के लिए मैंने जो पदार्थ रखा है वह दोषयुक्त है ही, अतः दोनों रूढ़ि का पालन करने मात्र के लिए ही प्रतिज्ञा आदि की यह विडम्बना करते है। प्रतिज्ञा के समय गृहस्थ अच्छी तरह जानता है कि वह कितने गहरे पानी में है और साधु कितने गहरे पानी में है, इसी तरह साधु भी जानता है कि वह कितने गहरे पानी में है और गृहस्थ कितने गहरे पानी में है। इस तरह दोनों अपनी अपनी और एक दूसरे की पोल मन ही मन में जानते है लेकिन शब्दों के द्वारा पवित्रता और सात्विकता का दम्भ करते हैं। ऐसे दम्भ में, पाप छिपाने के इस षड्यन्त्र में, दोनों ही भागी है, दोनों ही अपराधी हैं, पापी हैं। शब्दों द्वारा भावों को धोका नहीं दिया जा सकता, जुबानी जमा खर्च करके पाप को पुण्य नहीं बनाया जा सकता बल्कि पाप को और भयंकर ही बनाया जा सकता है, पाप को आत्मवंचना के रंग में रँगकर उसे और गहरा ही किया जा सकता है। आत्म-वंचना से पाप पुण्य में नहीं बदलता है, पाप हलका नहीं होता है बल्कि वह पहिले से अधिक कालिमापूर्ण और भयानक हो जाता है। ये तेरहपंथी साधु नित्य प्रति दिन आत्मवंचना करके अपने भविष्य को विनाश में ढकेल रहे हैं।

ये तेरहपंथी लोग जब शाम को आहार के लिए जाते है तब क़रीब २-२॥ घंटा दिन रहता है। कभी रसोई को १०-१५ मिनिट की देरी हो जाती है तो द्रव्य-साध्वियाँ बाहर ठहर जाती है। इस पर गृहस्थ शीघ्रता करता है, वह अपना व्रत भूल कर दान के फल की लालसा मे लग जाता है, क्योंकि वह द्रव्य-साधुओं के आगमन की सूचना पा कर भान भूल जाता है। यह भी कैसी अजीब बात है?

पाँतरा जाना या पहिले से सूचना दे कर जाना—ऐसा कहीं भी शास्त्र में उल्लेख नहीं है। सूत्रों में तो साधुओं के अचानक आगमन का ही वर्णन आया है जैसे कि **भगवान नेमिनाथ** के शिष्य जो दो दो दिन छोड़ कर आहार लेते थे, आहार के लिए गए तो द्वारका नगरी में जो एक बहुत बड़ी नगरी थी, अपरिचित घरों में फिरते फिरते देवकी रानी के घर मे गए—एक ही घर में नहीं गए। यदि उन्हें भी नियम होता तो वे एक घर मे क्यों जाते? सूत्र अंतग० वर्ग ३ अ० ८ सूत्र १० के अनुसार पांतरे की गोचरी का नियम नहीं ठहरता है। भिक्षुजी के समय पांतरे का नियम नही था। तेरहपंथी कहते है कि ऐसा नियम न होने से एक ही घर में २-३ बार चले जावे तो कैसे पता हो। सोचिए, यह कैसी अजीब बात है, कैसा अनोखा बहाना है। भला, ऐसी कोई बात होती तो क्या भगवान नेमिनाथ अपने शिष्यों को मना नहीं करते? यह तो सरासर इन तेरहपंथियों का कपट है; क्योंकि आधाकर्मी आदि दोष के सेवन करने वाले हैं

और दोष—सेवी को दोष छिपाने के लिए या उसको अदोष सिद्ध करने के लिए कपट करना ही पड़ता है, न करे तो अपना उल्लू कैसे सीधा हो ?

इन तेरहपंथी साधुओं की सभी बातें बेढंगी हैं। ये लोग रास्ते की सेवा में लाभ बता कर सेवा कराते हैं, अपरिचित कुल का आहार केवल नाम मात्र को लेते हैं, स्वादिष्ट रस—युक्त भोजन करने वाले घरों से ही पाँतरे भरते हैं, डेरों का ही आहार लेते हैं। एक तरफ़ ये साधु-वेषधारी असाधु यह विचार करते हैं कि साथ में ५०-६० डेरे है; इसलिए रास्ते में कोई अड़चन नहीं पड़ेगी। दूसरी तरफ़ श्रावक लोग विचार करते हैं कि "रास्ते की सेवा करनी चाहिए, नहीं तो संतों और सँतियोंजी को रास्ते में आहार की अड़चन पड़ेगी, बड़ी सँत्याँजी के साथ इतने डेरे जायँ, हम पूज्य महाराजजी की सेवा में रहेंगे"। स्पष्ट है कि यहाँ पूरी तरह साधु का निमित्त है इसलिए दोष भरपूर है।

अब एक और भी मज़ेदार बात। ये तेरहपंथी साधु जब गोचरी लेकर आते हैं तब आपस में बोलते है कि आज तो अमुक सदुबाई की मेवा की थैलियाँ ख़ाली कर दीं पर परसों तो भरी हुई मिलेंगी, अभी गृहस्थ को सूचना भिजवाते हैं कि दर्शन के निमित्त से जा कर वह आहार के विषय में निवेदन या प्रार्थना कर सकता है, सीधे और स्वयं इन से कहने की क्या ज़रूरत है, आदि आदि। होता भी ऐसा ही है। गृहस्थ भावों को छुपा कर शब्दों द्वारा दो-तीन बार निवेदन करता है और

साधु यह देखने का बहाना करके कि यह गृहस्थ तो ज्यादह आग्रह कर रहा है, उसकी प्रार्थना मंजूर करने का भाव प्रकट करते हैं और वहाँ से लेके भी आ जाते हैं। यह कोरा शब्द-जाल है, जिससे अपनी आत्मा को और समाज को धोका देने का प्रयत्न किया जाता है। कोई पूछता है तो ये साधु लोग निर्लज्जतापूर्वक कहते हैं कि हम गृहस्थ से कब कहते हैं कि हमें ले चलो या हमारे साथ चलो, गृहस्थ तो स्वेच्छा से सेवा करता है; अतः हम साधु-सेवा के पुण्य-कार्य मे अंतराय क्यों होने दें। इन हिये के अन्धों से कोई पूछे कि गृहस्थ रात्रि में साधु की सेवा करना चाहता है तो क्यों निषेध करते हो? यदि दोष-युक्त समझ कर उसका निषेध करते हो तो इसका भी निषेध करो; क्योंकि यहाँ भी तो दोष—सेवन है। आधाकर्मी आहार त्याज्य है, अतः उसका भी निषेध करना ही चाहिए, अन्यथा सरासर दोष—सेवन है।

देखिए—

(१) सुयग० प्र० श्रु० अ० १ उ० ३ सूत्र १ में बताया है कि जो साधु आधाकर्मी आहार ले वह साधु नहीं है, गृहस्थ के समान है।

(२) सुयग० प्र० श्रु० अ० १० सू० ८ में कहा गया है कि जो साधु आधाकर्मी दोष का सेवन करता है, वह निश्चयं संसार में परिभ्रमण करता है।

(३) भगवती श० १ उ० ९ सूत्र १७ मे यह उल्लेख है कि आधाकर्मी दोष का सेवन करनेवाला चर्तुगति मे घूमना फिरता—चक्कर लगाता—रहता है। वह ७-८ कर्म—बन्धन करता रहता है।

३ प्रश्न—आचार्य के पास दीवान साहब मगनलालजी कई आहारादिक द्रव्य व्यंजन, शाक-भाजी, आदि की सुगन्ध लिया करते है और उसके अनुसार पदार्थो को अच्छा बुरा भी ठहराते हैं। दूध की सुगन्ध लेने पर वह अच्छा न मालूम हो तो ऐसा भी कहते हैं कि अमुक जगह से लाओ। दो-तीन जगह से दूध आए तो सुगन्ध द्वारा उनमें से किसी एक को अच्छा ठहराते हैं और बाद को उसका भोग करतें है। यह दोष-सेवन है या नहीं?

उत्तर—शास्त्र में सुगन्ध लेना मना है; इसलिए यह स्पष्टतः दोष-सेवन है।

४ प्रश्न—तेरहपंथी, जहाँ तक हो सके, आहार, दूध आदि अधिक से अधिक गरम लिया करते हैं। धोने का पानी भी विशेष गरम लेते है? यह दोष-सेवन है या नहीं?

उत्तर—यह दोष-सेवन है।

रतनगढ़ में शाम को लुणे (कपड़े) धोने के लिए पास ही घरों में गरम पानी मिल ही जाता है। मैं भी एक बार हनुमानमलजी कुनणमलजी के साजवालों के साथ गया था, उबाला हुआ पानी तैयार था। हनुमानमलजी ने एक बाई से पूछा-'बाई,

गरम पानी है क्या?' वाई ने कहा—'महाराज, है।' पूछा—पानी क्यों गरम किया? उत्तर मिला—हाथ पैर धोने को किया, मगर आप लीजिए? हनुमानमलजी नें भगोना (गंज) पानी लेने के लिए उठाया। ज्यादह गरम होने से भगोना हाथ से छूट गया, गिर पड़ा। क़रीव आधा पानी गिर गया। पास ही मोरी थी, मोरी में पानी चला गया। मैंने कहा—महाराज, मोरी में कोई जीव होगा? वे बोले—गरम होने से छूट पड़ा, जीव तो देखे नहीं। एक भाई भी वोला कि जीव तो दिखाई नहीं देते। हनुमानमलजी ने उसकी आलोचना नहीं की। आवश्यकता के अनुसार पानी मिल ही जाता, लेकिन विवेक से तो काम-ही नहीं लिया।

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि ये तेरहपंथी लोग कितना गरम पदार्थ लेते हैं। शास्त्र में गरम पदार्थ लेना त्याज्य है।

नोटः—वास्तव मे वात यह है कि साधु के लिए शास्त्रों में गरमागरम आहार या जल लेना मना है। तेरहपंथी गरमागरम आहार लेते हैं और कहते हैं कि आचा० श्रु० २ अ० १ पिं० उ० ७ सूत्र ६ में यह बताया है कि पंखे से ठंडा करके गृहस्थ आहार दे तो साधु न लेवे, ऐसा ही लेवे, अतः इस पर से गरमागरम भोजन लेना ग्राह्य समझते हैं। लेकिन यह उनकी भूल है। यहाँ किसी भी तरह गरमागरम आहारादि लेने का समर्थन नहीं है, यहाँ तो वायुकाय के घात की दृष्टि से पंखा किया हुआ लेना मना किया है। वे यह भी कहते है कि

निशी० उ० १७ मे जो गरमागरम लेना दंड बताया है वह पात्रा फट जाने के लिए बताया है, परन्तु वहाँ पात्रा फटने की कोई बात नहीं है, ये तो अपनी जिव्हा-लोलुपता को सात्विक रंग देने के लिए और अपने अनाचार को येन-केन-प्रकारेण आचार बताने के लिए झूठमूठ अर्थ का अनर्थ करते हैं।

५ प्रश्न—तेरहपंथी लोग प्रमाण से अधिक समय तक सरस अर्थात् रसयुक्त आहार, मेवा-मिष्ट अन्न, द्राक्ष्यादिक, मलाई, मक्खन, बर्फ़ आदि तरह तरह के पदार्थ आने से जिव्हालोलुपतावश आहार करते हैं। यह दोष-सेवन है या नहीं?

उत्तर—यह दोष-सेवन है। जिव्हा-लोलुपता असंयम है, पाप है।

६ प्रश्न—तेरहपंथी आचार्य तुलछीगणीजी संयोग दोष सहित आहार करते हैं। उदाहरण के तौर पर दूध बाटिए का मेल, पिसे हुए लहसन के बाटिए या भुनी हुई कुलिएँ और दाल का मेल, साबुत नीबू के रस का मेल, दूध बादाम कुलिए व मिश्री का मेल, मक्खन गोले का मेल, इत्यादि। इस तरह के अनेक मेल हुआ करते हैं। यह दोष-सेवन है या नहीं?

उत्तर—यह दोष-सेवन है। इस तरह के मेल करना ही जिव्हा-लोलुपता का प्रमाण है और जिव्हा-लोलुपता दोष है, असंयम है, पाप है। देखिए—

(१) भगवती श० ७ उ० १ सू० १२ मे बताया है कि [क] लोलुपी बन कर आहार करे तो इंगल दोष है [ख] किला-

मना सहित आहार करे तो धुम्र दोप है, और [ग] अन्य द्रव्य मिला कर आहार करे तो संयोग दोप है।

(२) प्रश्न व्या० संवर २ अ० १ सू० ११ मे बताया है कि संयोग दोप रहित अच्छे-बुरे की व्याख्या न करे, दोष न लगाए, वह सुसाधु है।

(३) सूत्र० १० मे अखंडित चारित्र वाले को ही सुसाधु कहा है।

(४) सुय० १ श्रु० अ० ७ सू० २१ में बताया है कि व्यवहार शुद्धि के लिए निर्दोप आहार ले कर संयोग दोप लगा कर जो आहार ले वह संयम से दूर है, असाधु है। वैसा ही छोटे-बड़े स्नान और कपड़े के सम्बन्ध में बताया है।

७ प्रश्न—तेरहपंथी लोग सचित्त की शंका सहित साबुत हरे फूट गरम पानी से निकाले हुए लेते है। नारंगी छिलके सहित [संतरा], साबुत अमृत [जाम, अमरुद], बीज सहित नीबू [दाल में रस डालने के लिए], अंगूर, हरी किशमिश के गुच्छे, बीज सहित काले अंगूर के गुच्छे, साबुत अनार व खुले कुलिए, साबुत सेव, साबुत वनस्पति, साबुत सफ़रजंग [नाश्पाती] आदि आदि हरी चीज़ों का ये लोग सेवन करते हैं। यह दोप-सेवन है या नहीं ?

उत्तर—यह दोप-सेवन है। देखिए—

(१) दशवे अ० ५ उ० १ गा० ७० में बताया गया है कि कोई भी वनस्पति जिसका छेदन-भेदन न हुआ हो, अग्नि शस्त्र

से पूरी पकी न हो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। पानी साफ़ करने के लिए जो फिटकरी काम मे लाई जाती है, वह सचित्त है इसलिए उसका उपयोग भी उचित नहीं है। देखिए दश० अ० ५ उ० १ सूत्र ३४।

(२) आचा० सू० २ पिण्डे अ० १० उ० १ श्रु० ३ में यह वर्णन आया है कि अखंड फल का छेदन-भेदन न हुआ हो और उसमें पूरा शस्त्र न परणमा हो अर्थात् कोई चीज़ उसमें पूरी तरह न घुली मिली हो तो उसे ग्रहण नहीं करना चाहिए। और श्रु० २ अ० १० उ० ८ सूत्र ५ में आम के, ताड़ के आदि कोई भी अन्य फल के तथा सूत्र ९ व १० में अपक्क [बिना पकी] सिंघाड़े आलू शाक—भाजी को ग्रहण करने के लिए मना किया है।

उपर्युक्त प्रश्नों के सम्बन्ध मे शास्त्रीय प्रमाणः—

पाठः—"जं किंचिउ पूइकडं। सड्ढी मागंतु मीहियं।
सहस्सं तरियं भुंजे दुपक्खं चेव सेवई ॥१॥
—सुयग० १ श्रु० अ० १ उ० ३"

शब्दार्थः—जं० – जो, किं० – किंचित मात्र, पू० – पूतिकर्म, स० – श्रद्धावंत, आ ०– आनेवाले को, इ० – उद्देश्य कर किया, स०–हज़ार गृहान्तर, भु० – भोगे, दु० – दोनो पक्ष, चे० – निश्चय, से० सेवन करे ॥

टीकाः—कोई श्रद्धावंत गृहस्थ आने वाले साधु के लिए पूर्ति कर्म वाला आहार बनाए और वहाँ आहार एक हजार घर के अन्तर से मिले तो भी आधाकर्मी लेने वाला साधु गृहस्थ के समान है।

पाठः—आहा कम्मंणं भुंजमाणे समणे निग्गंथे किं बधई, किं पकरई, कीं चिणाई, कीं उव चिणाई ? गोयमा ? आहाकम्मं भुंजमाणे आउ—यवज्जाओ सत्तकम्म पगडीओ सिढील बंधण वद्धाओ धणिय बंधण बद्धाओ पकरेइ, जाव अणु-परियट्टइ। से केणट्ठेणं जाव आहा कम्मंणं भुंजमाणे जाव अणु परियट्टइ ? गोयमा आहाकम्मंणं भुंजमाणे आयाए धम्मं आइक्कमइ आयाए धम्मं आइक्कममाणे पुढविकायं णाव कंखइ जाव तसकायं णाव कंखइ जेसि पियणं जीवाणं सरीराइं आहार माहारेइ तेवी जीवे नाव कंखइ, सतेण ट्ठेणं। गोयमा ! एवं वुच्चइ, आहा कम्मंणं भुंजमाणे आउ-यवज्जाओ सत्त-कम्म पगडीओ जाव अणिपरियट्टइ ॥ १७ ॥

भग० श० १ उ० ९ सू० १७

शब्दार्थः—आ०—आधाकर्मी, भुं०—भोगता, स०—श्रमण, नि०—निर्गंथ, कि०—क्या, बं०—बाँधे, प०—करे, चि०—चुने, कि०—क्या, उ०—उपचुने (चुनाव करे), गो०—गोतम, आ०-आधाकर्मी, भु०—भोगता, आ०—आयुष्य, व०—छोड़कर, स०—सात, क०—कर्म प्रकृति, सि०—शिथिल, ब०—बंधन, ब०—बँधी हुई, घ०—दृढ़, ब०—बंधन, ब०—बँधी हुई, प०—करे, जा०—यावत्, अ०—आधाकर्मी, प०—परिभ्रमण, से०—वह, के०—कैसे, जा०—यावत्, आ०—आधाकर्मी, भु०—भोगता, जा०—यावत्, अ०—परिभ्रमण करे, गो०—गोयमा, आ०—आधाकर्मी, भु०—भोगता, आ०—आत्मासे, ध०—धर्म, अ०—अतिक्रम, आ०—आत्मा से, ध०—धर्म, अ०—अतिक्रम, पु०—पृथ्वीकायक, ण०—नहीं, अ०—अनुकपा करे, जा०—यावत्, त०—त्रसकायक, ण०—नहीं, अ०—अनुकपा करे, जे०—जिन, जी०—जीवों के, श० — शरीर का आहार, आ० — करे, ते० — उन, जी० — जीवों की, ण० — नहीं अ० — अनुकपा करे, से० — वह, ते० — इसलिए, गो० — गोयमा,

ए० – ऐसा, व० – कहा जाता है, आ० – आधाकर्मी, भु० – भोगता, आ० – आयुष्य, व० – छोड कर, स० – सात, क० – कर्म प्रकृति, आ० – यावत्, अ० – परिभ्रमण करे ॥ १७ ॥

भावार्थ—हे भगवन्! आधाकर्मी आहार भोगने वाला साधु निर्ग्रंथ क्या बाँधे, (प्रकृति की अपेक्षा से) क्या करे, (स्थिति की अपेक्षा से) क्या चुने, (अनुभाग की अपेक्षा से और प्रदेश बंध की अपेक्षा से) क्या उपचिने? हे गौतम! आधाकर्मी आहार भोगने वाला श्रमण निर्ग्रंथ, आयुकर्म छोड़ कर यदि शेष सात प्रकृतियाँ शिथिल बंधन वाली हों, तो उन्हे दृढ़ बंधन वाली बनाये, अल्पकाल की स्थिति वाली को दीर्घ काल की स्थिति वाली बनाए, यावत् अनन्तकाल तक चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करे। हे भगवन्! किस कारण से आधाकर्मी भोगने वाला साधु सात कर्म प्रकृतियों को दृढ़ बंधन वाली बनावे, यावत् चतुर्गति रूप संसार में परिभ्रमण करे। हे गौतम! आधाकर्मी आहार भोगने-वाला आत्मा से धर्म का विरोध करता है, आत्मा से धर्म का विरोध करते हुए वह पृथ्वीकाय आदि षटकाय के प्रति अनुकम्पा के भावों से रहित होता है और जिन जीवों के शरीर का आहार करते हैं उनके प्रति भी उसमें अनुकम्पा के भाव नहीं होते हैं। इसलिए हे गौतम! आधाकर्मी आहार भोगने वाला आयुकर्म छोड़ कर अन्य सातो कर्मों का दृढ़ बन्धन करता है और इस संसार में चतुर्गति से भ्रमण करता रहता है।

टीका—उपर्युक्त पाठ द्वारा बताया गया है कि आधाकर्मी आहार को भोगने वाला आयुकर्म-प्रकृति को छोड़ कर शेष सातों

कर्म प्रकृतियों के बंधन, दीर्घ बंधन एवं दृढ़ बंधन का शिकार बनता है और इस तरह अनन्तकाल तक इस संसार में भ्रमण करने की तय्यारी कर लेता है। आधाकर्मी आहार, उपर्युक्त पाठ द्वारा, एक सच्चे साधु को—अपनी आत्माका कल्याण चाहने वाले साधु को—सर्वथा त्याज्य है।

तेरहपंथियों का आहार—ये तेरहपंथी लोग स्वादिष्ट भोजन करने वाले घरों का आहार विशेष रूप से करते हैं। अधिक से अधिक बलिष्ठ आहार करने की इन्हें सदैव रुचि रहती है। अपरिचित कुल मे तो वे नाम मात्र को गोचरी करते हैं, अज्ञात कुल में बहुत ही अल्प मात्रा मे आहार लिया करते हैं, २-४ अंगुल या कुछ कम या अधिक रोटी ले लिया करते हैं। ये लोग जब रावळा में जाते हैं तब लहसन का शाक शौक़ के साथ लिया करते हैं। स्वादिष्ट भोजन करने वाले कुल में जिव्हा-लोलुप बन कर आहार के लिए जाना शास्त्रों में त्याज्य और दोषयुक्त बताया गया है; परन्तु इन लोगो को शास्त्रों के विधानों से क्या मतलब ? इन्हें जिनेन्द्र भगवान के वचनों की पूजा से क्या मतलब? इन्हें तो पेट-पूजा से काम है, इन्हें तो मज़े उड़ाने से प्रयोजन है। इनकी स्वाद-लोलुपता की कुछ न पूछिए ! बादाम का हलवा तथा अन्य हलवा, ३०-३५ तरह की मिठाई, मक्खन का गोला, बादाम की कतली, रस-गुल्ले, दूध, रबड़ी आदि आदि अनेक बलिष्ठ पदार्थ जिन को गिनाया जाय तो सहज ही १००-१५० तक संख्या हो सकती है, इनको अच्छी तरह हज़म हैं। अन्य मेवा आदिक भी महीने के ३०

दिनों में शायद दो-तीन दिन न आते होंगे, बाकी रोज़ ही आते है। इस तरह इन साधु कहलाने वाले प्राणियो की जिव्हा-लोलुपता का कुछ ठिकाना है? क्या यही उनका साधुत्व है कि जो माल गृहस्थों को भी साधारणतया नसीब न हों, अपने साधुत्व का साइन बोर्ड लगा कर ये लोग उन्हें रोज़ हड़प किया करें। साधु की नीति तो यह होनी चाहिए कि अपने शरीर को स्थिर रखने के लिए जैसा भी रूखा-सूखा भोजन मिले उसमें ही पूर्ण संतोष के साथ निर्वाह किया जाय। देखिए—

[१] सुयडा० प्र० श्रु० अ० ७ सू० २४ में बताया गया है कि जो जिव्हा-लोलुपी अर्थात् रस-लंपटी वन कर स्वादिष्ट भोजन करते वाले कुल में गोचरी करता है और उसकी दूसरे से प्रशंसा करता है वह शत प्रतिशत साधुत्व से दूर है अर्थात् उस में साधुत्व का लेश मात्र भी नहीं है।

[२] सुयडा० प्र० श्रु० अ० ७ सू० २५ में यह वर्णन आया है कि जो अपना घर त्याग करके दूसरे के भोजन में लोलुपी बन कर अपना उदर-पोषण करता है और गृहस्थ की प्रशंसा करता है वह अनाचारी है और वह अनन्त काल के लिए जन्म-मरण की तय्यारी करता है।

[३] आचा० प्र० श्रु० अ० ५ उ० ३ सू० ६-७-८ में यह विधान है कि मुनि को अपने शरीर के साथ अभ्यंतर युद्ध करना चाहिए। बाह्य युद्ध करने में क्या लाभ है? युद्ध के योग्य शरीर मिलता मुश्किल है॥

[४] आचा० प्र० श्रु० अ० ५ उ० ३ सू० १५ में बताया है कि वीरप्रभु ने ऐसा कहा है कि जो रूखा आहार करते हैं वही तरते हैं, अर्थात् वही मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं।

[५] सुयडा० प्र० श्रु० अ० ८ सूत्र २५ मे कहा गया है कि जो अल्प आहार और पानी ग्रहण करते हैं वही सच्चे साधु हैं।

नोट—तेरहपंथी स्वादिष्ट भोजन करते हैं इसलिए खूब ज्यादह खा लेते हैं, खूब ठूस ठूस कर अपने पेटों की कोठरियों को भरते हैं।

[६] सुयडा० प्र० श्रु० अ० १३ सू० १२ में नीरस और सादे भोजन को ग्रहण करने वाला निष्परिग्रही साधु बताया गया है। जो गर्व करता है, जो अपनी इन्द्रियों का गुलाम है—साधु नहीं है—ऐसा व्यक्ति संयम से बहुत दूर है। वह संसार मे परिभ्रमण करता है।

[७] सुयडा० श्रु० २ अ० १७ सू० ३२ में लिखा है कि जिस तरह सर्प बिल में घुसता है ठीक उसी तरह शरीर में भोजन को डालना चाहिए। अर्थात् बहुत सादगी से और सीधी तरह से भोजन करना चाहिए।

[८] सुयडा० श्रु० २ अ० १७ सू० ३१ में दोषरहित आहार करने वाले को साधु कहा गया है।

नोट—तेरहपंथियों के लिए बिना दोष का आहार करना तो अनहोनीसी बात है। संयोग दोष तक लगाते हैं तब और दोषों का तो कहना ही क्या है!

[९] ज्ञान० ता० श्रु० १ अ० १८ सूत्र ३२ में रूपवान बनने के लिए आहार करनेवाले को संसार में परिभ्रमण करनेवाला बताया है, चिलात चोर सरीखा बताया है।

नोट—ये तेरहपंथी लोग. रूपवान बनने के लिए अर्थात् शरीर के वर्ण को अच्छा बनाए रखने अथवा अच्छा बनाने के लिए भोजन करते है। आचार्य के भाई चंपालालजी यह बहुधा बोलते हुए सुने गए है कि यह भोजन शरीर के लिए अच्छा रहेगा। इस बारेमें पूनमचन्द्रजी ने लाडनूँ में आचार्यजी से पूछा भी था और दीवान साहब मगनलालजी ने कबूल भी किया था।

[१०] दशवै० अ० ५ उ० १ सू० ४७–४८ में बताया है कि यदि स्वमति से आहार में साधु का निमित्त मालूम हो तो वह आहार अशुद्ध है और उसे न लेना चाहिए।

नोट—तेरहपंथी तो सब कुछ जानते हुए भी–साधु का निमित्त है, ऐसा देखते हुए भी—आहार ग्रहण करने में कुछ भी संकोच नहीं करते हैं।

(११) दशवै० अ० ५ उ० १ सू० ५६ में बताया है कि पूरी छान-बीन करके निःशंकित हो कर आहार करना चाहिए।

नोट—तेरहपंथी भाषा के हेर-फेर में छान-बीन का नाम कर लेते हैं पर हृदय से कुछ भी नहीं करते। बोलने में निःशंकित बन जाते हैं लेकिन मन में शंकाशील ही नहीं रहते बल्कि उनको निश्चय रूप से पता होता है कि आहार दोष-युक्त है। शब्द-जाल द्वारा वे समाज को धोका देने की कोशिश करते हैं;

लेकिन वे अपनी, आत्मा को ही धोका दे बैठते हैं और पाप के भागी बनते हैं। हरे साबुत फल, बहुत से बीजों वाला साबुत अमरूद [जाम], साबुत नींबू, नारंगी, नाश्पाती, सेब, अंगूर, किशमिश, बीज सहित बड़ी मुनक्का व बादाम का ये लोग खूब सेवन करते हैं। कहते है गर्म पानी में से निकाले हुए छिलके सहित बादाम को ग्रहण करते हैं। भला! गरम पानी से निकले हुए या भिगोए हुए बादाम के कहीं छिलका रह सकता है? जब इस बारे में पूछा जाता है तो कहते हैं शंका नहीं रखना चाहिए, शंका रखने वाले को मोक्ष नही मिलता है। इस तरह ये लोग शंका को पास फटकने ही नहीं देते तो निःशंकित होने का कोई अर्थ ही नहीं है। सच तो यह है कि इन लोगों को सचित्त-अचित्त आदि का कोई विचार ही नहीं है। ये लोग छिलके सहित इलायची लेते हैं। यह सचित्त है—इसका न वे विचार करते हैं न ऐसी शंका ही करने की वहाँ स्वतन्त्रता है। एक दिन की बात है कि नागर बेल के पान के बीड़ों को खोलने से पता लगा कि अन्दर का पान सूखा नहीं है। आचार्यजी से इस बारे में पूछा गया कि ये बीड़े कौन लाया? उत्तर में सत्याँजी का नाम बताया गया। आचार्यजी ने आज्ञा दी कि भविष्य में ऐसे पान न लाए जायें। सूत्र में विधान है कि भूल से सचित्त पदार्थ आ जाय तो ज़मीन में दबा देना चाहिए, लेकिन खाना नहीं चाहिए, लेकिन वे सचित्त पान जो ले आए गए थे, ज़मीन में नहीं दबाए गए बल्कि उनको खा लिया गया। कारण स्पष्ट है। जो भूल से न लाएँ बल्कि जान-

बूझ कर लाएँ वे जमीन में क्यो दाबें, क्यों न खाएँ? कई बार मैने चौथमलजी महाराज से कहा, " मोटा पुरसाँ! ये बादाम तो छिलके सहित है, सचित्त हैं"। वे बोले—"क्यों, गरम पानी के उबाले हुए है।" मैंने धीरे से कहा—" उबालने से तो छिलका नहीं रहता है पर यहाँ तो छिलके हैं।" चौथमलजी ने इस पर कहा—" शंका नहीं रखो।" इतना कहते ही मंगलचन्द्रजी, हनुमानमलजी तथा सागरमलजी में से किसी एक ने उन बादामों को खा लिया। इस तरह ये लोग सचित्त आदि सब तरह का दोपयुक्त आहार ग्रहण करते है और शंका न रखने की दुहाई दे कर अपने पेट की भट्टी की आग को बड़े बड़े बढ़िया फलों-पकवानों-मेवों-मिठाइयों से बुझाते है।

(१२) दशवै० अ० ८ सू० २३ मे भोजन के विषय में गृद्ध-दृष्टि अथवा गृद्ध-मनोवृत्ति रखने के लिए मना किया गया है।

(१३) दशवै० अ० ८ सूत्र ५६ व ५७ मे रसयुक्त झर-भर आहार को तालपुट ज़हर के समान बताया गया है।

(१४) दशवै० अ० ९ उ० ३ सूत्र १० में बताया है कि वही साधु पूजनीय है जो आहारादिक में लोलुपता या कौतुकता नहीं रखता है, जो माया—विहीन और पेसुनता—रहित है, जो अदीन वृत्ति वाला है, जो प्रशंसा नहीं करता है।

सूत्र ११ में बताया है कि जो उपर्युक्त गुणों के विरुद्ध आचरण करे, वह असाधु है।

नोटः—उक्त प्रमाण के आधार पर ये तेरहपंथी असाधु ठहरते हैं। इन लोगों को जहाँ सरस आहार मिलता है और उसे ज्यादह लेने की इच्छा हो जाती है (जो इन के लिए स्वभाविक ही है) तो वे गृहस्थ से बोलते हैं कि 'भाया, तुम भी व्रत निपजा लो, अपने हाथ से दो'। इस तरकीब से ये लोग विशेष रूपसे अर्थात अधिक मात्रा में सरस आहार प्राप्त कर लेते हैं। जहाँ कहीं इन्हें सरस आहार नहीं मिलता वहाँ ये लोग बोलते हैं कि 'भाया, अब इच्छा नहीं है'। यह नीरस आहार कम से कम लेने की इनकी तरकीब है। स्पष्ट है कि सरस आहार लेते समय ये गृहस्थ से जो व्रत निपजाने की बात कहते हैं.वह कोरा शब्द-जाल है क्योंकि यदि इनके शब्दों में सच्चाई और ईमानदारी होती तो नीरस भोजन के समय भी ये ऐसा ही बोलते, लेकिन वहाँ उलटा ही बोलते हैं। स्पष्ट है कि यह अपनी जिव्हा-लोलुपता की तृप्ति करने के लिए तरकीबें हैं।

(१५) उत्तरा० अ० ८ सू० १४-१५ में कहा गया है कि जो साधु सरस भोजन में गृद्ध-दृष्टि अथवा लोलुपता रखता है वह असुर कुमार जाति मे उत्पन्न होता है और आगे चल कर संसार मे खूब परिभ्रमण करता है।

(१६) उत्तरा० अ० १७ सू० १५ में वार वार दूध-दही भोगने वाले को पापी श्रमण कहा गया है।

नोट—जैसा कि पहिले वताया जा चुका है, ये तेरहपंथी लोग दूध, दही, मक्खन का गोला, मगनमाई आदि की घोटी

हुई खीर, रबड़ी आदि बहुत-सी चीजें महीने के ३० दिन में २७-२८ दिन अवश्य ग्रहण करते हैं।

(१७) उत्तरा० अ० १६ सू० ८ में मर्यादा से ज्यादह भोजन करने के लिए मना किया गया है।

नोट—रसयुक्त भोजन करने की वजह से तेरहपंथी लोग मर्यादा से बहुत ज्यादह खा जाते हैं, जितनी भूख होती है उससे ज्यादह पेट को ठूस लेते हैं।

(१८) भगवती श० ७ उ० १ सूत्र १४ में बताया है कि मुर्गी के अंडे के बराबर प्रमाण वाले ग्रास से अधिक आहार करना मर्यादा से अधिक भोजन करना है जो दोषयुक्त है, पाप है।

(१९) भगवती० श० ७ उ० १ सू० १२ में बताया है कि मूर्च्छित तथा गृद्ध बन कर आहार करने वाला इंगल-दोष का सेवन करता है [अर्थात् उस का साधुत्व कोयला हो गया है; नष्ट हो गया है], निंदा करते हुए आहार करना धुम्र दोष है [अर्थात् उसके साधुत्व का धुवाँ उड़ गया है—लुप्त हो गया है]।

नोट—तेरहपंथियों के सामने जब नीरस आहार आ जाता है तो निंदा करते हैं। कैसी निंदा करते हैं यह बात नीचे लिखी हुई घटना से स्पष्ट हो जायगी:—

एक दिन पेठे की मिठाई आई थी। वह कुछ नीरस थी। आचार्यजी के बड़े भाई चंपालालजी और कुंदनलालजी दोनों

साज की शामिल पांती में वह मिठाई आगई। पेठे की नीरसता का चंपालालजी को पहिले से ही पता था। जब इन दोनों के साज में हिस्सा होने लगा तो पेठे का एक हिस्सा दूसरे से बड़ा कर दिया गया और बड़ा वाला हिस्सा कुंदनलालजी के साज वाले हनुमानमलजी ने ले लिया। जब आहार को बैठे और चौथमलजी ने वह पेठा मुँह में डाला तो मुँह बिगाड़ दिया और और बोले—"यह दलिद्र कौन लाया"। हनुमानजी बोले कि मुझे मालूम न होने से बड़ी पाती करके मैंने ले लिया लेकिन चम्पालालजी को ख़बर थी इसलिए उन्होंने एक बड़ी पाँती की। जो चम्पालालजी की पांती में परोसा गया वह इधर-उधर घूमता रहा। पाठक गण विचार करें कि उनके उस व्यवहार में और निंदा में क्या अन्तर रह गया?

[२०] सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २१ में कहा गया है कि व्यवहार शुद्धि के लिए जो आहार तो निर्दोष लेते है लेकिन उसमें संयोग दोप लगा देते हैं वे भी संयम से दूर है। वैसा ही छोटा-बड़ा स्नान अचित पानी से करने वाले और कपड़ा धोनेवाले के लिये विधान है।

(२१) उत्तरा० अ० ८ सू० ११ व १२ में जिव्हा-लोलुपी न होते हुए (रस में गृद्ध-सरीखी लोलुपता न रखते हुए) शरीर निर्वाह के लिए नीरस आहार लेने का विधान है। सूत्र १२ में चौंकड़ा (घूघरी) आदि रूखा सूखा आहार करने का उपदेश

है। जिसमें सच्चा साधुत्व है उन्हें ऐसा ही सादा और नीरस भोजन करना चाहिए।

(२२) आचार० प्र० श्रु० अ० ५ उ० ३ सूत्र १५ में बताया है कि रूखा आहार करने वाले ही मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

(२३) दशवै० अ० १० सू० १७ में उसे साधु बताया गया है जो लोलुपता-रहित है, रस-गृद्ध नहीं है, जो अपरिचित कुल में गोचरी करता है और जो आदर पूजा का त्यागी है।

(२४) ज्ञाना० अ० ४ सू० १ के सेवट उपसंहार २ में पाँचों इन्द्रियों को वश में न करनेवाले के लिए चतुर्गति का भ्रमण कहा है।

नोट—जिन्हें जिव्हा (रसना) इन्द्रिय पर वश नहीं है अर्थात् जो जिव्हा लोलुपी हैं वे उक्त प्रमाण के आधार पर चतु-र्गति में भ्रमण करने वाले हैं इसलिए पाठक गण सोच सकते हैं कि ये जिव्हा-लोलुपा तेरहपंथी कहाँ तक मोक्ष मार्ग के अनुगामी हैं?

(२५) दशवै० अ० २ सू० २ में यह उल्लेख है कि जिस को मजबूरी से आहार व वस्त्रादि न मिले (भोग न मिले) परंतु उसकी इच्छा करे, वह त्यागी नहीं है।

नोट—स्वेच्छा से किया हुआ त्याग—जो चीज उपलब्ध हो सके उसका त्याग—ही सच्चा त्याग है। मजबूरी से किसी चीज को ग्रहण न कर सकना त्याग नहीं है क्योंकि त्याग में त्यागी

हुई वस्तुकी लालसा नहीं होती जब कि ऊपर बताई हुई मजबूरी की हालत में वह लालसा बनी रहती है।

(२६) दशवै० अ० ४ सूत्र २७ में कहा है कि जो कपट-रहित है, सरल है, क्षमाशील है, संयमी है, परिग्रह-विजयी है वही सुमतिवाला है।

(२७) उत्तरा० अ० १५ सूत्र २ में उसे ही भिक्षु कहा है जो रागद्वेषरहित हो और जिसमें मूर्च्छा भी न हो।

(२८) दशवै० अ० २ सू० ३ में मिलते हुए भोगों को छोड़नेवाले को ही त्यागी बताया है।

(२९) प्रश्न० व्या० स्वर द्वारा २ अ० ३ सू० ३ में बताया है कि जो शुद्धाचारी तो नहीं है लेकिन अपने को शुद्धाचारी कहता है वह आचार का चोर है।

नोट—पाठक गण विचार करें कि क्या ये तेरहपंथी लोग ऐसे चोर नहीं हैं?

(३०) निशी० उ० ३ सूत्र ९ और २७ में बताया है कि यदि साधु वाणी की कला से आहारादि प्राप्त करे तो उसके लिए लघुमासिक है।

(३१) आचा० श्रु० २ पिन्डे० अ० १० उ० ३ सू० ३ में बताया है कि साधु को जीमण में न जा कर बहुत घरों से थोड़ा थोड़ा आहार लेना चाहिए।

नोट—जहाँ स्वादिष्ट आहार मिलता है वहाँ ये तेरहपंथी लोग इकट्ठा आहार ले लेते हैं और बहुत-से घरों से थोड़ा थोड़ा

आहार लेने की तकलीफ़ नहीं उठाते है। इनके आचार्यजी तो यहाँ तक कहा करते हैं कि अगर किसी रस्म या अन्य कार्य के बाद मिठाई बचे और वह चार मन भी हो तो उस सब मिठाई को लेने में भी कोई दोष नहीं है। हद हो गई।

(३२) निशी० उ० १६ सू० ३६ व ३७ में यह उल्लेख है कि चारों आहार को पृथ्वी पर या बिछोने पर रखने में, रखाने मे, रखने को अच्छा जानने में दोप है और इसके लिए लघु चौमासी नामक प्रायश्चित है।

नोट—ये तेरहपंथी लोग बिछौना बिछा कर हिस्से करते हैं।

(३३) आचा० प्र० श्रु० अ० २ उ० ६ सू० ४ में यह वर्णन आया है कि जो रस-लोलुपता और ममत्व-बुद्धि का त्याग करते हैं वे ही सच्चे साधु हैं और वे ही मोक्ष-मार्ग के सच्चे अनुगामी है।

(३४) ज्ञाना० प्र० श्रु० अ०७ सू० १९ में बताया है कि जिस तरह उज्झिता ने साड़ी (धान) के दाने ले कर फेंक दिए इसी तरह यदि साधु महाव्रत ले कर प्रमादवश उसको छोड़ दे तो वह चतुर्गतिमय संसार में भ्रमण करता है।

(३५) सूत्र २२ में भगोती जैसे साड़ी के दाने निगलगई वैसे ही ये जिव्हा-लोलुपी तेरहपंथी लोग महाव्रत को निगल जाते हैं।

नोट—जिव्हा-लोलुपी साधु को अनन्त संसार मे परिभ्रमण करने वाला बताया है। ऐसे साधु की पूजा होती हो तो भी वह

अनन्त दुख का भागी अवश्य है। ये तेरहपंथी साधु निश्चय ही अनन्त संसार का परिभ्रमण करेंगे और अनन्त दुख उठायँगे।

(३६) [क] सूत्र २३ मे आया है कि रक्षीता ने लिए हुए साड़ी के दाने पेटी में इन्तज़ाम के साथ रखे। इसी तरह कोई महाव्रत अंगीकार करके उसे सुरक्षित तो रखे लेकिन उसमें कोई वृद्धि न करे तो वह पूजनीय है। [ख] सूत्र २७ में लिखा है कि रोहिणी ने साड़ी के दानों की वढ़ौतरी की इसलिए उसने प्रतिष्ठा पाई। इसी तरह जो साधु महाव्रत अंगीकार करके उसमें वृद्धि करे वह प्रतिष्ठा का पात्र है।

(३७) आचा० प्र० श्रु० अ० ६ उ० ४ सू० ८ में, आज्ञा के बाहर जो उपेक्षा करते हैं, उन्हें हिंसक बताया है।

(३८) प्रश्न० व्या० दुती० स्वर २ द्वार २ अ० १ सू० ११ में उसे ही साधु बताया है जो संयोग दोष न लगाए, जो अच्छे-बुरे की व्याख्या न करे।

नोट—जैसा कि पहिले कहा भी जा चुका है—ये तेरहपंथी लोग अच्छे-बुरे की व्याख्या खूब किया करते हैं। आचार्यजी के बड़े भाई चंपालालजी कहा करते है कि "बम्बई वाले मगन-भाई बड़े अच्छे दातार हैं, अच्छा खाना खाते हैं। आज तो मगनभाई के यहाँ गोचरी है। एक झोली से क्या होगा, २-२ तो लेओ। यह खीर मगन भाई की है। इसकी क्या तारीफ की जाय ? खूब ही बढ़िया है। इसका भाई हीराभाई तो दलिद्र है,

दलिद्र खाना खाता है, आदि-आदि। अब पाठक गण विचार करें कि इन साधु वेषधारियों मे साधुत्व कहाँ है ?

(३९) प्रश्न व्या० दु० स्त्र अ० १ सू० १० भा० ३ मे अखंड चरित्र वाले को और सद्भावना वाले को सच्चा साधु बताया है, और उसके लिए बहुत-से घरों से थोड़ा थोड़ा आहार करने का विधान है, जैसे कि प्रतिक्रमण में "गोय चरियाये" द्वारा गाय की तरह गोचरी करने का आदेश है ही।

(४०) उत्त० अ० २५ सू० २२ मे कहा गया है कि जिन्होंने इन्द्रिय-दमन करके शरीर को तपा कर कृश बना दिया है वे सुव्रती है, वे ही सुसाधु है, वेही निर्वाण-प्राप्ति के योग्य हैं।

(४१) प्रश्न व्या० स्व० २ अ० ४ सू० ११ भा० ५ मे सरस आहार लेना मना किया है। स्निग्ध आहार जो काम-वर्द्धक है उसका त्याग करे, दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड़, खीर, शक्कर मिस्री सहित मदिरा और माँस वँगरह का त्याग करे—ऐसा साधु के लिए आदेश है।

(४२) दशा० श्रु० दिशा ५ सू० ४ मे उत्तम आचार पालने वाले को देवदर्शन होना बताया है।

भिक्षुजी का कथन

सरस आहार ले विना मर्यादा, तो बधे देहिरी लोथोजी।
काच मणी प्रकाश करे ज्यूँ, कुगुरु माया थीथोजी॥

—सा० ॥३८॥

— शी० शु० भा० २ ढा० १

पाठः—"जे मायरं च पियरं च हिच्चा गारं तहा पुत्तपसुं धणं च । कुलाई जे धावइ साउ गाई । आहाहु से सामणी यस्स दूरे ॥ २३ ॥

कुलाई जे धावइ साउगाई । आघाति धम्मं उदराणु गिद्धे । आहाहु से आयरियाणं संयं से । जो लावएज्जा. असणस्स हेऊ ॥२४॥

णिक्खम दीणे पर भोयणंमि । मुहमंगलीए उदराणु गिध्दे ॥ निवार-गिद्ध व माहावरा हे । अदूरए एहइ घातमेव ॥ २५ ॥

अन्नस्स पाणस्सिह लाइयस्स अणुप्पियं भासती सेव-माणे । पासत्थयं चेव कुसीलयं च । निस्सारए होई जहा पुलाए ॥ २६ ॥

अण्णा पिंडेणं हियासएज्जा । णो पूयंणं तवसा आव-हेज्जा ॥ सद्देहिं रुवेहि असज्जमाणं । सव्वेहि कामेहि विणीय गेहिं ॥२७॥

सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे । सव्वाइं दुक्खाइं तिति-क्खमाणे ॥ अखिले अगिद्धे अणि एय चारी अभयंकरे । भिक्खु अण विलप्पा ॥२८॥

—सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २३–२८

शब्दार्थ—जे०—जो, मा०—माताको, पि०—पिताको, हि०—छोड़कर गा०—घरको, ता०—तथा, पु०—पुत्र, प०—पशु, ध०—धन, च०—और, कु०—कुल में, जे०—जो, धा०—दौड़ता है, सा०—स्वादुक,

अ० — अथ, आ० — कहा, से० — वह, सा० — साधुत्व से, दू० — दूर ॥ २३ ॥

कु०—अच्छे घरो में, जे० — जो, धा० दौड़ता है, सा० — स्वादुक, आ० — सुनाताहूँ, ध० — धर्म, उ० — उदरके, गि० —गृध्द, अ० —अथ, आ० — कहा, से० — वह, आ० —अच्छा, संयम के, सं० — शतांश, जो० — जो, ला० — लाए, अ० — अज्ञान के, हे० — हेतु ॥२४॥

णि० — निकल कर, दि० — दिन, प० — दूसरे के, भो० — भोजन में, मु० — मुखमांगलीक, उ० — उदर के, गि० — गृध्द, नि० — साल, गि० — गृध्द, य० — बड़ा व मूकर, अ० — शीघ्र, ए० — जाता हूँ, घा० — घात ॥२५॥

अ० — अन्न का, प० — पानी का, लो० — वस्त्रादि का, अ० — अतिप्रिय, भा० — कहता है, से०—सेवक जैसे, पा० — पार्श्वस्थ, चे० — निश्चय, कु० — कुशीलिए, नि० — निस्सारी, हो० — होता है, ज० — जैसे, पु० — पुलाक ॥ २६ ॥

अ० — अज्ञात कुल का, पिं० — आहार से, हि० — सहन करे, णो० = नही, पू०—पूजा, त० — तपस्वी, आ० — इच्छे, स० — शब्द से, रू० — रूपसे, अ० — इच्छा करे, स० — सब का, का० — काम, वि० — छोड़कर, गे० — गृध्दपना ॥ २७ ॥

स० — सब, स० — संग, अ० — छोड़कर, धी० — धैर्य, स० — सब, दुं० — दुख, ति० — सहन करता हुआ, अ० — सपूर्ण, अ० — अगृध्द, अ० — अप्रतिबध्द, अ० — अभय, क० — करे, भि० — साधु, अ० — निर्लोपी ॥ २८ ॥

भावार्थ—श्री० तीर्थंकर भगवान कहते हैं कि जो माता, पिता, पुत्र, पशु, घर, धन आदि को छोड़ कर साधु बनता है परन्तु रसगृद्धि में आसक्त हो कर अच्छा आहार लेने के लिए बड़े कुल में परिभ्रमण करता है, वह साधुत्व से दूर है ॥२३॥

जो साधु स्वादुक कुल में रस-लंपटी बन कर गोचरी करने को जाता है और जो साधु आहार के लिए दूसरे की प्रशंसा करता है वह शत प्रतिशत साधुत्व से दूर है ॥२४॥

जो अपने गृह-कुटुम्ब का त्याग करके अन्य घर के भोजन में गृद्ध बनते हैं, उदर-पोषण के लिए गृहस्थ की प्रशंसा करते हैं, जैसे सूकर [सुअर] चावल के दाने में गृद्ध होता हुआ तुरन्त घात को प्राप्त होता है उसी तरह ये कुशील का सेवन करने वाले संसार में अनन्तकाल तक जन्म-मरण करते हैं ॥२५॥

ये असंयमी कुशील लोग अन्न के लिए, पानी के लिए तथा वस्त्रादि के लिए जिसको जैसा रुचे वैसा बोलते हैं। जैसे धान्य-रहित तुप निस्सार होता है वैसे ही ये पाखण्डी लोग सदाचार से भ्रष्ट पार्श्वस्थ भाव को प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

अज्ञात कुल मे आहार पानी ले, अन्त प्रान्त आहार से संयम पाले परन्तु दीनता न धारण करे, राजादिक मुझे पूजेंगे ऐसी इच्छा करके तपस्या करे तथा शब्द रूप में अनासक्त हो कर और सब तरह के काम भोगों में अगृद्ध होता हुआ विचरे, वह सच्चा साधु है ॥ २७ ॥

वह [सच्चा] साधु सब तरह के संग से रहित, विवेक-शील, सब दुखों को सहन करने वाला, ज्ञानादि से परिपूर्ण, काम भोग की अभिलाषा रहित, अप्रतिबंध-विहारी, सब जीवों को अभय करने वाला, विषय और कषाय रहित होता है ॥२८॥

टीकाः—उपर्युक्त सूत्रों में सच्चे और झूठे साधु दोनों का वर्णन किया है। सूत्र २३-२४-२५-२६ में असाधु अर्थात् पाखण्डी और झूठे साधु का वर्णन है। और सूत्र २७ व २८ मे सच्चे साधु का वर्णन है। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि जिन्हा-लोलुपता रखने वाला, स्वादुक कुल में आहार करने वाला, साधु सच्चा साधु नहीं है। वह साधु-वेषी होते हुए भी साधुत्व से दूर है। जो अपना घर तो छोड़ देता है लेकिन दूसरे के घर के भोजन मे लोलुपता रखता है वह दंभी है, क्योंकि अपना घर छोड़ने से क्या हुआ जब मोह न छूटा, जब तृष्णा न छूटी। ऐसे घर छोड़ने वाले पाखण्डियों से तो जो अपना घर छोड़ कर दूसरे के भोजन मे लोलुपता—गृद्ध-दृष्टि—रखते हैं, वे गृहस्थ अच्छे है जो अपने घर की रूखी सूखी रोटियों मे ही सन्तोप रखते हैं। जो अन्न-पानी आदि द्रव्य के लिए दूसरे की रुचि के अनुसार बोले, दूसरे की प्रशंसा करे, वह खुशामदी है, स्वार्थी है, दंभी है इसलिए ऐसा व्यक्ति साधुत्व का ढोंग तो कर सकता है पर साधुत्व पा नहीं सकता।

अब पाठकगण विचार करे कि उक्त प्रमाण के अनुसार ये तेरहपंथी लोग कैसे ठहरते हैं?

पाठः—अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भा दंते अमुच्छिए।
नरसहाए भुञ्जिजा भवणहाए महा मुणि॥ १७॥

उत्तरा० अ० ३५ सूत्र १७

शब्दार्थः—अ०—अच्छे आहार में लोलुपता रहित, न०—नहीं, र०—रस में, घृतादि में, गि०—गृद्ध बने, जि०—जिन्हा को वश में

करने वाला, अ० – सरस आहार मे मूर्च्छा रहित, न० – नही, र० – स्वाद का लालच न करे, भु० – अन्नादिक भोगे, भ० – सयमका पालन किया, अ० – अर्थं आहार करे, म० – बड़ा, मु० – साधु ॥१७॥

भावार्थ—महामुनि सरस आहार की प्राप्ति से खुश नहीं होता है, उसमें लुब्ध नहीं होता है, मुझे सरस आहार मिले—ऐसी इच्छा नहीं करता है। वह रसेन्द्रिय का विजयी होता है, अच्छे आहार में मूर्च्छा रहित होता है, स्वाद में आसक्त नहीं होता, धातु-वृद्धि के लिए आहार नही करता है, केवल संयम का पालन करने के लिए ही आहार का सेवन करता है।

टीका—यहाँ बताया गया है कि साधु शरीर-पुष्टि के लिए या धातु-वृद्धि के लिए आहार नहीं करता है, बल्कि वह तो इस उद्देश्य से ही आहार करता है कि उसका शरीर संयम पालन करने के योग्य बना रहे। स्वाद लेने के लिए भी वह भोजन नहीं करता है क्योंकि वह जिव्हा-इन्द्रिय पर विजय प्राप्त किए होता है। वह जिव्हा-इन्द्रिय को अपने वश में रखता है, जिव्हा-इन्द्रिय के वश में वह नहीं होता है। इस-लिए जिव्हा की उच्छृंखलता–जिव्हा की रस-लोलुपता–का अनुभव उसे नहीं हो पाता है क्योंकि जिव्हा उसके मन के वश में होती है और मन उसके वश में होता है और अनुभव करने का काम मन द्वारा ही होता है। साधुत्व ऐश आराम नहीं है, ऐयाशी नहीं है। वह एक साधना है—एक तपस्या है, और तपस्वी को संयमी होना अनिवार्य है अतः यहाँ यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया

गया है कि सच्चे साधु में रस-लोलुपता हो ही नहीं सकती, जिसमें यह हो वह सच्चा साधु नहीं है।

स्पष्ट है कि ये तेरहपंथी लोग इस कसौटी पर कसे जायँ तो थोड़े नहीं बल्कि बहुत गिरे हुए, संयम से बहुत दूर, साधु-वेषधारी असाधु ठहरेंगे।

पाठ—

सुद्धे सणाओ नच्चाणं, तत्थ ठवेज्ज भिक्खु अप्पाणं।
जायाए घासमेसेज्ज्या, रसगिद्धे न सिया भिक्खाए ॥११॥
पन्ताणि चेव सेवेज्जा सीयपिण्डं पुराण कुम्मासं।
अदु वक्कसं पुलागं वा जवणट्ठाए निसेवए मंथु ॥१२॥

उत्त० अ० ८ सू० ११-१२

शब्दार्थ—सु०—दोपरहित ते पण, ए०—एषणा समिति सहित आहार को, न०—जाने को, त०—ऐसे आहार के लिए, ठा०—थापे, भि०—साधु, अ०—अपनी आत्माको, जा०—संयम निर्वाह के लिए, घा०—आहारको, ए०—गवेषणा करे, र०—रस के लिए, गि०—गृद्ध, न०—नहीं, सि०—होना, भि०—भिक्षा के लिए ॥११॥

पं०—नीरसको, च०-इकट्ठा, समुच्चए, से०-सेवन करे, सि०—शीतल, पि०—आहार को, पु०—पुराने धान को, कु०—उड़द को, अ०—अथवा, व०—मूंग उड़द आदि एकत्रित, पु०—चना आदि, वा०—अथवा, ज०—शरीर के निर्वाह के लिए, नि०—भोगे, म०—बोरकुट आदि।

भावार्थ—भिक्षा के लिए निकला हुआ साधु एषणा शुद्धि जान कर उसमें अपनी आत्मा को स्थापित करे, याचना करके आहार के ग्रास की गवेषणा करे, परन्तु रस में गृद्ध न बने ॥११॥

शरीर के निर्वाह के लिए आहार की आवश्यकता होती है इसलिए मसाले तथा घृतादि रहित नीरस आहार, शीतल (ठंडा) आहार, पुराने धान्य का आहार, मूंग उड़द चने आदि के उबाले हुए बाकुले और बोर का कूट आदि जो कुछ भी मिले साधु उसका सेवन करे और संतोषभाव धारण करे ॥१२॥

पाठ—

तवास्सियं किसं दन्तं, अवचियं मंसं सोणियं ।
सुव्वयं पत्त निव्वाणं तं वयं बूम माहणं ॥२२॥
—उत्त० अ० २५ सूत्र २२

शब्दार्थ—त० – तपस्वी, कि० – दुर्बल, द० – इन्द्रियों का दमन करनेवाला, अ० – उपचय रहित, म० – मांस, सो० – रक्त, सु०—सुव्रती, प० – प्राप्त हुआ, नि० —निर्वाण, तं० – उसने, व० – हम, बू० – कहिए, मा० – महान् ॥

भावार्थ—जिन्होंने इन्द्रियों का दमन करके, बारह तरह का तप करके, अपने शरीर का रक्त, मांस सुखा कर शरीर को सूखा बना दिया है, वे सुव्रती हैं और निर्वाण प्राप्त करने के योग्य हैं; वे महान् हैं ।

टीका—यहाँ माल मलींदे खानेवालों को, मजे से रस-युक्त भोजन चाटने और पेट ठूसनेवालों को साधु नहीं कहा है बल्कि उन्हें साधु कहा है जो इन्द्रिय-विजयी हैं और जिन्होंने तपस्या से अपने शरीर को सुखा दिया है ।

पाठ—

इह जीवियं अणिय मेत्ता, प॰भट्ठा समहि जोएहिं।
ते कामभोग रस गिद्धा, उव॰वज्जंन्ति आसुरे काए ॥१४॥
तत्तो विय उव्वट्ठिता, संसारं बहुं अणुपरियडन्ति ॥
बहु कम्मलेव लित्ताणं, वोही होई सुदुल्लहा तेसिं ॥१५॥
—उत्त॰ अ॰ ८ सूत्र १४ व १५

शब्दार्थ—इ॰ – इस मनुष्य जन्म के लिए, जी॰ – सयम का जीवन, अ॰ – तप सयम नही करता हुआ, प॰ – भ्रष्ट, स॰ – समाधि से, जो॰ – योग द्वारा, ते॰ – वे, का॰ – कामभोग, र॰ – रस के लिए, गि॰ – गृद्ध होता हुआ, उ॰ – उत्पन्न होता है, अ॰ – असुर कुमारादिक में, का॰ – उसके शरीर के लिए ॥१४॥

त॰ – वहाँ से, वि॰ – फिर, य॰ – फिर, उ॰ – निकले, सं॰ – संसार में, ब॰ – बहुत, अ॰ – बारम्बार परिभ्रमण करता है, ब॰ – बहुत, क॰ – कर्म, ले॰ – बन्धन करके, लि॰ – बन्धा गया, बो॰ – सम्यक्त्व का लाभ, हो॰ – होना, सु॰ – अत्यन्त, दु॰ – दुर्लभ है, ते॰ – उस जीव को ॥१५॥

भावार्थ—जो साधु इस मनुष्यजन्म में तपसंयमादिक से अपनी आत्मा को वश में नहीं करते, जो समाधियोग से भ्रष्ट होते हैं, और जो कामयोग में गृद्ध बने हुए हैं, वे असुरकुमार की काया में उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

वे वहाँ से निकल कर संसार में बहुत परिभ्रमण करते हैं। ऐसे साधुओं (?) पर कर्मों का इतना गहरा आवरण होता है कि उनको (साधुत्व तो क्या) सम्यक्त्व प्राप्त करना भी दुर्लभ है ॥ १५ ॥

पाठ—

दुद्ध दही विगईओ, आहा रेई अभिक्खणं ।
अरते य तवो कम्मे, पाव समणेत्ति वुच्चई ॥१५॥

—उ० अ० १७ सूत्र १५

शब्दार्थः—दु० – दूध, द०– दही, वि० – विगय (घृतादि), आ० – आहार, अ० – बारम्बार, अ० – उसमें आसक्ति, य० – फिर, त० – तपस्या, क० – करने के लिए, पा० – ये पापी, स० – श्रमण, ति० – ऐसा, बु० – कहिए ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो दूध, दही आदि घृतादि विगय का बारम्बार आहार करे और तपश्चर्या करने में प्रसन्न न रहे, उसे पापी श्रमण कहते हैं ।

टीका—यहाँ दूध-दही बार-बार भोगने वाले और तपश्चर्या न करने वाले को पापी श्रमण बताया है । ये तेरहपंथी ऐसे ही पापी श्रमण हैं क्योंकि ये लोग दूध-दही तो हमेशा ही खाते है बल्कि ये लोग तो रोज़ माल उड़ाते हैं, कम-से-कम ३०-४० द्रव्यसे अधिक-से-अधिक २५० द्रव्य तक भोगते हैं । ये लोग कैसे कैसे रसयुक्त माल, फल, मेवा, और मिठाइयाँ आदि खाते हैं यह पहिले बताया ही जा चुका है ।

नोट—ये लोग अपने सब काम खाने के लिए माल मिलने की सुविधा को देखते हुए करते है, यहाँतक कि इनकी धार्मिक क्रियाएँ भी इसी दूषित दृष्टि-बिन्दु को लिए होती हैं । कोई कोई सालभर में ऋषिपंचमी को उपवास कर लेते हैं । जब इन्हें चौमासा करना होता है तो अमुक जगह मे कितने

गृहस्थ है कैसे हैं, आदि ये सब जान कर वहाँ चतुर्मास करते हैं, माल मिलने की सुविधा जहाँ नहीं होती है वहाँ चतुर्मास नहीं करते हैं। कोई अगर इनसे पूछता है कि आप ऐसी छानबीन क्यों करते हैं तो कहते है कि महाराज को खबर करनी होती है, साधु कोई लकड़ी के तो हैं नहीं, जहाँ तकलीफ हो वहाँ चौमासा करना मुश्किल है—आदि आदि।

पाठ—

विभूसा इत्थि संसग्गो, पणीयं-रस-भोयणं।
नरस्सत्त गवेसिस्स, विसं ताल उडं जहा ॥५६॥

—दशवे० अ० ८ सूत्र ५६.

शब्दार्थः—वि० – विभूषासहित, इ० – स्त्री का, सं० – संसर्ग, प० – घीकी बिन्दुओ का झरता हुआ आहार, भो० – ऐसे तीन बोल कौन छोड़ता हूं। न०—साधु, अ० – आत्मा का, ग० – गवेषणा करने वाला, वि० – विष, ता० – तालपुट जहर, ज० – खाने से थोड़ी देर में प्राण घात होता है। ऐसे भोग भोगने से अनन्त जन्ममरण का भागी बने।

भावार्थ—आत्मा की गवेषणा करने वाले पुरुष को विभूषा स्त्रियों का संसग और घी की बूँदों से झरता हुआ रसयुक्त आहार तालपुट विष के समान है।

टीका—ये तेरहपंथी लोग रोज़ घी की बूँदों से झरते हुए रसयुक्त-पदार्थ-रूपी तालपुट ज़हर को खा कर अपने संयम का और अपनी आत्मा का घात करते हैं। कैसा भी पदार्थ हो बिना खूब घी के इन लोगों को वह पसंद नहीं आता। बाजरे का खिचड़ा भी होगा तो वह भी इन के लिए विशेष रूप से घृतयुक्त

होना चाहिए। गृहस्थों को ये लोग ऐसी भाषा में समझा देते है कि गृहस्थ स्वयं पदार्थ को अच्छी तरह घी से भर कर देते है। ये लोग गृहस्थों से कहा करते हैं—'हम को एक कल्प-प्रमाण से अधिक घी ऊपर से लेना नहीं है। अगर पहिले से ही पदार्थ के अन्दर घी हो तो वह ग्राह्य है।' ऐसी भाषा से वे एक तरह से गृहस्थ से पदार्थ मे खूब घी डालने का संकेत कर देते हैं और अपना काम निकाल लेते हैं। यह कैसा दम्भ है?

पाठ—

मुणी मोणं समायाय धुणे कम्म-सरीरगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा संमत्त दंसिणो। एस ओहंतरे मुणी तिण्णे मुत्ते विरय वियाहिते-त्तिबेमी ॥१५॥

आचा० १ श्रु० अ० ५ उ० ३ सू० १५

शब्दार्थ—मु० – मुनि, मो० – साधुत्व, स० – अंगीकार कर के, धु० – दूर करे, क० – कर्म, स० – शरीर, प०–हलका, लू० – रूक्ष, से० – सेवन करते है, वी० – वीर, सम्यकदृष्टि, ए० – वही, ओ० – भव, त० – तरने वाले, मु० – साधु, ति० – तिरे हुए है, म० – मुक्त हुए हैं, वि० – विरक्त हुए हैं, वि० – कहा है, ति० – ऐसा मैं कहता हूँ।

भावार्थ—साधु ही ऐसा संयम अंगीकार करके शरीर को सुखाते हैं। ऐसे सम्यक्दृष्टि वीर पुरुष रूखा-सूखा आहार करते हैं और ऐसे ही पराक्रमी सब पापों से छुटकारा पा कर भवसागर को तर गये है और उन्हीं की प्रशंसा की गई है। यह मैं तीर्थंकर के कथनानुसार कहता हूँ।

टीका—यहाँ रूखा-सूखा आहार करने वालों को हीं मोक्ष-मार्ग का अनुयायी कहा गया है। इस कसौटी पर इन तेरहपंथियों को कसा जाय तो ये खोटे उतरेंगे—इनमें से एक भी मोक्षमार्ग का अनुगामी सिद्ध न होगा, क्योंकि ये लोग तो रूखा-सूखा आहार न ले कर रसयुक्त तर माल लेते हैं, कहीं रूखा-सूखा मिलता है तो 'नहीं चाहिए'—ऐसा भाव प्रकट करके थोड़ासा ले लेते हैं और जहाँ तर माल मिलता है वहाँ पात्रा भर लेते हैं।

पाठ—

जे ममाईयमतिं जहाति से जहाइ ममाइतं।
सेहु दिट्ठपहे मुणी जस्स णत्थि ममाइतं ॥ ४ ॥
आचा० प्र० श्रु० अ० २ उ० ६ सूत्र ४

शब्दार्थः—जे० – जो, म० – ममत्व, बु० – बुद्धि, ज०– छोड़ता है, से० – वे, म० – ममत्व, से० – व, हु० – निश्चय, दि० – दृष्टि, मु० – साधु, ज० – छोड़ते है, मु० – साधु, ज० – जिनके, ण० – नही, म० – ममत्व, ॥४॥

भावार्थ—जो ममत्व-बुद्धि का त्याग करते हैं वे ही मोक्ष-मार्ग को जानने वाले साधु हैं।

पाठ—

अलोलो भिक्खू न रसेसु गिध्दे, उच्छं चरे-
जिविय नाभि कंखी। इड्ढिं च सक्कारण पूयणं
च चएट्ठियप्पा अणि हें जे स भिक्खू ॥ १७ ॥
—दशवे० अ० १० सू० १७

शब्दार्थ—अ० – लोलुपता रहित, भि० – साधु, न० – नहीं, र० – सरस आहार के लिए, गि०–गृद्ध होते, उ० – थोड़ा थोड़ा लेते, च० – विचरे, जि० – जीना, न० – नही, अ० – इच्छा करे, इ० – ऋद्धिको, च० – फिर, स० – सत्कार वस्त्र आदिका लाभ, पू० – वचन की स्तुति चाहे नहीं, च० –फिर, च० – लालच छोड़े और ज्ञान ग्रहण करे, अ० – आत्मा, अ० – प्रेम रहित, जे० – जे, स० – वह, भि० – साधु ॥

भावार्थ—जो साधु लोलुपता रहित किसी प्रकार के रस में गृद्ध नहीं होता है, अपरिचित कुल में गोचरी करता है, जीने की इच्छा नहीं करता है, ऋद्धि सत्कार व पूजा का त्याग करता है, जो ज्ञानादिक में स्थिर आत्मा वाला है, और कपट-माया रहित है वह साधु है ।

पाठ—

जो पव्वईत्ताण माहव्वयाइं, सम्मं च नो
फासयई पमाया। अनिग्ग हप्पा य रसे सु
गिद्धे न मूलओ छिन्नइ बंधणं से ॥ ३९॥

आउत्तया जस्स य नत्थि काई इरि याए
भासाए नेहसणाए । आयाण निक्खेव
दुंगुच्छणाए, न वीर जायं अणु जाई मग्गं ॥४०॥

चिरं पि से मुण्ड रुई भवित्ता, अथिरव्वए
तव नियमेहि भट्टे। चिरं पि अप्पाण
किले-सईत्ता न पारए होइ हु संपराए ॥४१॥

पुल्लेव मुट्ठी, जह से असारे-आयन्तिए कुडक
हावणे वा । राढामणी वेरुलीयप्पगा से,
अमहग्घए होई य जाणएसु ॥ ४२ ॥

कुशील लिंगं इह धार इत्ता इसिज्झ यं
जीविय वूहइत्ता । असंजए संजय लप्प माणे,
विणिग्घाय मागच्छई से चिरपि ॥४३॥

विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणई सत्थ जह
कुग्गहियं । एसो वि धम्मो विसओ व वन्नो,
हणई वेयाल इवा विवन्नो ॥ ४४ ॥

जे लक्खणं सुविण पउज्जमाणे, निमित्त को
ऊहल संपगाढे । कुहेड विज्जा सवदार जीवी न
गच्छई सरणं तम्मि काले ॥ ४५ ॥

तमं तमेणेव उसे असीले सया दुही विप्परिया
मुवेत्ति । संधावती नरंग तिरिक्ख जोणिं,
मोणं विराहेत्तु असाहुरूवे ॥ ४६ ॥

उद्देसियं कियगडं नियागं, न मुञ्चइ किंचि
अणे साणिज्जं । अग्गीविवा सव्व भक्खी
भवित्ता, इतो चुए गच्छइ कट्टुपावं ॥४७॥

न तं अरी कंठ छेत्ता करेइ, जंसे करे अप्प-
णिया दुरप्पया । से नाहई मच्चुमुहं तु पत्ते,
पच्छाणुता वेण दया विहुणो ॥ ४८ ॥

निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जा
समेई। इमे वि से नत्थि परेवि लोए दुहओ
वि से झिज्जइ तत्थ लोए ॥४९॥

एमेव हा छन्द कुशील रुवे, मग्गं विराहित्तु
जिणुत्तमाणं। कुररी विवा भोग रसाणु गिध्दा,
निरट्ठ सोया परियाव मेइ ॥५०॥

उत्त० अ० २० सूत्र ३९ से ५० तक

शब्दार्थ—जो० – ये, प० – दीक्षा ले के, म० – महाव्रत को छोड़े, स० – सम्यक्त्व रूप से, च० – फिर, न० – नहीं, फा० – सेवन करे, प० – प्रमादी, थका हुआ, अ० – वश में न किया, अ० – आत्मा, य० – फिर, र० – रसादिक स्वाद के लिए, गि० – गृद्ध, रसे० –रस के लिए गृद्ध होता हुआ आधाकर्मी आहार स्थान की प्ररूपणा करके बहुत से हृदयों में मिथ्यात्व भर दे, न० – नहीं, मू० – ऐसा मूल है, छि० – छोड़ सके, बं० – राग द्वेष और कर्मरूपी बन्धन, से० – वह कायर ॥ ३९ ॥

अ० – प्रयत्न कर के, जे०—यह, य० – फिर, न०—नहीं, कं० – किंचित मात्र, इ०—ईर्या के लिए (रात्रि में चलने से ईर्या का पालन न करे), भा० – वचन के लिए, त० ऐसा ही, यं० – एषणा समिति के लिए, आ० नि० – उपकरण का आदान प्रदान, दु० – मात्रा आदि परठावते, वि० – श्री० महावीर आदि का धैर्यवन्त मार्ग, जा० – सेवन करे, म० – मार्ग, अ० – चल, न० – न सके ॥४०॥

चि० – बहुत समय लगे, अ० – फिर, से० – वह, मु० – मस्तक मुंडा के, रु० – रुचिवन्त, भ० – हो कर के, अ० – अस्थिर व्रत वाला, सम्यक्त्व को छोड़ने वाला, त० – तपस्वी, नि० – अभिग्रह से, भ० – भ्रष्ट, चि० – बहुत समय तक, पि० – फिर, अ० – आत्मा को,

कि०—लोचादिक का क्लेश कर के, न० – नही, पा० – पार होने वाला, हो० – होता है, हु० – निश्चय, स० – संसार का, पु० – शुद्ध सम्यक्त्व रूप धन बिना खाली मुट्ठी, ज० – जैसा, से० – वह, अ०—असार, अ० – आन्तरिक रूप से हृदय में कपट रखने वाला, कु० – खोटा, क० – रुपए की तरह असार अर्थात् बिना कीमत का हो, वा० – फिर, रा० – कांच का टुकडा, वे० – वेडुर्य रत्न की तरह, पा० – तेज कान्ति सहित दिखता है परन्तु, अ० – व्यर्थ, हो० – होता है, अ० – फिर, जा० – जानने वाले के आगे ।। ४२ ।।

कु० – ढीला (पासत्था), लि० – लिंग-वेष, र० – इस मनुष्य-लोक में, धा० – धारण कर के, इ० – रजोहरणादिक तीनो चिन्ह कर के, जी० – अजीव का रूप जीतव्य, बु० – पेट भराई कर के, अ० – असयमी होता हुआ, असं० – पाँच आश्रवद्वार का सेवन करता हुआ साधु-वेषी आचार फेरफार के मार्ग को ठीक ठीक नही प्ररूपता है उसे संयमी नही जानना, सं० – संयमी हूं, ल० – ऐसा कहता हुआ व्यवहार करे, वि० – अनेक प्रकार की वेदना, आ० – प्राप्त करे, से० – वह द्रव्यलिंगी, चि० – बहुत समय तक, पि० – फिर ।।४३।।

वि० – विष, तु० – फिर, पी०—पिया, ज० – जैसा, का० – काल-कुंड, ह० मारे, स० – शस्त्र, ज० जैसा, कु० – खराब, रा० – ग्रहण किया हुआ, ए० – ए, वि० – फिर, ध० – हिंसा धर्म, वि० – विष, उ० – उपमान सहित, ह० – मरे, वे० – बेताल, इ० – जैसा, आ० – अविधि मन्त्र जपते हुए ।।४४।।

जे० – वेष-धारी, ल० – सामुद्रिक, शरीर के लक्षण, सु० – स्वप्न विचार, प० – लोगो में प्रचार करे, नि० – निमित्त कहे, को० – पुत्र उत्पन्न करने के लिए स्त्री पति को, स० – अति अशक्त, कु० – झूठा, अश्रेयकारी, वि० – विद्यामन्त्र आदि करे, आ० – पाप उत्पन्न करने वाली, जी० – जिए, न० – वह मन्त्र आदि से, ग० – प्राप्त, स० – मन्त्रादिक की शरण से आधार, त० – अन्त, का० – काल के विषे ।।४५।।

त० – अति अज्ञान के कारण, उ० – फिर, से० – द्रव्ययती, वेषधारी, अ० – शील रहित, स० – सदा, दु० – दुखी, वि० – विपरीत, उ० – प्राप्त परलोक के लिए सुख प्राप्त करने की आशा हो पर दुख प्राप्त हो, स० – निरन्तर जाता है, न० – नरक, ति० – तिर्यंच की, जो० – योनि में, मो० – चरित्र, वि० – विराधना करके, अ० – असाधु, रु० – रूप ।। ४६ ।।

उदे० – आधाकर्मी आदि आहार भोगनेवाले को लाभ बताया है, कि० – साधु के लिए मोल लाया लेता है, नि० – नित्य पिंड लेवे, न० – नही, मु० – छूटता है, किं० – किंचित मात्र, अ० – एषणीक दोष से नही छूटता है, अ० – अग्नि की तरह, वि० – वैसा, स० – सब, भ० – भक्षी, भ० – होके, इ०–यहाँ से, चु०–पुनर्जन्म से, ग० – जाता है, के० – कर के, पा० – पापकर्म ।। ४७ ।।

नतं० – स्वतः मिथ्यात्व को सेवन करके सम्यक्त्व रूपी जीवत्व का घात करनेवाला, तं० – वह दुख में पडा है, अ० – वैरी, क० – प्राण का, छ० – मारनेवाला, न० – नही, क० – करे, जं० – पडा हुआ, से० – वह वेषधारी, क० – करे, अ० – अपनी आत्मा का घातक, अनाचारी, से० – वह वेषधारी, न० – जानसे, म० – मरने के, मु० – मुख में, प० – पहुँचे, तु० – जब, प० – पश्चाताप करे, द० – संयम, वि० – विराधना करे वह सयमरहित, नि० – अर्थ रहित, नि० चारित्र अगीकार करके पश्चाताप करे, गृहस्थी में वापिस न जा सके, न० – चरित्र की, रु० – रुचि, उ० – फिर, त० – वह द्रव्ययती, वेषधारी, जे० – वे उत्तम, अ० – संयम को, वि० – विराधना करके, इ० – इस लोक, वि० – फिर, से० – वह वेषधारी, न० – नही, प० – पर, वि० फिर, लो० – लोक भी नही, दु० – दोनो लोक में, अ० – फिर, से० – वह वेषधारी भ्रष्ट चिन्ता करके, जी० – खिजे और खेद को प्राप्त हो, त० – वहाँ, लो० – लोक में ।। ४९ ।।

स० -- इस तरह, अ० -- स्वयम्, छ० -- स्वेच्छाचारी बनी, कु० -- कुशील का सेवन करनेवाला, रू० -- रूप, म० -- मार्ग, वि०-- विराधना करके, जि० -- जिनेन्द्र, उ० -- जिन उत्तम, कु० -- जैसे पक्षी दुख पाता है, वि० -- वैसा, भो० -- भोगने का इच्छुक, र० -- स्वाद के लिए, गि० -- गृद्ध, नि० -- निरर्थक, सो०-- फिक्र, प० -- पश्चाताप करता है ॥ ५० ॥

भावार्थ---जो अहिंसादिक पाँच महाव्रत को अंगीकार करके रसना के लोलुपी बनें, इन्द्रियों का निग्रह न करे, महाव्रतों का ठीक तरह से पालन न करते हुए आत्मा को वश मे न करें वे राग द्वेष रूपी वृक्ष को जड़ से नहीं उखाड़ सकते ॥३९॥

ईर्यासमिति--ज़मीन देख कर चलना, भाषा समिति--विचार कर बोलना, एषणा-समिति--निर्दोष आहार आदि का सेवन करना, आदान-निपेक्षणा समिति--उपकरण प्रयत्नपूर्वक रखना और परिठावणिया समिति--उच्चारादि यत्न से परिठावना, इन पाँचों समितिरूप मोक्ष-मार्ग का जिस प्रकार वीर पुरुषों ने समाचरण किया उस प्रकार वे किंचित मात्र भी नहीं कर सकते ॥४०॥

जो पाँचों महाव्रत, द्वादश प्रकार का तप, अभिग्रह आदि धर्म का पालन करने में अस्थिर हों, भ्रष्ट हो जायें, वे बहुतकाल तक लोचादि कर तथा शीत तपादि का कष्ट सहन करके, अपनी आत्मा को क्लेशित व दुखी बना कर भी इस संसार-समुद्र से पार नहीं हो सकते ॥४१॥

जिस प्रकार खाली मुट्ठी असार होती है, जिस प्रकार खोटा रुपया असार होता है और जिस प्रकार कांच का टुकड़ा राधा-

मणि के समान प्रकाशवान होते हुए भी जौहरी के आगे मूल्य प्राप्त नहीं करता है, वैसे ही अन्तःकरण में कपट रखने वाला असार (निकम्मा) होता है ॥४२॥

इस मनुष्य-लोक में जो कोई साधु के गुण तो न रखे लेकिन रजोहरण मुखवस्त्रोकादि साधु का लिंग-वेष धारण करके अपना पेट भरता है वह असंयमी असाधु है। ऐसे द्रव्यलिंगी साधु, वेषधारी असाधु, बहुतकाल तक संसार में दुख भोगते हैं ॥४३॥

जिस प्रकार तालपुट * विष खाने से प्राणों का नाश होता है, जिस प्रकार उलटा शस्त्र हाथों में धारण करने से और जिस प्रकार विधि बिना ही वैतालिक मंत्र का जप करने से मृत्यु हो जाती है वैसे ही हिंसा-धर्म की आराधना करने वाला बारम्बार मृत्यु को प्राप्त होता है ॥४४॥

जो साधु चक्रादि लक्षण-विचार, सामुद्रिक शास्त्र, निमित्त विद्या, मंत्र-तन्त्र-यन्त्रादि विद्या, कौतुक (आश्चर्य उत्पन्न करने वाली) विद्या, का उपयोग जीवों के अहित के लिए करता है वह मरने के बाद अपने को दुर्गति से बचाने में समर्थ नहीं हो सकता ॥ ४५ ॥

अति अज्ञान के वशीभूत हो कर साधु का वेष धारण करके भी परलोक में सुख की आशा से कुछ कष्ट सहे तो भी वह

---

* तालपुट जहर वह जहर है जिस को मुँह में डालते ही–जिव्हा से जिसका स्पर्श होते ही–मृत्यु हो जाती है।

चरित्र का विराधक असाधु है जो निरंतर नरक तिर्यंच गति में भ्रमता रहेगा ॥ ४६ ॥

जिस प्रकार अग्नि सर्वभक्षी होती है वैसे ही यदि साधु भी उद्दिष्ट आहार, कृतगड, मोल का या मोल लाया आहार, 'नित्यपिंड, इत्यादि दोप-युक्त आहारादिक सब का भक्षण करता है, किंचित मात्र भी नहीं छोड़ता है तो वह पाप-कर्म का उपार्जन करके दुर्गति में जाता है ॥ ४७ ॥

प्राण का नाश करने वाला वैरी जितना जुल्म नहीं करता है उतना जुल्म दुरात्मा दुष्टाचारी करता है। वह गुणविहीन साधु-वेषधारी दयाधर्म-रहित असाधु मृत्यु के समय महापश्चाताप करेगा ॥ ४८ ॥

जो संयम में अरुचि रख कर आत्म-कल्याण की साधना को नष्ट करता है उसका इस लोक मे भी नाश होता है और परलोक में भी। भ्रष्टाचारी दोनों लोकों में पश्चाताप करता है ॥ ४९ ॥

कुशील का सेवन करनेवाले स्वच्छंदाचारी, भोग रस आदि मे गृद्ध लोग, जिनेन्द्र भगवान के उत्तमोत्तम मार्ग की अवहेलना करके ठीक उसी तरह दुखी होते हैं जिस तरह मांस-खंड ग्रहण की हुई पक्षिणी दुखी होती है ॥ ५० ॥

टीका—यहाँ यह बहुत स्पष्ट रूप से बताया गया है कि जो साधु का वेष धारण करता है, मुँहपत्ती लगाता है, रजोहरण रखता है लेकिन उसके भीतर संयम नहीं है बल्कि रागद्वेष, कपट

तथा वासना भरी हुई है तो वह साधुवेषी होते हुए भी साधु नहीं है बल्कि असाधु है, चरित्र का विराधक है, केवल द्रव्यलिंगी है भावलिंगी नही है। भावलिंगी न हो कर द्रव्यलिंगी होने से तो द्रव्यलिंगी न होकर भावलिंगी होना श्रेष्ठ है, अर्थात् जिस व्यक्ति ने साधु का वेष पहिन रखा है लेकिन जिस में कपट है, रागद्वेष है, वासना है, कषाय है, मूर्च्छा है, असंयम है, उससे वह गृहस्थ अच्छा है जो साधु का वेष तो धारण नहीं किए हुआ है लेकिन जिसमें रागद्वेष, कपट, असंयम, कषाय, मूर्च्छा, वासना आदि नहीं हैं या अपेक्षाकृत कम है। किसी का साधुत्व उसके अतरंग पर निर्भर है, न कि बहिरंग पर। वेष तो केवल यह प्रकट करता है कि वह व्यक्ति अमुक साधु-संस्था से सम्बन्ध रखता है लेकिन वह साधु है या नहीं—यह तो उसके अंतरंग गुणों पर ही निर्भर है। हो सकता है कि साधु-संस्था का सदस्य सचमुच साधु हो, अर्द्धसाधु हो या असाधु हो। खोटा रुपया एक पैसे से ज्यादह क़ीमती होता है लेकिन बाजार में उसे कोई नहीं लेता, बाजार मे उसकी कोई कीमत नहीं है, क्योंकि वह रुपए की हैसियत से चलना चाहता है जबकि रुपए के गुण उसमें नहीं हैं। उसके मुकाबले में एक पैसा बाजार में चल जाता है क्योंकि उस पर पैसे की मुहर है और उसमें पैसे के गुण भी हैं। ठीक यही बात साधु और गृहस्थ के बारे मे है। गृहस्थ गृहस्थ की मुहर धारण करते हुए भी गृहस्थ के गुण रखता है, तो धर्म के बाजार में उस गृहस्थ का उस व्यक्ति से ज्यादह आदर और मूल्य है और होना चाहिए; जो अपने ऊपर

साधु की मुहर लगाए हुए है अर्थात् जो साधु का वेष धारण करे हुए है मगर जिसमें साधु के गुण नहीं हैं। इस तरह ये तेरहपंथी लोग सच्चे गृहस्थों से भी हर तरह गए बीते है।

पाठ—

अलोलुयं मुहाजीवी अण गारं अकिञ्चनं।
असं सत्तं गिहेत्थेसु, तं वयं बूम् माहाणं ॥२८॥
—उ० अ० २५ सूत्र २८

शब्दार्थ—अ० – आहारादिक के लिए, अ० – लोलुपी मु० – जो, किसी का कार्य किए विना आहार लेते हैं, अ० – घर रहित साधु, अ० – स्वर्णादिक द्रव्य रहित, अ० – परिचय रहित, गि० – गृहस्थ के लिए संगति रहित, ते० – उसको, व० – हमें, बू० – कहते हैं, मा० – महान् ॥

भावार्थ—जो अचित्त निर्दोष अनुद्दिष्ट [अन्य के लिए— अपने लिए नहीं—बनाया हुआ] आहार को ग्रहण करते हैं, जो लोलुपता रहित हैं, कुटुम्बियों तथा गृहस्थों से सम्बन्ध न रखने वाले है, उन्हें मैं महान् कहता हूँ।

पाठ—

अलोलुए अकुहए अमाई, अपिसुणे यात्रि अदिणात्रिंत्ति नो भावए नोवि य भावियप्पा अकोउ हल्ले य सया स पुज्जो॥ १०॥
दशवे अ० ९ उ० ३ सू० १०

शब्दार्थ—अ० – आहार वस्त्र के लिए लोलुपता रहित, अ० – इन्द्रजाल आदि कौतुक रहित, अ० – माया रहित, अ० – चुगली रहित, या० – फिर, अ०—दीनता रहित, वि०— आहार की गवेषणा करे,

नो० – अप्रसन्न, भा० – भावना करके अन्य के पास अपनी तारीफ करने के लिए कहे, नो० – नहीं, य० –फिर, भा० – अपने गुण कहे, अ० – नाटक आदि देखे, य० – फिर, स० सदा, स० – वे, पु० – पूजनीय हैं।

भावार्थ—जो साधु आहारादिक में लोलुपता रहित, इंद्र-जालादि कौतुकों से रहित, माया-विहीन, चुगली-रहित है, अदीनवृत्ति वाला है, औरों से अपनी प्रशंसा नहीं करने वाला, औरों में अपनी प्रशंसा नहीं कराने वाला है तथा कौतूहलता-रहित है वह साधु सदैव पूजनीय है।

पाठ—

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा, दित्ति करा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति,दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥१०॥
उत्त० अ० ३२ सूत्र १०

शब्दार्थ—र० – परिणीत रस, प० – बहुत, न० नहीं, निसे० – सेवन करे, पा० – परहरे, र० – रस, दि० – कामदीपक को, क० – करने वाला, न० – मनुष्य को, दि० – कान्तिवान पुरुष, च० – फिर, का० – कन्दर्प, स० – समोर, अ० – आकर के पीड़ा उत्पन्न करता है, दु० – वृक्ष को, ज० – जैसा, सा० – ऐसा स्वादिष्ट, फ० – फल हैं उसके, व० – वैसा, प० – पक्षी समोर आता है, आके पीड़ा उपजावे, व० – वैसा ॥१०॥

भावार्थ—जिस प्रकार फलफूल कर पुष्ट हुए वृक्ष को बहुत से पक्षी आकर दुख देते हैं वैसे ही जिन्होंने दुग्धादि पाँचों विगय घी आदि सेवन कर अपने शरीर को पुष्ट बनाया है, उन्मत्त काम उनको दुखी करता है। अतः ऐसा जान कर

काम पर विजय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले साधु दूध, दही, घृत, तेल मिष्टान्ह पदार्थों का सेवन नहीं करते हैं ॥१०॥

टीका—जो लोग गरिष्ट भोजन करके अपने शरीर को हृष्टपुष्ट बना लेते है, स्वभावतः उन्हे कामपीड़ा सताया करती है क्योंकि एक तो उनके शरीरमे बल का संचार ही उत्तेजना पैदा करता हैं, दूसरे वे जिव्हा-लोलुपी होने से इन्द्रियों के आधीन हो जाते हैं, उनका मन दृढ़-प्रतिज्ञ नहीं रह पाता और वे कामविजय पाने मे अबल हो जाते हैं। ऐसे लोग मन ही मन काम की बाते सोचा करते हैं। शरीर कारण वश अथवा विवशता वश संयमी रहता है या उसे रहना पड़ता है तो भी मन मे असंयम आ जाता है, मन गिर जाता है और आत्मा का पतन हो जाता है। अतः साधु का कर्तव्य है कि वह जिव्हा को अपने आधीन रखे। उससे एक तो जिव्हा को आधीन रखने में इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास होगा, दूसरे शरीर इतना हृष्टपुष्ट न बन पायगा कि काम की लहरें हिल कर उसे चलायमान कर सकें। अतः चरित्र-वान सुसाधु बनने के लिए रूखा—सूखा नीरस भोजन करना परम आवश्यक है।

पाठ—

पिंडोल एव दुस्सी ले, नरगाओ न मुच्चई।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥ २२ ॥

उत्त० अ० ५ सूत्र २२

शब्दार्थः—पि० – गृहस्थ द्वारा लाया हुआ आहार, उ० – सेवन करे, ए० – प्रमाद के लिए, दु० – खोटे आचार वाला, न० – नरक से, न० – नहीं छूटता, भि० – आज्ञा सहित साधु, वा० – अथवा, गि० – सुव्रती गृहस्थ, वा० – सब, सु० – अच्छे व्रत का करनेवाला, क० – जावे, दि० – देवलोक में ॥

भावार्थ—जो कोई साधु भिक्षा से आजीविका का प्रबन्ध करनेवाले हैं परंतु अनाचार व पापकर्म, का त्याग करने वाले नहीं हैं ऐसे दुराचारी नरक जाने से नहीं बच सकते। अर्थात् वे निश्चय ही नरक में जायँगे, जब कि सदाचार का पालन करने वाला गृहस्थ स्वर्ग मे जाता है ॥ २२ ॥

पाठ—

सन्नाइं पिण्डं जेमेइ नच्छई सामुदाणियं। गिहिनि संज्जं च व हेइ पाव समणेत्ति वुच्चई ॥१९॥

एयारिसे पञ्च कुशील संवुडे रूवन्धरे मुणि पवराण हेट्ठिमे। अयंसि लेए विसमेव गरहिए, न से इहं नेवे परत्थ-लोए ॥ २० ॥

उ० अ० १७ सूत्र १९ व २०

शब्दार्थ—स० – अपना जातीय सम्बन्ध, पि० – आहार, जे० – जीमे, न० – इच्छा न करे, सा० – समुदाणी का आहार, गि० – गृहस्थ के घर को, नि० – बिना कारण, च० – फिर, बा० – बैठे, पा० – वह पापी, स० – वह साधु, त्ति० – ऐसा, उ० – कहिए ॥१९॥

• ए० – ऐसा होता तो, प० – पासत्था, उसंन्ना, सवछन्दा, सम-सतो, कुशील सेवी — ये पाँच, कु० – कुशील सहित तथा ज्ञान दर्शन चारित्र तप वीर्य इन पाँचो का कुशील, असं० – आश्रव को न रोकने

वाला जानना, रू० — यति के वेष का धारण करने वाला, हे० — बहुत नीच, अ० — इस लोक में, वि० — विष के समान, ग० — वन्दनीय, न० — नही, मु० — साधु से, प० — प्रधान, से० — उस पापी श्रमण को, इ० — इस लोक का सुख भोगने के लिए, नं० — नही, प० — परलोक, लो० — सुखी ॥२०॥

भावार्थ—जो स्वज्ञाति के आहार की इच्छा करे परन्तु समुदाणीक आहार की गवेपणा नहीं करे, जो वृद्धावस्था रोग अथवा तपश्चर्या के कारण के बिना गृहस्थ के यहाँ बैठे उसे पापी श्रमण कहना चाहिए।

पाठ—

से भिक्खू वा (२) जाव पविट्ठ समाणे से आगंतरे सुवा, आरामागारे सुवा गाहावति कुले सुवा परियावसहे सुवा अन्न गंधाणि वा पाण गंधाणिवा सुरभि गंधाणि वा अग्धाय २ से तत्थ आसाय वडियाए मुच्छिए, गिद्धे गढिए, अज्झोववन्ने 'अहो गंधो अहो गंधो' णो गंध मासा एज्जा ॥२॥

आचा० श्रु० २ अ० पिण्ड अ० १० उ० ८ सू० २

शब्दार्थ—से० — वे, भि० — साधु साध्वी, जा० — यावत्, प० — प्रवेश करे, से० — वे, आ० — सराय मे, आ० — बंगले में, गा० — गृहस्थ के घर में, प० — तापसों के स्थान में, अ० — आहार की सुगंध, पा० — पानी की सुगध, सु० — अच्छी गंध, अ० — सूंघ कर, से० — वे, त० — वहाँ, आ० — आस्वाद के लिए, मु० — मूर्छित, गि० — गृद्ध, अ० — अहो गंध, अ० — अहोगंध, गं० — गध का स्वाद न ले।

भावार्थ—मुनि को गोचरी जाते समय मार्ग में, मुसाफ़िर-खाने में, बंगले मे, गृहस्थ के घरों में या भिक्षुक आदि के मठ में, अन्न-पानी की सुगंध सूंघ कर, वैसा आहार पानी खाने-पीने के लिए आसक्त बन कर 'वाह सुगंध, वाह सुगन्ध' ऐसा विचार कर सुगंध नहीं लेना चाहिए।

पाठ—

जे भिक्खू आसणं वा ४ उसीणो सिणं पडिग्ग। हेति, पडिग्ग हंतं वा सइज्जई ॥ १३७ ॥

निशी० उ० १७ सूत्र १३७

भावार्थ—जो साधु अशनादि चारों आहार गरमागरम ग्रहण करे, ग्रहण करते को अच्छा जाने, उसे लघुमासिक प्रायश्चित का विधान है।

पाठ—

नो अति मायाए पाण भोयणं आहारेत्ता भवति से निग्गंथे। तं कहमितिचे ? आयरियाह निग्गंथ रस खलु अतिमायाए पाणभोयणं आहारे माणस्स बंभयरिस्स बंभचेरे संका वा करवा वा वितिगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायंवा पाउणिज्जा, दीहकालीयं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलि पन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो अति मायाए पाण भोयणं आहारेज्जा ॥ ८ ॥

उत्त० अ० १६ सू० ८

शब्दार्थ—नो० – नही, अ० – अति आहार, पा० – पानी, भो० – भोजन के, आ० – आहार करते को, भ० – होता, से० – वे, नि० – साधु, तं० – वह, क० – किस के लिए, इ० – ऐसा, चे० – कदाचित शिष्य पूछे, आ० – आचार्य, आ० – कहे, नि० – साधु को, ख० – निश्चय, अ० – अति मात्रा, पा० – पानी और, भो० – भोजन, व० - ब्रह्मचारीको, आ० – आहार करते को, व० – ब्रह्मचारी के लिए स० – शंका उत्पन्न हो, पालन करना या नही, और दूसरे को भी शंका उत्पन्न हो कियह (ब्रह्मचारी) पालन करता है या नही, वा० – फिर, क० – अब्रह्म की इच्छा हो, वा० – फिर, वि० – ब्रह्मचर्य पालने के फल की प्राप्ति में संदेह हो, वा० – फिर, स० – उत्पन्न होवे, भे० – चरित्र नष्ट करने को, वा ० – फिर, ल० – प्राप्त हुए, उ० – उन्माद, मस्ती, व० – फिर पा० – प्राप्त हो, दी० – बहुत, का० – बहुत समय का, वा० –फिर रो० – रोगादिक, ह० – होता है, के० – केवली, प० – प्रतिपादन किया, ध० – धर्म से, भ० – भ्रष्ट होता है, त० – इसलिए, नो० – नही, अ० – अति मात्रा, पा० – पानी, भो० – भोजन, आ० – करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मर्यादा से अधिक आहार पानी का सेवन नहीं करते हैं वे साधु है।

प्रश्न—मर्यादा से अधिक आहार पानी का सेवन करने वाले को साधु क्यों नहीं कहना चाहिए ?

उत्तर—जो मर्यादा से अधिक आहार पानी लेगा उसको (१) शंका (२) कांक्षा (३) वितिगिच्छा (दुर्भावना) (४) व्रतभंग (५) उन्माद (६) दीर्घ काल का रोग और (७) धर्म से भ्रष्टता—इन ७ दोषों का भागी होना पड़ेगा; अतः इन दुर्गुणों से बचने के लिए मर्यादा से अधिक आहार या पानी ग्रहण नहीं करना चाहिए।

पाठ—

अह भंते ! सइंगालस्स- सधुमस्स संजोयणा
दोस दुट्ठस्स पाणं भोयणस्स के अट्ठे पण्णत्ते ?
गोयमा । जेणं निग्गंथेवा निग्गंथी वा फासु
एसणिज्जं असणपाण खाइमसाइमं पडिग्गा
हेत्ता संमुच्छिए गिद्धे गढीए अज्झोववण्णए
आहरं आहारेइ एसणं गोयमा । स इंगाले
पाणभोयणे जेणं निग्गंथेवा निग्गथीवा फासु
एसणिजं असणपाण खाईमसाई मेणं पडिग्ग-
हेत्ता महया अप्पत्तिया कोह किलामं करेमाणे
आहार माहारेइ, एसणं गोयमा । सधू पे
पाण भोयणे । जेणं निग्गंथेवा जाव पडिग्गहेत्ता
गुगुप्पायण हेउ अण्णदव्वेणं सद्धिं संजोएत्ता
आहार मांहारेई, एसणं गोयमा संजोयणा दोस-
दुट्ठे पाणभोयणे ॥ एएणं गोयमा । सइंगा लस्स
सधू मस्स संजोयणा दोस दुट्ठस्स पाणभो-
यणस्स अट्ठे पण्णते ॥१२॥

—भग० श० ७ उ० १ सूत्र १२

शब्दार्थ—अ० - अथ, भ० - भगवान, स० - इगाल सहित, स० - धूम्र सहित, सं० - संजोयणा, दो० - दोष, दु० - दुष्ट, पा० - पानी, भो० - भोजन का, के० - क्या, अ० - अर्थ, प्र० - प्ररूपा, गो० - गौतम, जे० - जो, नि० - साधु, नि० - साध्वी, फा० - प्रासुक, ए० - शुद्ध, अ० - अशन, पा० - पान, प० - लेकर, सं० - मूर्छित, गि० - गृद्ध,

ग० - स्नेह-युक्त, अ० - एकाग्रता से आहार करे, ए० - उसको, स० - इंगाल सहित, पा० - पान, भो० - भोजन, जे० - जो, नि० - साधु, नि० - साध्वी, फा० - प्रासुक, ए० - शुद्ध, अ० - अशन, पा० - पान, खा० - खादिम, स० - स्वादिम, प० - लेकर, म० - बड़ा, अ० - प्रीति-रहित, को० - क्रोध, कि० - किलामना, निंदा, क० - करता, आ० - आहार, आ० - आहार करे, ए० - यह, गो० - गौतम, स० - धूम्र सहित, पा० - पान, भो० - भोजन, जे० - जो, नि० - साधु, नि० - साध्वी, जा० - यावत्, प० - लेकर, गु० - गुण, उ० - उत्पादक हेतु, अ० - अन्य द्रव्य, स० - साथ, स० - मिलाकर, आ० - आहार करे, ए० - यह, गो० - गौतम, स० - संजोयणा, दो० - दोष, दु० - दुष्ट, पा० - पान, भो० - भोजन ॥

भावार्थ—हे भगवन! इंगाल दोष धूम्र दोष व संजोयणा दोष वाला आहार किसे कहते हैं ?

हे गौतम! जो साधु साध्वी प्रासुक एषणिक अशनादि ग्रहण कर के उन में गृद्ध मूर्छित व लोलुपी बनता हुआ आहार करे उसको इंगाल दोष लगता है। जो साधु साध्वी प्रासुक एष-णिक आहारादिक ग्रहण कर के अप्रीति, क्रोध व निंदा करते हुए आहार करे उसको धूम्र दोष लगता है। और जो साधु साध्वी प्रासुक व एषणिक अशनादि ग्रहण कर के स्वाद के लिए उसमें अन्य द्रव्य मिला कर आहार करे उसको संजोयणा दोष लगता है। हे गौतम, यह इंगाल धूम्र और संयोजणा दोष का वर्णन है।

नोट—इन तेरहपंथी लोगों मे कोई एक या दो नहीं बल्कि तीनों दोष प्रचुर मात्रा में मिलते है।

(१) दशवै० अ० ५ उ० १ सूत्र ९८–९९ में "भुञ्जे भ्रा दोष वर्ज्जिए" द्वारा साधु को पाँच माँडले के दोषों को छोड़ने का आदेश है। लेकिन आचार्य नामधारी तक इन पाँचों दोषों को सेवन करते हैं, फिर साधारण साधु का तो कहना ही क्या है ?

(२) बृहद्० क० उ० ५ सू० ४७–४८–४९–५० में तथा निशी० उ० १२ सूत्र ३७ में साधु के लिए पहिले पहर के लाए हुए आहार औषधि आदि को चौथे पहर में सेवन करने के लिए मना किया गया है और यदि यह दोष सेवन हो जाय तो दंड भी बतलाया है। लेकिन ये तेरहपंथी पहिले पहर के आहार औषधि आदि का उपयोग चौथे पहर मे भी करते हैं लेकिन उस समय गृहस्थ से अनुमति माँग लेते हैं। उनका विचार है कि इस तरह उन्हे दोष–सेवन का भागी नहीं बनना पड़ता है मगर वास्तव में यह ठीक नहीं। साधु जब गृहस्थ से औषधि आदि ले लेता है तभीसे उसका सम्बन्ध गृहस्थ से नहीं रहता है क्योंकि गृहस्थ तो उसका दान कर देता है। एक चीज़ एकही व्यक्ति द्वारा बार बार दान में नहीं दी जा सकती और साधु गृहस्थ की चीज़ की रक्षा भी नहीं करता है; अतः तेरह-पंथियों का यह व्यवहार आगम के विरुद्ध है। चौथे पहर में गृहस्थ से अनुमति माँगने का कोई अर्थ ही नहीं है। हाँ, कोई विशेष (गाढागाढी) कारण हो तब साधु के लिए चौथे पहर मे भोगना ग्राह्य ठहराया गया है और उसके लिए गृहस्थ की अनु-मति की कोई आवश्यकता नहीं है।

पाठ—

कन्द मूलं पलम्बं वा, आमं छिन्नं च सन्निरं ।
तुम्बागं सिंगबेरं च आमगं परिवज्जए ॥ ७० ॥

दशवै० अ० ५ उ० १ सू० ७०

शब्दार्थ—क० - मूरणादिक कन्द, मू० - पिन्डाड़ आदि मूल, प० - ताड के फल, वा० - फिर, आ० - कच्चा, छि० — छेदन किया हुआ, स० — टुकड़े किए, तु० — तूमड़ा, सिं० — अदरक, च० — फिर, आ० — कच्चा (सचित्त), प० -- छोड़दे (साधु) ।

भावार्थ—कन्द, पिंडालु आदिमूल, विजोरा आदि फल, तोरू आदि शाक, तुम्बा और अदरक आदि वनस्पति—ये सब कच्चे हों और उनका छेदन-भेदन तो किया हो परन्तु अग्नि आदि शस्त्र के संयोग से पके न हों तो उन्हें ग्रहण नहीं करना चाहिए।

पाठ—

से भिक्खु वा (२) वा गाहा वइंकुलं पिंडवाय पडियाए अणुपविट्ठे समाणे, से जाओ पुण ओ सहीओ जाणेज्जा, कसिणाओ, सासिआओ अविदल कडाओ अतिरिच्छच्छिण्णाओ, अव्वोच्छि-ण्णाओ, तरुणियं वा छिवाडिं अणभि क्कंत मभा भज्जितं पेहाए अफासुयं अणंसणिज्जंति मण्ण-माणे लाभे संतेणो पडिगाहेज्जा ॥ ३ ॥

आचा० श्रु० २ पिंड० अ० १० उ० १ सू० ३

शब्दार्थ—से० — वे, भि० — साधु, भि० — साध्वी, ग० — गृहस्थ के घर में, पि०—आहार के लिए, अ०—प्रवेश करता है, से०—वे,

जं० — जो, पु० — और, ओ० — औषधि, जा० — जाने, क० — पूर्ण, सा० — सजीव, अ० — दो टुकड़े न करे हों, अ० — तिरछा छेदन न करा हुआ, अ० — अखंड है, तं० — कच्ची, छि० — फलियों, अ० — अलग न करी हुई, अ० — अभेद्य, पे० — देखकर, अ० — अप्रासुक, अ० — दोष सहित, म० — जानकर, ला० — प्राप्त हुए, णो० — नहीं, प० — ग्रहण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ— गृहस्थ के घर में धान्य फलादि अखण्ड हों, छेदन भेदन न किया हो, उस में शास्त्र का पूरी तरह प्रवेश न हुआ हो, ऐसा साबुत फल या कच्ची मूग आदि की फलियाँ अप्रासुक तथा अनेषणिक जान कर गृहस्थ साधु साध्वी को दे तो साधु साध्वी को ग्रहण नहीं करना चाहिए।

नोट—यहां अखण्ड फलादि लेना वर्जित है। लेकिन ये तेरहपंथी लोग लेते हैं। इस बात को वे स्वीकार भी कर चुके हैं। पूनमचन्दजी चोरडिया जब लाडनूँ गए थे तब उनकी पहिले गोठीजी से ही मुलाक़ात हुई। गोठीजी ने पूनमचन्दजी से कहा—"कन्हैयालालजी ने पैम्फ़लेट में कैसी झूठी बात लिखमारी? भला साधु क्या संतरा लेते हैं। मुझे ६० वर्ष हो गए लेकिन कभी ऐसा नहीं हुआ।" पूनमचन्दजी ने कहा—"आचार्यजी से पूछा था क्या?"। गोठीजी ने 'नहीं' में उत्तर दिया। इस पर पूनमचन्दजी ने कहा कि चलिए, पूछ लेना चाहिए। वे दोनों आचार्यजी के पास गए। वहाँ क़रीब ४०० भाई बहिन उपस्थित थे। पूनमचन्दजी ने आचार्यजी से पूछा —"महाराज, साबुत संतरे जाम (अमरूद) और नींबू लेते हैं, या नहीं? उत्तर में मगनलालजी दीवान साहब ने धीरे से

कहा—"उबाले हुए लेते हैं।" इस पर पूनमचन्दजी ने कहा कि पैम्फलेट में उबाले हुए ही तो लिखे है जो कि सच है। उस समय गोठीजी चुपकी साध गए, उनका चेहरा उतर गया। इस तरह यह बात वे स्वीकार कर चुके हैं।

इसके अतिरिक्त वे और भी कई चीज़ें सचित्त की शंका सहित लेते है। पिस्ते, किशमिश (दाख), बड़ी मुनक्का, निवजा अंजीर, खुबानी से निकाले हुए छिलके सहित बादाम, छिलके उतारे हुए बादाम, छिलके सहित गरम पानी से निकाले हुए बादाम और कच्चा नारियल [बीज निकाला हुआ], छिलका सहित इलायची, पान के बने हुए बीड़े [कुछ सूखे हुए–सब नहीं], पान का चूरा, सूखे पान आदि बहुत सी चीज़ें ये लोग ग्रहण करते है। एक तो आहार से उपजीविका होने के बाद–भूख मिटने के बाद–इन चीज़ों की ज़रूरत ही क्या है और अगर वे फिर भी लेते है तो सचित्त की शंका न करके निःशंकित होकर सचित्त-अचित्त सब खा जाते हैं, जैसा कि पानों के विषय में पहिले उल्लेख किया जा चुका है।

छिलके सहित इलायची लेना कितनी आपत्तिजनक बात है? ये लोग उसमें भी सचित्त की शंका नहीं करते। एक दिन की बात है कि खुबानी से निकाले हुए बादाम आचार्यजी खा रहे थे, उसमे से कनक को एक धोबा उसके धोबे में दिया। मैं ने यह देखा और कहा—भाई, ये छिलके सहित बादाम हैं। यह क्यों? किसी ने उत्तर मे कहा—ये तो अचित्त होते हैं। मुझे उसका अचित्त होना न जँचा और अभी भी नहीं

जँचता है; क्योंकि उसमें शस्त्र तो लगना ही नहीं हैं। विचार-शील पाठकवृन्द देखें कि जो लोग ऐसी सचित्त की शंका-सहित चीज़ को भी बिना संकोच के और बिना सचित्त की शंका किए हड़प कर जाते है वे कितने दु:साहसी और स्वेच्छा-चारी हैं।

संतरे के बारे में श्री० चौथमलजी महाराज से एक बार पूछा तो उत्तर मिला कि शंका नहीं रखना चाहिए। भला सोचिए कि पानी मे भिगोने के बाद बादाम के ऊपर कहीं छिलका कैसे रह सकता है? लेकिन ये खाने के लोलुपी जान बूझकर उलटी मान्यता करते हैं। देखिए, भिक्षुजी ने क्या कहा है—

"नवोंहि पदार्थ मांहलो उंधो सरधो ज्यो एक।
तो हि मिथ्यावी भुलगो भूला भरम अनेक॥
दशोहि मिथ्यात्व माहिंलो बाकी रहे कदा एक।
तोहि गुणठाणो पहिलो कह्यो समजो आण विवेक॥
नव तत्व ओळख्या बिना पहरे साधुरो वेष।
समझ पड़े नहीं तेहने भारि हु वै विशेष॥
लिथि टेक छोड़े नहीं कुडो करे पक्षपात।
कु गुरांरा भरमा विया बहुला बुडा जात॥

श्रावक० पान २८

उपर्युक्त रचना में भिक्षुजी ने कहा है कि दस बोलों में से एक भी बोल रहे तो वह मूढ़ मिथ्यात्वी है। जो साधु का वेष ले ले उस पर और भी बोझ आ जाता है। बात यह है कि एक

भी बोल उलटा रहे तो उसका असर ऐसा ख़राब होता है कि सभी बोल उलटे हो जाते है।

नोट—तेरहपंथी लोग किशमिश को सचित्त मानते हैं इसलिए गरम पानी में से निकाली हुई लेते है। कई दफ़ा इसे छोड़ भी दिया पर पीछे चालू भी कर दिया। उनका यह डाँवा-डोलपना साधुत्व के अयोग्य है।

ये लोग आमकी फाँकें भी भोगते है। आमकी फाँक का सचित्त होना ही अधिक सम्भव है, लेकिन ये लोग कोई संकोच भी नहीं करते। निशीथ उ० १५ बोल ७ के अनुसार आमके टुकड़े नहीं किये जा सकते। तेरहपंथियों का यह उत्तर ठीक नहीं कि कच्चे आम के टुकड़े नहीं किये जा सकते, पक्के के किये जा सकते है, क्योंकि प्रकरण देखने से मालूम होता है कि वहाँ पक्के आमको सचित्त बताया है। हाँ, अचित्त आमरस का उपयोग किया जा सकता है। उसके अचित्त बनाने का उपाय यह है। पहिले आम को घास में पकाया जाय, बाद को गुठली समेत उसे मला जाय, और गुठली अलग कर दी जाय, तो आमरस प्राप्त होता है। उसके अचित्त होने की ही संभावना है और यदि उसमें शक्कर दूध पानी मिला दिया जाता है तब तो उसके अचित्त होने में कोई संदेह ही नहीं रह जाता है। आम का यह उपयोग ही उचित प्रतीत होता है।

ये तेरहपंथी लोग डाल (शाखा) का पका केला भी ले लेते हैं; लेकिन यह केला सचित्त है। जो केला भट्टी में पकाया

जाता है वही अचित्त है अतः उसे ही लेना चाहिए और वह भी बिना छिलके का। बृहद० क० उ० १ सूत्र २ में 'तालंपलम्बे भिन्ने' शब्द का अर्थ ब्राकेट में 'केला' किया जाता है परन्तु इसका वास्तविक अर्थ वाहि ताड़ का फल किया है। केले के लिए तो आचा० श्रु० २ अ० १० उ० ८ सूत्र १२ मे 'तकली मत्थ एणवा' शब्द का प्रयोग किया गया है और साधु के लिये लेना मना किया गया है।

ये लोग खुल्लमखुल्ला केले लेते है और संतरे गरम पानी मे से निकले हुए खा लेते है, छिलके सहित ही गरम पानी से निकले हुए साबुत ले लेते हैं। लेकिन गरम पानी में से निकालने से संतरा अचित्त नहीं होता। यह तो छिलके सहित की बात है, लेकिन छिलका रहित भी हो तब भी गरम पानी में से निकालने मात्र से इस का अचित्त होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अन्दर बीज भी होते हैं। शक्कर डालने से भी अचित्त होना संभव नहीं है, क्योंकि शक्कर का परिणमन अच्छी तरह नहीं हो पाता, वह ऊपर ही ऊपर रह जाती है। संतरे को गरम पानी मे उबाला जाय तो वह खाने योग्य नहीं रहता, यद्यपि वह अचित्त हो जाता है। संतरे का यही उपयोग ठीक मालूम होता है कि उसका शुद्ध रस निकाला हुआ हो और उसे गर्मी लगी हुई हो।

ये लोग खरबूजा और खीरा ककड़ी पपीता आदि में शक्कर मिला कर लेते हैं लेकिन यह भी ठीक नहीं हैं क्योंकि शक्कर का परिणमन अंग अंग में नहीं हो पाता है।

दशवे० अ० सूत्र ७ में आम्र दाड़िम (अनार) के बीज लेने को अनाचार बताया है लेकिन ये लोग उसको भोग लेते हैं जो शास्त्र–विरुद्ध है।

ये लोग बाजरे का, गेहूँ का, ज्वारी का, चने का मोरण ले लेते है, लेकिन क्योंकि कोई कोई दाना कच्चा भी रह सकता है, इसलिए निःशंकित रूप से मोरण नहीं लिया जा सकता। दशवैकालिक सूत्र में शंका सहित लेना मना किया है, अतः मोरण लेना भी उचित नहीं प्रतीत होता।

ये लोग मतीरा (तरबूज़) का पानी और शक्कर डाली हुई फाँक लेते हैं। ये दोनों सचित्त हैं।

ये तेरहपंथी लोग कहा करते है कि जो चीज़ उग सके वह सचित्त और जो न उग सके वह अचित्त है। लेकिन उनका यह विचार भ्रम-मूलक है। प्रश्न व्या० मृषा० अ० २ सं० २ अ० ५ में पक्के फल को लेना मना किया है, क्योंकि पका फल सचित्त होता है। तेरहपंथियों के विचार के अनुसार, क्योंकि पका फल नहीं उग सकता, वह अचित्त होता है लेकिन ऐसा नहीं है। वह अचित्त होता तो उसको लेना मना क्यों किया जाता ? और भी बहुतसी अचित्त चीज़ें उग सकती है अथवा उनमें से जीव उत्पन्न हो जाते हैं और बहुतसी सचित्त चीज़े नहीं उगती हैं। अतः तेरहपंथियों का यह विचार ठीक नहीं है।

फलों के विषय में शास्त्रीय प्रमाण देखिए—

पाठ (१)—

से भिक्खू वा (२) जाव पविट्ठे समाणे सेज्जं
पुण जाणेज्जा, पलं वजातं तंजहा—अंब
पलंब वा, आंबाडग पलंबं वा, ताल पलंबं वा,
झिझिरिपलंबं वा, सुरभि पलवं वा, सल्लइ
पलंबं वा, अण्ण तरं वा, तहप्पगारं पलंबजातं
आमगं असत्थ परिणत अफासुयं ॥

—आ० श्रु० २ अ० १० उ० ८ सूत्र ५

शब्दार्थः—से० — वे, भि० — साधु साध्वी, जा० — गृहस्थके घर में प्रवेश कर, से० — वेजाने, प० — फल की जाति, त० — वह, ज० — यथा, अं० — आम के फल, अ० — आंवड़ा के फल, ता० — ताड़ के फल, झि० — झिझिरी बेल के फल, सू० — शतद्रु फल, सू० — सल्लकि फल, अ० — और, त० — इसीप्रकारके, प० — फलकी जाति, अ० — कच्चे, अ० — अशस्त्र परिणत, अ० — अप्रासुक ॥

भावार्थ—आम के फल, आम्बड़े के फल, ताड़ के फल झिझिरी बेल के फल, शतद्रु फल, सल्लकि फल तथा अन्य किसी भी प्रकार का फल हो जो शस्त्र द्वारा न भेदित किया हुआ हो तो उसे अप्रासुक जान कर ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

पाठ (२)—

णण्णत्थ, तकलि मत्थ एणवा, तक्कलिसी
सेणवा, णालिएर मत्थ एणवा, खज्जूर
मत्थ एणवा, ताल मत्थ एणवा, अण्ण तरंवा;

तहप्पगारं आमगं असत्थ परिणयं जाव णो पडिगाहेज्जा ॥१२॥

आचा० श्रु० २ अ० १० उ० ८ सू० १२

शब्दार्थ—ण० – यह विशेष केले का गर्भ, त० केले का गुच्छा, णा० – नारियल का मस्तक, ख० – खजूर का मस्तक, ता० – ताड़ का मस्तक, अ० – और भी, त० – इसी तरह, आ० – कच्चे, अ० – सचित्त, जा० – यावत्, णो० – नहीं ग्रहण करे ॥

भावार्थ—केला, नारियल, खजूर, ताड़ अथवा अन्य ऐसी कच्ची वस्तुएँ जो शस्त्र द्वारा भेदित न हों, उन्हें अप्रासुक जान कर ग्रहण नहीं करना चाहिए।

पाठ(३)—

तहा कोल मणस्सिन्नं वेलुपं कासव-नालियं
तिलपप्प डगं नीमं आमगं परिवज्जए ॥२१॥

दशवै० अ० ५ उ० २ सू० २१

शब्दार्थ–त० – ऐसा, को० – पक्का बोर, अ० – अग्नि में नहीं पका हुआ, वे० – बाँस करेले, का० – श्रीफल, ना० – गोला, ति० – तिल्ली की, प० – कच्ची पपड़ी, नी० – कन्द वृक्ष का फल, आ० – कच्चा, प० – त्याज्य।

भावार्थ—गुठली सहित कूटा हुआ बोरकुट, बाँस करेला, नारियल का फल (श्रीफल), तिल्ली की पपड़ी, कैन्द वृक्ष का फल आदि सब कच्चे फल त्याज्य है!

और भी देखिए:—

पाठ—

उग्गमं से पुच्छेज्जा कस्सट्ठा केण वा कडं।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं, पडिगाहेज्जा संजए ॥५६॥
दशवै० अ० ५ उ० १ सूत्र ५६

शब्दार्थ—उ० – आहार की उत्पत्ति के लिए, से० – तूने, पु० – पूछना, क० – किस के लिए, अ० – किस काम के लिए, कं० – किसने आहारादिक, वा० – अथवा, क० – किया है, सो० – सुन के, नि० – शंका रहित, सु० – निर्दोष, प० – ले ले, स०—साधु ॥

भावार्थ—साधु कोई नई वस्तु देखे जिसमें शंका होना स्वाभाविक ही है तो वह पूछे कि उसे किसने बनाया है, क्यों बनाया है, आदि। ऐसे प्रश्नों का उत्तर सुन कर निःशंकित हो जाय तभी उसे ग्रहण करे।

टीका—यहाँ यह बताया गया है कि पूरी पूछताछ कर के निःशंकित हो कर किसी चीज़ को ग्रहण करना चाहिए। पूछ-ताछ में शब्द-जाल या मायाचारी नहीं होनी चाहिए; बल्कि पूरी सच्चाई और ईमानदारी होनी चाहिए। मन को संतोष हो जाय तब है निःशंकित होने मे ईमानदारी।

नोट—तेरहपंथी लोग गृहस्थो से सचित्त का त्याग करने के लिए कहा करते हैं। गृहस्थ लोग कहा करते हैं—'महाराज, यह त्याग निभ नहीं सकता'। इस पर ये लोग कहा करते हैं—जब तक महाराज यहाँ विराजमान है तब तक तो त्याग कर ही लो। इस पर बेचारे गृहस्थ कुछ दबाव की वजह से, कुछ लज्जावश, झुक जाते है और हरी वनस्पती गरम पानी में

से निकाल कर भावना भी भा देते हैं। अपने लिए प्राप्ति के ध्येय से ऐसा त्याग कराया जाता है अन्यथा महाराज के विराजने के समय तक के लिए क्यों त्याग कराने पर जोर दिया जाता है। वास्तव में यह सब पर्दे की आड़ में भाव–चोरी है। ऊपर से ये लोग कहा करते है कि 'शंका न रखो'। क्या खूब ! जो जी में आए खाओ, जो सामने आए खाओ और शंका न रखो। कितना अच्छा उपदेश है, कैसा वढ़िया समाधान है ! सच तो यह है कि ये लोग सचित्त-अचित्त का कुछ भी विचार नहीं करते हैं और जिस तरह भी हो सके उस तरह अपनी जिव्हा–लोलुपता को तृप्त करते हैं।

एक बार पूनमचन्दजी लाडनूँ में आचार्यजी के पास गए थे, तब उन्होंने आचार्यजी से कहा था—"महाराज ! अगर आप संतरे जाम आदि चीज़ें न लें तो क्या हरज है ?" उत्तर मिला—"हम तो कल्पता काम करते हैं। कन्हैयालालजी कितने ही पैम्फ़लेट छपा लें, भले ही तीन लाख रुपये ख़र्च कर दें, पर वे तेरहपंथियों का क्या बिगाड़ सकते हैं।" ऐसे थे आचार्यजी के शब्द। देखिए, जो व्यक्ति आचार्य कहा जाता है उसमें ऐसा घमंड, ऐसा मान ? यह आचार्यत्व है या कुछ और ? सुय० प्र० श्रु० अ० १३ सूत्र १४ में कहा है कि जो प्रज्ञावान हो कर गर्व करता है वह बाल अज्ञानी है। अब पाठक गण विचार करें कि ये तेरहपंथी लोग और इनके आचार्य क्या हैं ?

अध्याय : ६

जीमण

प्रश्न—तेरहपंथी कहा करते है कि गृहस्थ यदि एक लिस्ट (फहरिस्त) बना कर गृहस्थ लोगों को जीमणवार का न्योता दे तो साधु को नहीं लेना चाहिए लेकिन यदि लिस्ट बना कर जीमणवार का न्योता न दिया जाय तब साधु वहाँ से आहार ले सकता है और इस में कोई दोष नहीं है। यदि जीमणवार के बाद मिठाई आदि बची हो तब साधु को आवश्यकता हो तो ४-५ मन तक उसे लेने मे कोई हर्ज नहीं है। क्या तेरहपंथियों का यह मन्तव्य ठीक है ?

उत्तर—नहीं। तेरहपंथियो ने अपनी जिव्हा-लोलुपता के कारण ऐसा विधान बनाया है। इसका आगम तथा देव से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि इसका सम्बन्ध तो इनकी कोरी कल्पना-शक्ति से ही है जहाँ सच्चाई का नाम मात्र भी नहीं है। शास्त्रों में तो इस प्रकार जीमणवार की मिठाई आदि का लेना बार बार मना किया है जैसा कि आगे सूत्रों के उद्धरणों से पता लगेगा।

भिक्षुजी ने भी इसका निषेध किया है। भिक्षुजी की तद्विषयक गाथा निम्न प्रकार है:—

" जिमणवार में वहीरण जावे आसाधारी नहीं रीत जी। बरज्यो आचारंग वृत्त कल्पने, वली उत्तराध्येन निशीथजी। सरस आहार ल्यावे भर पात्रा ज्या लज्या छोडी ले भेखजी ॥ २० ॥

—शी० श० भा० २ ढाल १

और भी देखिए—

(१) वृहत् कल्प० उ० १ सूत्र ४६ या ४८ में जीमण में जाने के लिए मना किया है।

(२) निशी० उ० ८ सू० १५ में जीमन में जाने पर गुरु-चौमासिक दंड बताया है।

पाठ—

(३) जत्थेव सा संखडी सिया, तं जहा गामंसि वा, णगरंसि वा, खेडंसि वा, कव्वडंसि वा, मंडवंसि वा, पट्टणंसि वा, आगरंसि वा, दोण मुहंसि वा, निगमंसि वा, आसमंसि वा, रायहाणींसि वा, सणिवेसंसि वा, संखडिं संखा-डेयाए णो आभि संधारेज्या गमणाए, केवली बूया आयाण मेयं ॥६॥
संखडिं संखडिं पडियाए आभिसंधारे माणे

आहा कम्मियं वा, उद्देसियं वा, मीस जायं वा, किय गडं वा, पामिच्चं वा, अच्छेज्जं वा, अणिसिठ्ठं वा, अभिहडं वा, आहाट्टु दिज्ज माणं भुंजेज्जा असंजए भिक्खु पडियाए खुड्डिय दुवारियाओ महल्लियाओ कुज्जा, महल्लिय दुवारियाओ खुड्डियाओ कुज्जा, समाओ सिज्जाओ विसमाओ कुज्जा, विसमाओ सिज्जाओ समाओ कुज्जा, पवायाओ सिज्जाओ णिवायाओ कुज्जा, णिवायाओ सिज्जाओ पवायाओ कुज्जा, अंतो वा बिहि वा उवसयस्स हरियाणि छिंदियं छिंदियं दालिय दालिय संथारगं संथारेज्या एस विलुंगयामो सिज्जाय तुम्हा से संजए णियंठे अण्णयरं वा तहप्पगारं पुरे संखडि वा पच्छा संखडिं वा संखडि पडीयाए णो अभि सधारेज्जा गमणाए ॥७॥

—आचा० २ श्रु० पिन्डे० अ० १० उ० २ सू० ६-७

शब्दार्थ—ज० —वहाँ, सा० — वह, स० - जीमण, सि० — कदाचित, त० — वे, ज० — यथा, गा० — ग्राम में, ण० — नगर में, खे० - खेड़े में, क० - कवठ में, म० - मंडप में, प० - पाटण में, अ० - आगर में, दो० - दो मुख में. णि० - निग्राम में, आ० - आश्रम में, रा० - राजधानी में, स० - सन्निवेष में, सं० - जीमण, स० - जीमण लेने, णी० - नही, अ० - विचार करे, गा० - जाने का, के० - केवली ने फरमाया, आ० — आदान यह है ॥ ६ ॥

सं० - जीमण में से, स० - जीमण, प० - लेने, अ० - जाने की इच्छा करे, अ० - आधाकर्मी, उ० - उद्दिष्ट, मी० - मिश्र, की० - मोल लिया, पा० - उधार लिया, अ० - छीन कर लिया, अ० - जबरदस्ती लिया, अ० - सन्मुख आहार दे, आ० - ऐसा, दि० - देता हुआ, भु० भोगने, अ० - गृहस्थ, भि० - साधु के, प० - लिए, खु० - छोटे, दु० - द्वार को, म० - बड़ा, कु० - करे, म० - बड़े द्वार को, खु० - छोटे, कु० - करे, स० - सम जगह को, वि० - विषम करे, वि० - विषम जगह को, स० - सम करे, प० - हवा वाली, सि० - जगह को, णि० - बिना हवाकी, कु० - करे, णि० - बिना हवाकी, प० - हवा की करे, अ० - अन्दर, बा० - बाहर, उ० - उपाश्रय की, ह० - हरिकाय, छि० - छेद कर, दा० - विदार विदार कर, स० - बिछोना, सं० - बिछावे, ए० - ऐसी तरह, वि० - दोष लगे, सि० - स्थानक के, त० - इसलिए, सं० - संयति, नि० - निग्रंथ, अ० - अन्य, त० - तथा प्रकार का, पु० - पहिले का, स० - जीमण, प० पीछे का, स० - जीमण, म० - जीमन के, प० - लिए, णो० - नहीं, अ० - धारि जाना ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस-ग्राम-नगर-पुर-पाटणादि में जीमण हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए क्योंकि केवल-ज्ञानी ने जीमण में जाने से कर्मों का आश्रव होना कहा है ॥ ६ ॥

यदि साधु उक्त प्रकार के जीमण में जायँगे तो भाविक गृहस्थ साधु की भावनार्थ भोजन बना देंगे, आमंत्रण देकर आहार देंगे, अपने लिए और साधु के लिए शामिल आहार बनायँगे, भोग्य वस्तु मोल ला कर देंगे, उधार ले कर देंगे, निर्बल के पास से बलात्कार पूर्वक ले कर देंगे, गृहस्थ की अनुमति बिना उसकी चीज़ देंगे, अन्य स्थान से सन्मुख ला कर देंगे, इस तरह दिया हुआ आहार वे खायँगे, तथा वे गृहस्थ साधु के लिए

अंधेरी जगह में प्रकाश करने के लिए छोटे द्वार का बड़ा द्वार करेंगे, सम भूमि को विषम करेंगे, विषम भूमि को सम करेंगे, शीत ऋतु में ठंड का निवारण करने लिए वायु आने के मार्ग को बन्द करेंगे, उष्ण काल में वायु आने के लिए छोटे द्वार को बड़ा करेंगे, अन्दर या बाहर जो घास अंकुर आदि होगा उनका छेदन करेंगे, जो छेदन करने योग्य नहीं होंगे तो मट्टी से आच्छादित करेंगे, साधु को सोने-बैठने के लिए पाटले बिछाने का काम करेंगे," ऐसे अनेक दोषों का स्थान जीमणवार को जान कर पूर्व संखडि पच्छा संखडि में साधु को कदापि नहीं जाना चाहिए।

पाठ (४)—

से भिक्खू वा (२) अन्नतरं संखडिं वा सोच्चा णिसम्म संपरिहावंति उस्सूय भूतेण अप्पाणेणं 'धुवा संखडि' णो संचाएति तत्थ इयरेतरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिग्गहीता आहारं आहारेत्ताए, माइट्ठाणं संफासे। णो एवं करेज्जा॥ से तत्थ कालेणं अणुपविसित्ता तत्थे तरे तरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारेज्जा ॥ ३ ॥

—आचा० श्रु० २ अ० १० उ० ३ सू० ३

शब्दार्थ-से० — वे, भि० — साधु साध्वी, अ० — दोनों में से एक, सं० — जीमण, सो० — सुनके, णि० — अवधार कर, सं० — वहाँ

जाए, उ०—उत्सुक बन, अ०—स्वयं, धु०—निश्चल, सं०—जीमणमें, णो०—नही, सं० —समर्थ, त० — वहाँ, इ० — दूसरे, कु० — कुलमें, सा० — बहुत घरो की, ए० — निर्दोष, वे० — विशेष निर्दोष, पि० — आहारादि, प० — ग्रहण करके, आ० — आहार, आ० — भोगे, मा०—माया, ठा० — स्थान, सं० — स्पर्शे, णो० — नही, ए० — ऐसे, क० — करे, से० — वे, त० — वहाँ, का० — समय पर, अ० — प्रवेश कर, त० — वहाँ, इ० — तरह तरहके, कु० — कुल में, स० — अनेक घरों में, ए० — निर्दोष, वे० — विशेष निर्दोष, पि० — आहार, प० — ग्रहण कर, अ० — आहार, आ० — भोगे, ॥

भावार्थ—यदि कोई साधु साध्वी जीमण में भिक्षार्थ जायगा तो वह फिर भिन्न कुलों में से निर्दोष आहार लाने का परिश्रम नहीं करेगा, किन्तु वहाँ ही सदोष आहार का भोगी होगा। ऐसे प्रमाद-वृद्धि का कारण जीमण में कदापि नहीं जाना चाहिए; परन्तु भिक्षा के समय बहुत घरों से आधाकर्मादि दोषों से रहित आहार ग्रहण करके भोगना चाहिए।

नोटः—उपरोक्त प्रमाणों द्वारा यह बिल्कुल स्पष्ट है कि साधु के लिए जीमण में से आहार लेना अर्थात् वहाँ से आहार लेना जहाँ जीमण हुआ है या होने वाला है, दोष है। इस तरह एक ही जगह से अधिक मात्रामें आहार लेना मना किया है। लेकिन तेरहपंथियों के मतानुसार तो ४-५ मन तक आहारादि एक ही जगह से लिया जासकता है। आगम में तों बहुत घरों से थोड़ा थोड़ा आहार लेने का आदेश है (प्रश्न० व्या० २ संवरद्वार अ० १ सूत्र १०)। सुबह शाम जो प्रतिक्रमण किया जाता है उसमें 'गोयर चरियाए' द्वारा गाय सरीखी गोचरी करना बताया

है अर्थात् अलग अलग जगह से थोड़ा थोड़ा लेना बताया है। दशवे अ० १ में भ्रमर की तरह गोचरी करना बताया है। लेकिन ये तेरह-पंथी गधा-गोचरी करने का समर्थन करते हैं और गधा-गोचरी करते भी हैं। धन्य है इनकी जिन-वचन-पालकता को और बलिहारी है इनकी बुद्धि को।

अध्याय : ७

नित्य-पिण्ड

प्रश्न—नित्यपिंड का सेवन दोषयुक्त है या नहीं ?

उत्तर—हाँ, दोष-युक्त है। लेकिन तेरहपंथी नित्यपिंड को लेना दोष नहीं मानते है और इसके समर्थन में कहते है कि सार्द्धशतक प्रश्न ५७ में निशी० उ० २ सू० ४६-४७ मे ठहरने की जगह के स्वामी (सज्झातर) का पिंड ग्रहण करने में दंड बताया गया है, उ० ९ सू० १ व २ में राज-पिंड लेना और भोगना दोनों में दण्ड का विधान किया है, लेकिन निशी० उ० २ सू० ३३ में नित्यपिंड का भोगना दोषयुक्त बताया गया है। इस तरह सज्झातर-पिंड को ग्रहण करना और राजपिंड को ग्रहण करना और भोगना पाप है—यह स्पष्ट है, लेकिन नित्यपिंड को ग्रहण करना पाप नहीं है, उसे भोगना पाप है। यदि नित्यपिंड लेना भी पाप होता तो सज्झातर-पिंड और राज-पिंड की तरह इस को लेना भी स्पष्ट रूप से दोपयुक्त बताया गया होता। इस तर्क को लेकर इन तेरहपंथियों की यह मान्यता हो गई है कि नित्यपिंड न भोगा जाय तो उसे लेना दोष नहीं है।

तेरहपंथियों का यह कथन भ्रम-मूलक है। ये लोग रोगी साधु के लिए खाने को भी लेते हैं और अन्य कामों के लिए नित्य प्रतिदिन पानी और औषधि आदि लिया करते हैं। यह शास्त्रोक्त अग्राह्य है—पाप है। उनका यह व्यवहार भिक्षुजी के कथन के भी विरुद्ध है। प्रश्न ५६ में लिखा है कि नित्यपिंड वस्तु अशुद्ध नहीं है, अतः विशेष कारण से उसे लेने में कोई दोष नहीं है। कोई यह कहे कि यह अनाचार है तो क्यों लेते हो? अनाचार तो स्नान करना भी है। खैर, नित्यपिंड अंजन आदि कारण-वश लेना दोषयुक्त नहीं है, लेकिन रोज़ लेना—बिना किसी विशेष उपर्युक्त कारण के लेना—तो सर्वथा दोष-सेवन है ही।

नोट—तेरहपंथी कहा करते हैं कि नित्यपिंड लेना दोष नहीं है, लेकिन भोगना दोष है। उदाहरण के तौर पर हाथ-मुँह धोने, लूणे धोने, पानी-शरीर पर मलने के तेलादि-लेने आदि में कोई दोष नहीं बताते हैं। भोगने का अर्थ ये लोग गले से नीचे उतारना समझते हैं लेकिन भोगने का अर्थ यह नहीं है। भोगने का अर्थ है काम में लेना, व्यवहार में लाना, उपयोग करना, आदि। इस तरह हाथ-मुँह धोने के लिए पानी काम में लाया जाय तो यह पानी भोगा गया, शरीर पर तेल मला जाय तो यह तेल भोगा गया। तेल तो शरीर के अन्दर भी जाता है और शरीर को पुष्ट करता है, अतः उसके लिए तो तेरहपंथियों की मान्यता के आधार पर भी भोगा जाना ही कहा जायगा। इन लोगों ने अपने को अधिक से अधिक सुविधा और आराम देने के लिए अर्थ का अनर्थ करने में कोई कसर नहीं की है और

भोगने का वे जो अर्थ करते हैं वह उसका एक बढ़िया उदाहरण है।

तेरहपंथी कहते हैं कि दशवे० अ० ६ सूत्र ४९ में चार चीज़ों को ममत्व-भाव से लेना अग्राह्य कहा है, लेकिन सूत्र ५० में तीन को ही अग्राह्य कहा है, नित्यपिंड को छोड़ दिया है, अतः नित्यपिंड ममत्व-भाव से लेना अग्राह्य है, अन्यथा वह ग्राह्य है ही। लेकिन यह उनका भ्रम है। सूत्र में जो 'नियागंग' शब्द है उसका अर्थ 'नित्य एक घर से लेना' है, और 'ममायन्ति' का अर्थ आमंत्रण करने वाले के घर से ही लेना है। 'ममायन्ति' का अर्थ ममत्व-भाव नहीं है। तेरहपंथी इसका यह अर्थ करके गलती करते हैं। ऐसा ही अर्थ सुप्रसिद्ध जर्मन ऐतिहासिक विद्वान डा० जाकोबी के शिष्य प्रो० लेमनसाहब के शिष्य शोलघर ने किया है।

तेरहपंथी लोग जगह बदल बदल कर एक ही मकान मे अलग अलग क्षेत्रों मे भोजन लेते हैं। भोजन एकही व्यक्ति से लेते है लेकिन स्थान बदल लेते है और वह भी एकही घर या हवेली में। एकही व्यक्ति से भोजन लेते रहना नित्यपिंड है, न कि एकही स्थान में भोजन लेते रहना। नित्यपिंड होने न होने का सम्बन्ध दातार के न बदलने बदलने से है, स्थान के न बदलने बदलने से नहीं। तेरहपंथियों ने तो साधु-धर्म को तमाशा बना दिया है। जैसे एक नाटक का पात्र स्टेज पर खेल दिखाता है लेकिन परदे बदल बदल कर, तब भी वह उसी स्टेज का अभिनेता है, इसी

तरह ये लोग साधुत्व को रंग-मंच बना कर उस पर स्थान-रूपी परदे तो बदलते रहते हैं लेकिन व्यक्ति रूपी स्टेज वही होता है। इस तरह ये साधु-धर्म का पालन क्या कर रहे हैं? एक खेल कर रक्खा है। सचमुच इनकी लीलाएँ बड़ी ही विचित्र है।

इन तेरहपंथियों ने यह कह कर कि 'जित व्यवहार' के अनुसार दोष नहीं है, नित्यपिंड सेवन करना शुरु कर दिया। भग० श० ८ उ० ८ सू० ७ में पाँच तरह के व्यवहारों का उल्लेख आया है। (१) आगम व्यवहार (२) सूत्र व्यवहार (आचारांग आदि) (३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार (५) जित व्यवहार। एक का विच्छेद हो तो अगले का अनुकरण करने का आदेश है। ऐसा ही विधान व्यवहार सू० उ० १० सू० ६ में है। आगम व्यवहार का तो आजकल अभाव ही है। सूत्र व्यवहार से साधु-जीवन का संचालन होता है। जब सूत्र व्यवहार न रहें तब आज्ञा व्यवहार के लिए स्थान है, आज्ञा व्यवहार न रहे तब धारणा व्यवहार का स्थान है और जब धारणा व्यवहार न रहे तब जित व्यवहार को स्थान है। जित व्यवहार का अर्थ है वह व्यवहार जो ४—५ निःपक्ष व्यक्ति मिल कर जो आज्ञाएँ दे उस के अनुकूल हो, उसका उल्लंघन न करे। लेकिन जब आगम व्यवहार, सूत्र व्यवहार, आज्ञा व्यवहार और धारणा व्यवहार में से कोई न हो तभी जित व्यवहार का अनुकरण वांछनीय है। आजकल सूत्र व्यवहार है अतः सूत्र व्यवहार का ही अनुकरण होना चाहिए। जित व्यवहार की बात सूत्रों के आदेश के विरुद्ध है। जयाचार्यजी ने भोले भाले लोगों को भ्रमजाल में डालकर,

भुलावे में डालकर, पथ-भ्रष्ट करने के लिए ही ऐसा लिख मारा है।

पाठ—

" जे नियागं ममायंति कियमुद्दे सियाहडं ।
वहंते समणु जाणन्ति इ अवुत्त महेसिणा ॥ ४९ ॥
—दशवै० अ० ६ सू० ४९

शब्दार्थः—जे० – ये कोई द्रव्य साधु, नि० – गृहस्थ नित्य आमंत्रण देता है, म० – हमारे घर से इतना आहार, आ० – लेना, कि० – (साधु निमित्त) बेचा तोले के देवे, उ० – (साधु को) रांध कर देवे, अ० – सामने ला कर देवे, व० – वध (स्थावर आदि जीव का होता है), तो०—वह द्रव्य साधु, स० – अच्छा जाने, इ०— ऐसा, वु० – ऐसा बताया, म० – भगवान महावीर स्वामी ने ॥ ४९ ॥

भावार्थ—नित्यपिंड अर्थात् सदैव एक ही घर से भोजन लेना, निमंत्रण देने वाले के घर ही जाना, कोई साधु के लिए ही मोल ले कर दे तो उसे ग्रहण करना, कोई साधु के लिए ही बना कर दे तो उसे लेना, कोई साधु के सन्मुख ला कर दे तो ले लेना—यह अग्राह्य है, त्याज्य हैं, दोष-सेवन है, पाप है। ऐसे दोष-सेवी को षटकाय के वध का अनुमोदक समझना चाहिए। ऐसा महाऋषि श्री० तीर्थंकर भगवान ने कहा है।

टीका—उपरोक्त पाठ में नित्यपिंड लेने वाले को षट-काय के वध का अनुमोदक कहा गया है। जयाचार्यजी ने भग-वान जिनेन्द्र और आगम की इस आज्ञा को न मान कर जो

लिखा है उसीको मान कर ये तेरहपंथी लोग कारणवश औषधि व चारों आहार और दूसरे कामों के लिए या पंचमी [स्थन्डिल-भूमि] के लिए धोवण का पानी वगैरह लेते हैं और इस दोष-सेवन को दोष-सेवन नहीं समझते हैं। चाहे 'लेना' कहो, चाहे 'ग्रहण करना' कहो एक ही बात है, एक ही अर्थ है। यह शब्द-जाल तो केवल भोले-भाले लोगों को फँसाने के लिए और अपना उल्लू सीधा करने के लिए बुना गया है। सूत्र में जब स्पष्ट रूप से मना है तो जित व्यवहार आदि की दुहाई दे कर लेना सर्वथा अनुचित है, चोरी और सीनाज़ोरी है। सूत्रों के होते हुए जित व्यवहार को कोई जगह नहीं, अन्यथा सूत्रों के विधान का महत्त्व ही क्या रह जायगा? जब स्पष्ट लिखा है तब तो उसके विरुद्ध यह आचरण और वकालत है, और यदि स्पष्ट न लिखा होता तो ये लोग न जाने क्या करते?

पाठ—

जे भिक्खुणितियं वंदेई वदंतं वा साइज्जइ ॥४८॥
जे भिक्खुणितियं पसेसइ पसंसतं वा साइज्जई ॥४९॥
—निशी० उ० १२ सू० ४८-४९

भावार्थ—जो साधु सदैव एक ही घर से चार प्रकार के आहारादिक (नित्यपिंड) लेनेवाले की वन्दना करे, करने वाले को अच्छा जाने, (अथवा) जो साधु नित्यपिंड लेनेवाले की प्रशंसा करे, करनेवाले को अच्छा जाने, (उसे लघुमासिक दंड बताया है)।

नोट—उपरोक्त प्रमाण द्वारा नित्यपिंड का ग्रहण करना स्पष्ट रूप से त्याज्य एवं दोष-युक्त है।

पाठ—

सखुड्डग वियात्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखण्ड फुड़िया कायव्वा तं सुणेह जहा तहा ॥६॥
दस-अट्ठ य ठाणाइं जाइं बालो वरज्झई।
तत्थ अन्नयरे ठाणे निग्गंथ त्ताओ भस्सई ॥७॥
वय छक्कं, काय छक्कं, अकप्पो गिहि भायणं।
पलियंक निसज्जा यं, सिणाणं सोभ वज्जणं ॥८॥

—दशवे० अ० ६ सू० ६-७-८

शब्दार्थः—स० – वह, खु० – बालक द्रव्य-भाव से, वि० – युवक, बा० – वृद्ध पर्यन्त (व्याधिवाला), च० – फिर (व्याधि विना), जे० – वे, गु० – गुण (अठारह स्थानक रूप आचरण करते), अ० – देश विराधना रहित, अ० फु० – सर्व विराधना रहित, का० – रहना, तं० – वे, सु० – मैं कहता हूँ ॥ ६ ॥

द० अ० – अठारह, य० – यानि, ठां० – अठारह स्थानक, जा० – वे स्थानक, वा० – वाड तत्व का अजान, अ० – सेवन करे, त० – वे (अठारह महीनें का), अ० – कोई भी, ठ० – एक स्थान (विराधे), नि०–साधुत्व से, भ० – भ्रष्ट होता है ॥ ७ ॥

व० – अहिंसादिक व्रत, छ० – छह, का० – पृथ्वीकाय आदि छह काय, छं० – छह, अ० – अग्राह्य आहारादिक लेवे, गि० – गृहस्थ का, भा० – भाजन में जीमे, प० – पलंग पर सोवे (अथवा) बैठे, नि० – बैठना (गृहस्थ के यहाँ), य० – फिर, सि० – स्नान करना, सो० – शोभा के लिए बाल आदि सँवारना, व०–मना किया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—छोटी वय वाले से वृद्ध पर्यंत और सरोगी व निरोगी को देश व सर्व विराधना रहित जो गुण है वह मैं जैसे के तैसे कहता हूँ, सो सुनिए। पूर्वोक्त गुणी साधु अवगुणों के अखण्ड त्यागी होते हैं। अवगुण के अठारह स्थानक हैं जिनसे बाल अज्ञानी अपनी आत्मा को दूषित करता है। उसमें से किसी एक स्थानक का सेवन करने वाला साधु साधुत्व से भ्रष्ट होता है।

अब इन अठारह स्थानक के नाम बताते हैं:—

६ व्रत—(१) प्राणातिपात (२) मृषावाद (३) आदत्तादान (४) अब्रह्मचर्य (५) परिग्रह (६) रात्रिभोजन—इनका त्याग; ६ त्यागरूप काय—(१) पृथ्वी काय (२) जल काय (३) वायु काय (४) अग्नि काय (५) वनस्पति काय (६) त्रस काय, इस तरह ये बारह हुए; अब (१३) अग्राह्य * वस्तु लेना (१४) गृहस्थ के बरतनों में खाना (१५) पलंग पर बैठना (१६) गृहस्थ के घर बैठना (१७) छोटा-बड़ा स्नान करना (१८) शोभा करना। यदि साधु इन अठारह स्थानकों मे से एक की भी विराधना करे तो तीर्थंकर भगवान के कथनानुसार उसे (१) बाल (२) भ्रष्ट (३) पाँच महाव्रत का त्यागी, (४) लोभी (५) गृहस्थ सरीखा (६) महावीर के वचनों से विमुख और (७) साधुत्व से वंचित कहा

---

* दशवै० श्रु. में आगे चल के जो अर्थ किया है वह इस प्रकार है:—अशुद्ध मकान (सैया) लेना अशुद्ध वस्त्र लेना, पात्र लेना, नित्यपिण्ड लेना, आमंत्रण पर-से-भोजन को जाना, उद्दिष्ट भोजन लेना, सन्मुख लाया भोजन लेना।

जा सकता है। अतः साधु का कर्तव्य है कि वह ऊपर बताए हुए अठारह दोषों से अलग रहकर अपने जीवन को आगम में बताए हुए साधु-जीवन के अनुकूल बनाए।

भिक्षुजी का वचन

"अठारे ठाणा कह्या जुवा जुवा एक विराधे कोय जी।
बाल कह्यो श्री० वीर जिणेसर साधम जाणो सोय जी ॥
साधू मत जाणो इण चल गत सुं ॥ ३ ॥
आहार सेज्याने वस्त्र पातर असुध लिया नहीं संतोजी।
दशवैकालीक छटे अध्ययने भिष्ट कह्यो भगवंतो जी ॥४॥
नित को बहिर एकण घर को, च्यारां में एक आहारोजी।
दशवैकालीक तिजे अध्ययने साधूने कह्यो अणाचारोजी ॥१०॥
जो लेवे नित को धोवण पाणी तिण लोप्यो सूत्र रोन्यायजी।
बतलाया बोल नहीं सुध दूषण देवे छिपायोजी ॥ ११ ॥
नहिं कल्पते वस्तु वहिरे, तिण में मोटी खोटीजी।
आचारांग पहिले सुतखंडे कह दियो भगवंत चोरोजी ॥१२॥

टीका—भिक्षुजी ने यहाँ यह बताया है कि अठारह ठाणों में से कोई एक की भी विराधना करे तो उसे साधु नहीं मानना चाहिए। इसी तरह भिक्षुजी ने नित्यपिंड धोवण पानी लेने वालेको चोर बताया है—भ्रष्ट बताया है। इस से यह बिल्कुल स्पष्ट है कि तेरहपंथियों ने चौथे पट्टधर जयाचार्यजी के लिखे अनुसार दोष-सेवन शुरू कर दिया और यह न ध्यान दिया कि भगवान जिनेन्द्र और आगम की प्रामाणिक आज्ञा क्या है?

पाठ—

जे भिक्खू णितियं पिंड भुंजइ भुजंतं वा साइज्जई ॥३३॥
—निशी० उ० २ सू० ३३

शब्दार्थ—जे० - जो, भि० - साधु, णि० - नित्य, पि० - आसणादिक चार आहार, भु० - भोगते को अच्छा जाने ॥३३॥

भावार्थ—जो साधु सदैव एक ही घर के आहार पानी आदि का सेवन करे, करते को अच्छा जाने, (उसको लघु-मासिक प्रायश्चित का विधान है)।

नोट—यहाँ बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया गया है कि नित्यपिंड का सेवन करना दोप है और इस दोष के लगने पर लघुमासिक प्रायश्चित का विधान है।

पाठ—

ते गिच्छं नाभि नंदेज्जा, संचिक्खस्त गवेसए।
एवं खु तस्स साभण्णं जं न कुज्जा न कारवे ॥३३॥
—उत्त० अ० सूत्र ३३

शब्दार्थ—ते गि० - चिकित्सा की प्रशंसा करना, ना० - अनुमोदन नहीं करना, स० - समाधि सहित रहना, अ० - चारित्र आत्मार्थी, ए० - यह विधि (इस प्रकार), खु० - इसलिए, त० - उस साधु को, सा० - चारित्र पालना सुलभ, ज० - आत्मा द्वारा पीड़ित, न० - नहीं करे स्वतः, न० - पर गृहस्थ से भी न करावे ॥३३॥

भावार्थ—आत्मा की गवेपणा करने वाले साधु रोग-परिपह को वेदनीय कर्म के उदय का कारण जान कर चिकित्सा

की प्रशंसा नहीं करते हैं। इस तरह जो चिकित्सा नहीं करते हैं, अन्य से नहीं कराते है और करने वाले को अच्छा नहीं जानते है, उनमें ही सच्चा साधुत्व है।

पाठ—

> " उद्देसिय कियगडं नियागं न मुचई किं अणेसणिज्जं। अग्गी विवा सव्व भक्खी भविन्ता, इत्तो चुए गुच्छइ कट्टुपावं ॥४७॥
>
> उत्त० अ० २० सूत्र ४७

शब्दार्थ—उ० - आधाकर्मी आहार स्थानक उद्दिष्ट भोगे, कि० - मोल का लाया लेवे, नि० - नित्यपिंड चारो आहार लेवे, न० - नही, मु० - छोड़े, किं० - किंचित मात्र, अ० - दोष सहित, अ० - अग्नि, वि० - तरह, स० - सब, भ० - भक्षी, भ० - होता है, इ० - यहाँ से, चु० - मरके दुर्गति मे, गु० - जाता है, क० - करके, प० - पाप कर्म ॥

भावार्थ—जिस प्रकार अग्नि सर्वभक्षी है, उसी प्रकार जो साधु भी सर्वभक्षी है अर्थात् जो साधु के उद्देश्य से बनाया गया आहार [उद्दिष्ट आहार], मोल लाया हुआ आहार, तथा नित्यपिंड इत्यादि दोषयुक्त आहारादिक को न छोड़े, बल्कि उनका भी भक्षण कर जाय वह महा पाप-कर्म का उपार्जन करने वाला है और वह दुर्गति में जाता है।

नोट—देखिए, यहाँ नित्यपिंड को उद्दिष्ट आहार सरीखी त्याज्य और दोषयुक्त वस्तु बताया है। जो लोग नित्यपिंड हड़प जाने के आदी है वे उपर्युक्त प्रमाण द्वारा पापी है और दुर्गति में जाने की तय्यारी करनेवाले अभागे हैं। क्या तेरहपंथी अपनी भूल सुधारेंगे?

अध्याय : ८

पानी

प्रश्न—तेरहपंथी लोग एक, दो या तीन दिन का साधु की भावनार्थ रखा हुआ पानी लेते हैं और उसमें कोई दोष नहीं समझते हैं। क्या उनका यह व्यवहार ठीक है?

उत्तर—नहीं, क्योंकि यह दोष-सेवन है। दोष को दोष भले ही न समझा जाय लेकिन दोष तो दोष ही है।

भिक्षुजी ने बताया है कि आसणादिक चार आहार रखने से कर्म-बंधन होता है। दशवै० अ० १० सू० ८ में आसणादिक चार आहार का संचय करनेवाले को और करते को अच्छा न जानने वाले को साधु बताया है। निशी० उ० ४ सूत्र २४ में यह उल्लेख है कि यदि साधु के देने योग्य वस्तु गृहस्थ द्वारा स्थापित करके रखी हो तो उस घर में बिना पूछ-ताछ या गवेषणा किए आहारादिक के लिए जाय, जाते को अच्छा जाने तो उसके लिए लघुमासिक प्रायश्चित का विधान है। सुबह शाम प्रतिक्रमण में बोला जाता है कि रात्रि के समय आसणादिक चारों आहार और कणमात्र भी स्निग्ध पदार्थ रखे, रखाये, रखते को अच्छा जाने तो मिच्छमिदु-

कर देते है। देखिए, कितना स्पष्ट वर्णन है। आगे पानी का वर्णन देते है।

पाठ—

> तहे वुच्चावायं पाणं अदुवा वार धोवणं।
> संसे इमं चाउलोगदं अहुणा-धोयं विवज्जए ॥७५॥
> जं जाणेज्ज चिराधोयं मईए दसणेणवा।
> पडि पुच्छिऊण सोच्चावा, जंच निस्संकियं भवे ॥७६॥
> —दशवे० अ० ५ उ० १ सू० ७५-७६

भावार्थ—ऊँचा सुगंधमय पानी, द्राक्षादिक का धोवण, और अवच जिसमें अच्छी सुगंध नहीं है वैसा काँजी का धोवण, गुड़ की हँडियो को धोकर निकाला हुआ धोवण, काथ-रोट का धोवण, चावल का धोवण और चौबीस प्रकार के धान्य का धोवण इत्यादि तत्काल (एक मुहूर्त के पहिले) बने हुए हो तो ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि एक मुहूर्त तक धोवण मिश्र रहता है और अधिक समय तक रखा रहने से वह अचित्त बन जाता है॥ ७५ ॥

पूर्वोक्त प्रकार के किसी भी धोवण को बने हुए बहुत देर हो गई है ऐसा उसके रंग आदि के बदल जाने से अपनी बुद्धि से जानना चाहिए और दृष्टि से देखना चाहिए और पूछ कर शंकारहित हो जाना चाहिए अर्थात् यह निश्चय हो जाना चाहिए कि अच्छी तरह शस्त्र-परिगमन द्वारा वह अचित्त बन गया है और तब उसे ग्रहण करना चाहिए। यदि ग्रहण

करते समय ऐसा विचार हो जाय, ऐसी शंका उत्पन्न हो जाय, कि यह धोवण ग्राह्य है या नहीं, तो उसे चाहिए कि गृहस्थ से थोड़ासा धोवण अपने हाथ की हथेली पर लेकर उसे चख ले और देखे कि वह ग्रहण करने योग्य है अथवा नहीं ? ॥७६॥

नोट—ग्रहण करते समय निःशंकित होना जरूरी है। मन में किसी भी तरह की किसी अंश तक भी शंका हो तो ग्राह्य वस्तु भी ग्रहण करना दोष-सेवन है। अपनी तरफ से पूरी सतर्कता रखते हुए पूरी छानबीन के बाद जब मन मे कोई शंका न रह जाय तभी ग्रहण करना उचित है। निःशंकित होने का यह अर्थ नहीं है कि शंका का कारण होते हुए भी शंका न करना। यह तो एक प्रकार की आत्मवंचना है, पाप है।

पाठ—

> **चउत्थ भत्तियस्सणं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए तं० उस्सेइ मे संसेइ मे चावल धोवणे। छट्ठ भत्तियस्सणं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए तंजहा-तिलोदए, तुसोदए जवोदए। अट्ठम भत्तियस्सणं भिक्खुस्स कप्पंति तओ पाणगाइं पडिगाहित्तए तं जहा आयामए सोवीरए—सुद्ध वियडे ॥ १६ ॥**

—ठा० अ० ३ उ० ३ सूत्र १६

शब्दार्थ—च० - चौथभक्त, भि० - साधु को, क० - ग्राह्य हैं (तीन), प० - पानी, प० - लेने को, उ० - ओसमान, स० संस्वेदिम,

च० - चावलों का पानी, छ० - छट्ट भक्ति वाले, भि० - साधु को, क० - ग्राह्य है (तीन), त०-तीन तरह के पानी, प०-लेने को, ति० - तिल का धोवण, तु० - तुस का धोवण, ज० - जौ का धोवण, अ० - अष्ट भक्ति वाले को, भि० - साधु को, क० - ग्राह्य है, त० - तीन तरह का पानी, पा० - लेने को, आ० - आछ, सो० - आटे का धोवण, सु० - शुद्ध गरम पानी ॥

भावार्थ---चौथभक्त (दो उपवास करने वाले) साधु को तीन प्रकार का पानी ग्रहण करना चाहिए---(१) व्रीही जैसी वस्तुओं का धोवण (२) शाकभाजी उवाल कर जो पानी निकले वह धोवण और (३) चावलों का धोवण। षट-भक्त (दो उपवास करनेवाले) साधु को भी तीन प्रकार का पानी ग्राह्य है---(१) तिल का धोवण (२) तुस का धोवण और (३) जौ का धोवण। अष्टभक्त (तीन उपवास करने वाले) साधु को भी तीन प्रकार का ही धोवण ग्राह्य है---(१) छाछ (मट्ठा) की आछ (२) कांजी का पाणी और (३) उष्ण जल ॥

टीका---यहाँ यदि उपवास बेला-तेला की तपस्या में भी (१) व्रीही भाजी का उवाला पानी (२) चावल का धोवण, (३) तिल का धोवण (४) आटे के भूसा का धोवण (५) जौ का धोवण, (६) छाछ की आछ (७) कांजी का पानी और (८) उष्ण जल का सेवन करे तो ग्राह्य है। उक्त प्रकार के पानी लेने से तपस्या का भंग नहीं होता। इससे यह स्पष्ट है कि तीक्ष्ण शस्त्र के परिगमन के बिना साधु को पानी नहीं लेना चाहिए; क्योंकि वहाँ पानी पूर्णतः अचित्त होता है जिसमें तीक्ष्ण-शस्त्र का परिगमन कर दिया जाता है।

दशवे० अ० ८ सूत्र ६ मे गरम पानी लेने का आदेश है।

पाठ—

(१) उस्से इमं वा (२) सांमंइमं वा (३) चावलोदंगं वा
[आचा० २ श्रु० अ० १० पिंडे उ० ७ सू० ९]

(४) तिलो दंगं वा (५) तुसो दंगं वा (६)
जवो दंगं वा (७) आयामं वा (८) सोविरं वा
(९) सुद्ध वियडं वा ॥
[आचा० २ श्रु० अ० १० उ० ७ सूत्र १०]

(१०) अंब पाणगं वा (११) अंबा डग पाणगं वा
(१२) कविट्ठ पाणगं वा (१३) मातुलिगं
पाणगं वा (१४) मुद्धिया पाणगं वा (१५)
दालीबं पाणगं वा (१६) खज्जुर पाणगं वा
(१७) णलिए पाणगं वा (१८) करीर पाणगं वा
(१९) कोल पाणगं वा (२०) अमलग पाण
(२१) चिंचपाणगं वा ॥
अणतरं वा तहप्पगारं पाणं गजातं स अट्ठियं
सकणुयं सावियगं असंजए भिक्खु पडियाए
छब्बेण वा सेणवा, वाल गेणवा आविलियाण
पवीलियाण, परिसाइयाण आहदुदलएज्जा,
तहप्पगारं पाणं गजातं अफासुयं लाभे संते णो
पडिगाहेज्जा ॥ १ ॥
[आचा० २ श्रु० पिंड० अ० १० उ० ८ सूत्र १]

शब्दार्थ—(१) आटा का धोया हुआ पानी (२) ढोकले का पानी, (३) चावलों का धोया हुआ, (४) तिल्ली का धोया [ओसापान का], (५) तुस का धोया, (६) जौ का धोया, (७) ओसमान का, (८) छाछ की आछ, (९) उष्ण जल, (१०) आम का धोया, (११) अम्बाड़ी का धोया, (१२) कवि्ट का धोया, (१३) बिजौरे का, (१४) द्राक्ष का, (१५) अनार का, (१६) खजूर का, (१७) नारियल का धोया हुआ, (१८) केर का, (१९) बोरकुट का, (२०) आँवले का, (२१) इमली का ॥

अ० - और भी, त० - वैसा, पा० -पानी, स० - गुठली सहित, स० - छाल सहित, स० - बीज सहित, अ० - गृहस्थ, भि० - साधु के लिए, छ० - छबड़ी में, दु० - वस्त्र में, वा० - चलनी में, आ० - छान कर, प० - विशेष छानकर, य० - शुद्ध कर के, अ० - ऐसा, द० - देवे वैसा, पा० - पानी, अ० - सदोष, ल० - मिले तो, न० - न लेवे ॥

भावार्थ—उपरोक्त २१ प्रकार का पानी आचारांग सूत्र में बताया गया है। अन्य इसी तरह का पानी हो और उसमें गुठली, छाल या बीज रह गया हो और गृहस्थ साधु के लिए वस्त्र या चलनी से छान कर दे तो साधु को उस जल को अप्रासुक समझ कर ग्रहण नहीं करना चाहिए।

दशवे अ० ५ उ० २ सूत्र २२ में तीन बार उबाले हुए पानी को लेने का आदेश है, लेकिन तेरहपंथी लोग तो मामूली पानी ही लेते हैं जो शास्त्र-विरुद्ध है।

ये लोग २-३ दिन तक का रखा हुआ अचित्त पानी भी ले लेते हैं परन्तु पानी की तीन योनियाँ बताई हैं—(१) सचित्त (२) मिश्र (३) अचित्त। क़रीब क़रीब ४ पहर अर्थात् १२ घंटे के बाद तक रखा हुआ हो तो अचित्त पानी के सचित्त होने की

तथा उसमें त्रस जीवो के उत्पन्न होने की संभावना है, अतः वह पानी सचित्त या मिश्र होना चाहिए, लेकिन ये लोग उसे लेने में कोई भी संकोच नहीं करते है।

पाठ—

> **जे भिक्खु उस्सयमं वा, संसेयमंवा, चा उलोदगंवा, बरोदगंवा, तिलोदगंवा, तुसादेगंवा, जो बोदगंवा, भूसोदगंवा, आयामंवा, सोवीरंवा, अंबकंजितं वा, सुद्धे व्रियडंवा, आहुणो धोयं अलं विलं अपरिणतं अविधत्थं अवक्कतं जाव पडिगाहेति पडिग्ग हंता साइज्जइ ॥१३८॥**
>
> —निशी० ठ० १७ सूत्र १३८

भावार्थ—जो साधु [१] ओसमान का पानी [२] कटोती आदि का धोवण [३] चावलो का धोवण [४] गुड़ आदि के बरतनों का धोवण [५] तिलो का धोवण [६] तुसो का धोवण [७] जौ का धोवण [८] भूसा का धोवण [९] लोहा गरम करके जिस पानी में उसे बुझाया हो वह पानी [१०] छाछ की आछ [११] कांजी आम्र (आम) का शुद्ध अचित्त पानी [१२] तत्काल का (जिसे बनाए हुए एक मुहूर्त का समय न हुआ हो) पानी जिसके स्वाद मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ हो, जिसमें अन्य शस्त्र का परिगमन न हुआ हो, जो जीवों के प्रदेशो से रहित नहीं हुआ हो, जो जीव से पृथक न हुआ हो, उसे ग्रहण करे, ग्रहण करते को अच्छा जाने, (उसे लघु चौमासिक प्रायश्चित करना चाहिए) ॥१३८॥

नोट—यहाँ उपरोक्त प्रकार का तीक्ष्ण शस्त्र का धोवण पानी लेना बताया गया है। शास्त्रों का यही विधान है। वर्ण, रस गंध, आदि में कोई परिवर्तन न हुआ हो अर्थात जिसमें किसी अन्य शस्त्र का परिगमन न हुआ हो, या जिसकी सात्विकता के विषय मे शंका हो तो वह जल नहीं लेना चाहिए; यदि कोई ले तो यह दोष-सेवन है और अपराध है, जिसके प्रतिकार के लिए दंड का विधान है। कहीं भी शास्त्र मे राख का पानी या राख के शस्त्र का धोवण पानी लेने के विषय मे कोई उल्लेख नहीं है। बावीस सम्प्रदाय के साधु बरतनों का धोया हुआ पानी अचित्त समझ कर लेते हैं और तेरहपंथी साधु उसी नक़ल को ले कर राख का धुला हुआ पानी लिया करते हैं।

पहिली बात तो यह है कि राख शस्त्र ही नहीं है, उससे जल का जीव-रहित होना ग़लत बात है। जिस तरह मिट्टी पानी में डाल दी जाय, तो उससे जल अचित्त नहीं हो जायगा, इसी तरह राख डालने से भी जल अचित्त नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि राख पानी मे घुलती नहीं है। पानी में राख डाल कर जब पानी को हिलाते हैं, तो राख के कण पानी में बिखर जाते हैं और पानी काला मालूम होने लगता है। लेकिन कुछ समय तक पानी को न हिलाया जाय और उसे रख दिया जाय, तो हम देखेंगे कि राख पानी के नीचे बैठ जायगी और साफ़ पानी ऊपर रह जायगा। कोई यह कह सकता है कि वह पानी बिल्कुल साफ नहीं होता है, बल्कि उसमें राख का कुछ

अंश घुल जाता है, लेकिन यह भी गलत है। हम खुर्दबीन से देखें, तो हम उस पानी में राख के बहुत सूक्ष्म कणों को, जो हमें आँखों से दिखाई नहीं देते थे, घूमते हुए पायँगे। यदि हम उस जल को फिल्टर पेपर से छानें तो हम देखेगे कि बिल्कुल शुद्ध और साफ़ पानी छनकर नीचे आ जायगा और राख के कण पेपर पर जम जायँगे। इससे यह स्पष्ट है कि उस पानी में भी राख नहीं घुली है। राख तो एक तरह का कार्बन है। जब राख पानी में घुलन-शील नहीं है तब यदि हम उसे शस्त्र भी मान ले तो उसका परिगमन भी क्या और कैसा हुआ ? इस तरह राख का पानी अचित्त नहीं है। कहाँ तो शास्त्रों में तीक्ष्ण शस्त्र के परिगमन का आदेश और कहाँ राख जैसी चीज़ का प्रयोग, जिसके तीक्ष्ण शस्त्र तो क्या साधारण शस्त्र होने में भी संदेह है और जो पानी में घुलनशील तक नहीं है। इस तरह स्पष्ट है कि तेरहपंथियों की यह राख का पानी लेने की क्रिया भी शास्त्र-विरुद्ध है, दोष-युक्त है।

तेरहपंथी साधुओं को रंग बदला हुवा पानी मिले तो यह कह कर कि 'इच्छा नहीं है' उसे कम ही लेते हैं। यह देखा गया है कि पानी पीने वाली केवल एक बाई है मगर वह एक या दो घड़ा राख का पानी बना लेती है और अगर पहिले दिन का बचा होता है तब भी दूसरे दिन पाँतरा कर के बना लेती है। तेरहपंथी इस बात को जानते हैं, लेकिन यह जान-बूझ कर भी वे बाई से पूछते हैं 'बाई! यह पानी साधुओं के लिए तो नहीं है ?' बाई ने साधु के लिए ही बनाया है लेकिन वह बोलती है—

'नहीं'। फिर साधु पूछता है, 'बाई, पानी कितना लेना?'। बाई कहती है, 'महाराज, आज मेरा चोवियार उपवास है इस-लिए मुझे तो चाहिए नहीं, आप लीजिए'। तीवियार उपवास वाली कहा करती है कि मुझे तो दो-तीन लोटे चाहिए आप सब लीजिए। इस पर साधुजी (!) २-४ लोटे छोड़ कर सब ले लेते हैं। इस तरह ये लोग दोषयुक्त पदार्थ लेते हैं। क्या वे यह नहीं जानते कि इस एक बाई के लिए यह एक दो घड़ा पानी कैसा और वह भी उपवास में? वे समझते हैं कि यह पानी उनके लिए बनाया गया है लेकिन वे अपने आप को जान-बूझ कर ठगते हैं और साधुजी अपने को ठगने में सफल हो जायँ इस लिए बाई बेचारी झूठ बोलती है। इस तरह ये साधु लोग स्वयं पाप करते है और अपने लिए दूसरो से पाप कराते हैं। इस तरह मायाचारी और भावचोरी का बाज़ार इस साधु-संस्थामें खूब गर्म है। भला ऐसी निकृष्ट जगह कहीं साधुत्व जैसी पवित्र और महान चीज़ ठहर सकती है? कदापि नहीं।

अध्याय : ९

भोगों का त्याग

तेरहपंथी लोग कहा करते हैं कि हमको जो मिलता है, उसे हम भोगते हैं, अतः इसमें हमारा क्या अपराध है, इसमें क्या पाप है ?

इसका अर्थ यह हुआ कि यदि इन्हें रसयुक्त आहार, मिठाइयाँ, फल आदि न मिलते बल्कि रूखा-सूखा भोजन ही मिलता तो ये रस-त्यागी होते। त्याग की यह कैसी विडम्बना है ? कोई चीज़ न मिले तो यह उसका त्याग नहीं है, बल्कि त्याग वहीं है, जहाँ यदि चीज़ मिले तब भी उसे ग्रहण न किया जाय। मिलती हुई चीज़ को न लेने में त्याग है। चीज़ न मिले तो उसे लेने या न लेने का कोई अर्थ ही नहीं है। त्याग का सम्बन्ध मिलने या न मिलने से नहीं है बल्कि मिलनेपर लेने या न लेने से है। इसलिए यह तेरहपंथियों का शब्द-जाल है। सच्ची बात यह है कि त्याग का इनमें नाम ही नाम है। दम्भ, लोलुपता, कषाय

आदि सभी दुर्वासनाएँ इनमें भरी हुई हैं, तो फिर त्याग हो भी कहाँ से? त्याग आसमान से थोड़े ही टपकता है, उसका सम्बन्ध तो आत्मा से है, वह तो अन्दर की चीज़ है।

कहने और सुनने में तो तेरहपंथियों की बात बड़ी मज़ेदार है लेकिन वह मज़ेदार इसलिए नहीं कि वह उचित और सत्य है, बल्कि इसलिए है कि वह एक ग़लत चीज़ की बढ़िया वकालत है। लेकिन असत्य पर वकालत भी कबतक खड़ी हो सकती है? सत्य की एक टक्कर लगते ही वह भड़भड़ा कर गिर पड़ती है। इस तरह इन तेरहपंथी लोगों की अपनी भोगलिप्सा की यह वकालत भी सत्य के आगे नहीं ठहर सकती है।

तेरहपंथियो की इस वकालत के उत्तर में हम यहाँ कुछ प्रमाण पेश करते हैं:—

(१) सुय० प्र० श्रु० अ० ९ सूत्र० ३२ में लिखा है कि प्राप्त काम-भोगों को साधु न भोगे वह विवेकी हैं, ऐसा श्री० तीर्थंकर देव ने कहा है।

(२) दशवे० अ० २ सू० ३ मे बताया है कि जो मिलते हुए भोगों को छोड़े वही त्यागी है।

(३) उत्त० अ० १५ सूत्र २ में यह उल्लेख है कि जो राग-द्वेष-रहित है, प्रज्ञावान है और मूर्च्छा-रहित है वही साधु है।

(४) आचा० प्र० श्रु० अ० २ उ० ६ सूत्र ७ में-कहा है कि सब शब्द आदि काम-भोगों की प्राप्ति होवे तो उसमें खुश न होने

वाला और संयम को अंगीकार करके शरीर को निर्बल करने वाला, हलका व रूखा-सूखा भोजन करने वाला, वीर पुरुष है।

पाठ—

लद्धे कामे ण पत्थेज्जा विवेगेएव माहिए॥
—सुय० प्र० श्रु० अ० २ सूत्र ३२

शब्दार्थ—ल० – प्राप्त हुए, का० – काम भोगों को, ण० – नहीं, प० – इच्छा करे, वि० – विवेकी, ए० – ऐसा, आ० – कहा॥

भावार्थ—जो साधु प्राप्त काम-भोगों को नहीं भोगते वे ही विवेकी हैं।

पाठ—

जे य कन्ते पिए भोए लद्धे विप्पिट्ठि कुव्वइ।
साहीणे चयइ भोए से हु "चाइ" त्ति वुच्चई॥३॥
—दशवे० अ० २ सूत्र ३

शब्दार्थ—जे० – ये कोई, य० – फिर, क० – शोभायमान, पि० – प्रियकारी, भो० – शब्दादि भोग, ल० – मिले, वि० – विशेष प्रकारसे, शुभ भावना करके, प्पि०-छोड़ना, कु०-करे, सा० – स्वाधीन, च० – उसको छोड़े, भो० – शब्दादि कामभोगोंको, से० – वह पुरुष, हु० – निश्चय, चा० – त्यागी, त्ति० – फिर, वु० – कहा है।॥३॥

भावार्थ—जो कांत व इष्ट शब्दादि विषय के प्राप्त होने पर भी अनेक प्रकार की शुभ भावनाओं के साथ स्वाधीन काम-भोगों का त्याग करते हैं, वे ही त्यागी कहलाते हैं।

नोटः—ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिलती हुई चीज़ को या उस चीज़ को जो प्राप्त की जा सकती है, छोड़ना ही त्याग है। तेरहपंथियों को बढ़िया बढ़िया पदार्थ मिलते है और वे खा लेते है—इससे ही वे जिव्हा-इन्द्रिय के स्वामी नहीं कहे जा सकते। यदि यही होता कि उन्हें जो मिलता है वही वे संतोष के साथ खा लेते है तब भी कुछ ठीक होता। लेकिन वहाँ तो यह भी नहीं है। मायाचार, भावचोरी और कपट द्वारा नीरस भोजन न लेने और अधिक-से-अधिक रसयुक्त भोजन मिलने की ओर उनकी प्रवृत्ति और प्रयत्न-शीलता रहती है। इस तरह हम देखते है कि इन लोगों में न संयम है, न इन्द्रिय-निरोध। सचमुच ये बेचारे तो भोग-लिप्सा के बड़े ही दयनीय शिकार हैं। भगवान इन्हें सुबुद्धि दे।

अध्याय : १०

आचार-अनाचार

तेरहपंथी साधु कहा करते है कि हम जो कुछ पालते हैं वह आचार है, अर्थात् हम तो वही काम करते है जो धर्मानुकूल है। उनका यह कथन नितान्त भ्रमपूर्ण है, बल्कि इस से तो उनकी भयंकर स्थिति का ही पता लगता है। दुनिया में दो तरह के पापी हुआ करते है। एक तो वे जो पाप-कार्य को अपनी बुद्धि द्वारा बुरा काम मानते हैं लेकिन जो अपने मनके इतने गुलाम है अर्थात् जो इतने असंयमी हैं कि उसे बुरा समझ कर भी करते हैं। दूसरे वे जो पाप-कार्य करते हैं और उसे अच्छा काम समझते हैं। इन दो तरह के पापियों में दूसरी प्रकार के पापी अधिक दयनीय होते हैं; क्योंकि वे पाप को पाप न मान कर पाप करते हैं। उनकी अवस्था तो एक ऐसे ही रोगी की अवस्था से मिलती है जो बीमार है लेकिन अपनी बीमारी को बीमारी न समझ कर उसका इलाज नहीं करता है। स्पष्ट है कि ऐसे रोगी का रोग

बढ़ता ही जायगा, और अन्त में वह उसके जीवन के लिए घातक सिद्ध होगा। वह रोगी जो अपने रोग को रोग समझता है, उसका इलाज करेगा, परहेज रखेगा, कम-से-कम इलाज का ध्यान रखेगा और धीरे धीरे इस ओर बढ़ेगा भी। ठीक इसी तरह जो पापी अपने पाप-कार्य को बुरा समझता है, वह उसे न करने की कोशिश करेगा, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों, पूर्ण या किसी अंश तक वह उसमें सफल भी होगा। वह सफल हो या न हो लेकिन यह ज़रूर कहा जा सकता है कि उसके सफल होने की संभावना है। पहिले प्रकार के पापी में विवेक तो होता है पर संयम नहीं होता, जब कि दूसरी तरह के पापी में न विवेक होता है, न संयम। ये बेचारे तेरहपंथी साधु, वेषधारी असाधु, ऐसे ही हैं कि जिन मे न विवेक है और न संयम है। ऐसे लोगों के हित की सम्भावना कम होती है। यदि अभव्य नहीं तो दूर-भव्य ऐसे ही बेचारे दयनीय प्राणियों के लिए कहा गया है।

ये लोग अपने को सदाचारी कह कर अपने मुँह-मियाँ-मिट्ठू तो बन जाते हैं अर्थात् अपने को तो ये लोग प्रसन्न कर लेते हैं लेकिन सत्य को प्रसन्न नहीं कर पाते। ये लोग दुनिया को ठगने की कोशिश करते हैं लेकिन खुद ही ठगे जाते हैं। बात यह है कि आचार-अनाचार किसी व्यक्ति के ऊपर निर्भर नहीं होता है, वह तो इस बात पर निर्भर होता है कि वह देव और आगम की आज्ञा तथा स्वहित और परहित के नियमों के कहाँ तक अनुकूल है। किसी कार्य में जितनी प्रतिकूलता होगी उतने ही

अंश में वह पाप होगा। अतः किसी भी कार्य को पुण्य या पाप, आचार या. अनाचार, कहने के लिए उस कार्य को हमें इसी कसौटी पर कसना चाहिए, न कि इस कसौटी पर कि यह कार्य किस व्यक्ति ने किया है अर्थात् ऐसा कार्य करने के लिए किस व्यक्ति ने कहा है। तात्पर्य यह है कि कोई भी व्यक्ति सदाचार, अनाचार, दुराचार आदि का ठेकेदार नहीं है। एक भले आदमी से बुरा काम जान-बूझ कर या अनजान में हो सकता है और एक बुरे आदमी से अच्छा काम भी हो सकता है; अतः किसी भी व्यक्ति को लेकर हमे किसी कार्य का निर्णय न करना चाहिए, बल्कि उस कार्य की स्वतन्त्र रूप से परीक्षा करना चाहिए और व्यक्ति की परीक्षा उस के कार्यों से करना चाहिए। हमें यह न भूलना चाहिए कि कार्य की अच्छाई या बुराई व्यक्ति पर निर्भर नहीं है, बल्कि व्यक्ति की अच्छाई बुराई उस के कार्यों पर निर्भर है। तेरहपंथियों की परीक्षा उनके कार्यों से की जाय तो हम उन्हें सदाचार से बहुत दूर पाते हैं। हम तो उनके कार्यों की ही परीक्षा करेंगे और तब उनके विषय में निर्णय करेंगे। वे सदाचार के ठेकेदार तो है नहीं, कोई भी नहीं है, अतः उनके कार्य को सदाचारमय केवल इसलिए नहीं कह सकते, क्योंकि वह 'उन' का कार्य है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

णियट्ठ माणा वेगे आयार गोयर माइक्खंति ॥ ४ ॥

णाणा भट्ठा दंसण लूसीणो, णम माणा एगे जीवितं विप्परिणा मंति ॥ ५ ॥

—आचा० प्र० श्रु० अ० ६ उ० ४ सूत्र ४ व ५

शब्दार्थः—णि० – संयम को छोड़, वे ० – कितने ही, आ०– आचार गोचार, मा० – कहते हैं ॥ ४ ॥

णा० – ज्ञान से भ्रष्ट, द० – दर्शन – नाशक, ण० – न हुए, ए० – कितने, जी० – जीनेको, वि० – विपरीत करते हैं । ॥ ५ ॥

भावार्थ—कुछ लोग शुद्ध संयम को मानते हैं, समझते हैं; लेकिन उसका पालन नहीं कर सकते हैं । ऐसे लोग दो तरह की मूर्खताएँ नहीं करते ॥४ ॥

कुछ लोग स्वयं भ्रष्ट होते हुए भी कहते है कि हम जो पालते हैं, वही सदाचार है। वे ज्ञानदर्शन से भ्रष्ट हैं और संयम-धर्म से दूर हैं, भले ही वे आचार्यादिक को नमस्कार करें ।

नोटः—उक्त प्रमाण के आधार पर हम बिना किसी प्रतिवाद के भय के कह सकते हैं कि ये तेरहपंथी साधु (!) ज्ञान-दर्शन से भी भ्रष्ट हैं और संयम-धर्म से भी दूर हैं ।

अध्याय : ११

दान और प्रशंसा

प्रश्न—तेरहपंथी साधु सामने या पीछे दान की और दातार गृहस्थ की प्रशंसा करते हैं। यह दोष है या नहीं?

उत्तर—यह दोष है। प्रमाण देखिए—

(१) सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २४ में लिखा है कि जो साधु रस-लोलुपी बन कर स्वादुक कुल में गोचरी करता है और दूसरों से इसकी प्रशंसा करता है वह शत प्रतिशत साधुत्व से दूर है।

(२) सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २५ में यह उल्लेख है कि जो अपना घर त्याग कर दूसरों के भोजन में गृद्ध-दृष्टि रख कर उदर-पोषण करता है और इसके लिए गृहस्थ की प्रशंसा करता है वह कुशील का सेवन करने वाला अनन्त काल तक जन्म-मरण करता है।

(३) निशी० उ० २ सूत्र ३८ * में बताया गया है कि दान देने से पहिले या बाद को दातार की प्रशंसा करना, करते को अच्छा जानना दोष है और उसके लिए लघुमासिक प्रायश्चित का विधान है।

और भी देखिए:—

पाठ—

णिक्खम दीणे पर भोयणंमि मुहंमंगलीए उदराणू गिद्धे॥
निवार गिद्धे व महावरा हे, अदूरए एहइ घातमेव ॥ २५ ॥
—सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २५

भावार्थ—जो लोग अपने गृह-कुटुंब को छोड़ कर दूसरों के घरों के भोजन में गृद्ध बनते हैं और उदर-पोषण के लिए गृहस्थ की प्रशंसा करते हैं वे उस सुअर [शूकर] की तरह अपना सर्वनाश करते हैं जो चावल के दाने में गृद्ध-दृष्टि रखता हुआ [शिकारी के जाल में फँस जाने या शिकारी के प्रहार से] विनाश को प्राप्त होता है। ऐसे कुशील का सेवन करने वाले अनन्त काल तक जन्म-मरण धारण करते हैं।

नोट—पहिले बताया जा चुका है कि ये तेरहपंथी लोग उन गृहस्थों की जिनके द्वारा उन्हें स्वादिष्ट और रसयुक्त भोजनों

*** जे भिक्खु पुरे संथववा पच्छा संथवं वा,**
करेई करंतं वा साइज्जई ॥ ३८ ॥

की प्राप्ति होती है, खूब प्रशंसा करते है। जो सेवा-सुश्रूषा करता है उसकी तारीफ़ भी ये लोग खूब करते है। इस तरह इन लोगों के लिए दान और दातार की प्रशंसा करना एक साधारण बात है; अतः वे आगम-प्रमाण के अनुसार कुशील का सेवन करने वाले है और निश्चय ही इन लोगों को अनन्त काल तक इस संसाररूपी भवसागर में परिभ्रमण करते हुए दुख उठाना पड़ेगा।

अध्याय : १२

अज्ञात कुल में गोचरी

परिचित कुल की गोचरी का शास्त्रों में विधान है, क्योंकि इस से उद्दिष्ट-भोजन--त्याग के पालन में सुभीता होता है और दोष लगने की बहुत कम सम्भावना रहती है; लेकिन तेरहपंथी अपरिचित कुल की गोचरी नाम मात्र को ही करते हैं। वे तो विशेष रसयुक्त भोजन करने वाले स्वादुक कुलों से ही आहार प्राप्त करते हैं, क्योंकि उनका ध्येय तो माल उड़ाना ही होता है और माल ऐसे ही कुलों की गोचरी में मिल सकता है, अपरिचित कुल की गोचरी से माल मिलने की कम ही सम्भावना है।

अज्ञात कुल की गोचरी की सात्विकता के विषय में प्रमाण देखिए——

[१] सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सू० २७ में बताया है कि अज्ञात कुल से प्राप्त नीरस भोजन और पानी से संयम का पालन करना चाहिए।

[२] दशवै० अ० १० सूत्र १६ में कहा है कि वस्त्र-पात्र प्रमुख उपद्धि में मूर्च्छा-रहित अज्ञात कुल में थोड़ा थोड़ा लेने वाला सर्व-द्रव्य-भाव से संगति-रहित होता है और वही भिक्षु है।

[३] दशवै० अ० १० सूत्र १७ में उसे साधु बताया गया है जो लोलुपता-रहित है, अपरिचित कुल में गोचरी करता है, पूजा-सत्कार का त्यागी है, माया-कपट-रहित है।

[४] दशवै० अ० ९ उ० ३ सूत्र ४ में यह विधान है कि अज्ञात कुल में थोड़ी थोड़ी गोचरी करनी चाहिए और दातार की प्रशंसा या निंदा नहीं करना चाहिए।

[५] उत्तरा० अ० ३५ सूत्र १६ में भी अज्ञात कुल में थोड़ी थोड़ी गोचरी लेने का आदेश है।

[६] अंतग० वर्ग ३ अ० ९ सूत्र १० में यह कथन है कि नेमिनाथ भगवान के तीनों शिष्य घूमते घूमते देवकी रानी के यहाँ पहुँच गए और बेला के पारणे में तीनों ने अलग अलग वक्त आहार लिया।

और भी देखिए—

पाठ—

अन्नाय उंच्छं चरई विसुद्धे जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं। अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा, लद्धुं न विकत्थयई, स पुज्जो ॥ ४ ॥

—दशवै० अ० ९ उ० ३ सूत्र ४

शब्दार्थः—अ० – अज्ञात कुल में, उ० – गाय की तरह, च०– लेना, वि० – विशुद्ध (४२ दोष रहित), अ० – संयमनिर्वाह के लिए, अ० – उसके लिए, स० – समुदाणिक गोचरी करे (यह हमारा यह तुम्हारा न करे), च० –फिर, नि० – हर समय, अ० – आहारादिक बिना मिले, नो० – नही, प०–दुखपावे (मैं ऐसा अभागी हूँ ऐसा कहे और गृहस्थ की बुराई न करे), ल० – आहारादिक प्राप्त, न० – न करे, वि० – गृहस्थ की प्रशंसा, स० – वह शिष्य, पु० – पूजनीय है ॥

भावार्थ—जो साधु संयम के निर्वाह के लिए ४२ दोष रहित शुद्ध सामुदानिक आहार अज्ञात कुल में से थोड़ा थोड़ा लेने के लिए निकलते हैं, आहार प्राप्त न होने पर व्यक्ति अथवा देश की निंदा नहीं करते हैं और आहार प्राप्त होने पर दातार या देश की प्रशंसा नहीं करते हैं, वे पूजनीय साधु हैं।

पाठ—

समुयाणं उञ्छमेसिज्जा जहा सुत्तमणिन्दियं।
लाभा लाभम्मि संतुट्ठे, पिण्डवायं चरे मुणी ॥१६॥
—उत्तरा० अ० ३५ सूत्र १६

शब्दार्थ—स० – समुदाणिक भिक्षा लेना परन्तु, उ० – थोड़ी थोड़ी लेना, ए० – ऐसे आहार की गवेषणा करे, ज० – जैसा, सु० – सिद्धान्त में १२ कुल का आहार लेना बताया, अ० – नीच कुल को छोड़, अनिन्दनीय कुल का लेवे, मांस मदिरा और निन्दनीय आहार छोड़े, दूसरे की निंदा भी न करे, ला० – आहार मिलते हुए, अ० –न मिलते हुए, सं० – संतोष से, पि० – आहार लेने के लिए, च० –विचरे, मु० – साधु ॥

भावार्थ—जिन कुलों में जाने से दुगंछा (निंदा) होती हो ऐसे कुलों में भिक्षा आदि के लिए नहीं जाना चाहिए और मॉस मदिरा आदि निंदा-जनक आहार ग्रहण नहीं करना चाहिए।परन्तु उच्च श्रेणी के क्षत्री आदि, जघन्य श्रेणी के नीच किसान आदि, और मध्यम श्रेणी के वैश्य आदि के कुलों में बहुत से घरों से थोड़ा थोड़ा आहार शास्त्रोक्त विधि के अनुसार एपणा गवेषणा के साथ ग्रहण करना चाहिए। इस विधि का पालन करने पर आहार प्राप्त हो या न हो, हर हालत में हर समय संतोष धारण करना चाहिए और किसी की स्तुति या निंदा भी नहीं करना चाहिए।

इस तरह हम देखते हैं कि शास्त्रों में—आगम में—अज्ञात-कुल की गोचरी का और वह भी इस रूप में कि बहुत से घरों से थोड़ा थोड़ा आहार लिया जाय, स्पष्ट आदेश है। इस तरह की गोचरी करने वाले को दशवे० अ० १ में भँवर (भ्रमर) के सदृश्य बताया गया है; क्योंकि भ्रमर बहुत से फूलों पर बैठकर उनका रस चूसा करता है। इस से उलटी गोचरी करने वालों को शास्त्रों में गधे की तरह बताया गया है; क्योंकि गधा जहाँ मुँह लगाता है वहीं अपना पेट भर लेता है। इस तरह साधुओं को आगम ने गोचरी के कार्य में भ्रमर बनने का आदेश दिया है, न कि गधे बनने का। दुख है कि ये बेचारे तेरहपंथी लोग भ्रमर नहीं हैं बल्कि................।

ये तेरहपंथी लोग निमंत्रणपर भी गृहस्थों के यहाँ आहार प्राप्त करने के लिए जाया करते हैं, जो सर्वथा आगम-

विरुद्ध है। श्रावक इन से प्रार्थना करते है कि "आज हमारे यहाँ अठाई प्रमुख का पारणा है या जँवाई (दामाद) आदि का भोजन है, अतः कृपा करके आप देरीसे अवश्य पधारिएगा आदि"—और ऐसे निमंत्रण पर आहार के लिए ये साधु-नामधारी लोग जाते है।

व्यवहार० उ० ६ सूत्र ४ से ९ तक में बताया गया है कि साधु के जाने से पहिले गृहस्थ के लिए बनी हुई रसोई और पहले उतरे हुए चावल साधु के लिए ग्राह्य है, और पीछे उतारी हुई दाल ग्राह्य नहीं है। लेकिन तेरहपंथियों के व्यवहार में व्यवहार सूत्र के इस आदेश को भी कोई स्थान प्राप्त नहीं है।

अध्याय : १३

ईर्या-समिति

प्रश्न—तेरहपंथी साधु ईर्या-समिति के अनुसार चलते है या नहीं ?

उत्तर—नहीं। ये लोग छद्मस्थ होने से गलती करें या अनजाने में इनसे ग़लती हो जाय तो भी किसी अंश तक वह क्षम्य हो सकता है; लेकिन वे तो जान-बूझ कर विरुद्ध आचरण करने का अक्षम्य अपराध करते है। वह कैसे ? देखिये—

(१) पंचभद्रा वाले छोगमलजी की नेत्र-शक्ति बहुत कम है, यहाँ तक कि कोई व्यक्ति उनके सामने जाकर बोले तो वे उसे पहचान नहीं पाते, बल्कि उन्हें पूछना पड़ता है—"भाई, कौन है ?" वह अपना परिचय दे देता है। इस पर छोगमलजी कह देते है कि उन्हें कम दिखाई देता है। इस पर से यह स्पष्ट है कि जब छोगमलजी को कई फीट का आदमी पास से पहचान में नहीं आता तो ज़मीन पर चलने वाले छोटे छोटे कीड़े-मकोड़े भला क्या दिखाई देते होंगे ? कुछ भी नहीं। उनके

आगे कोई दूसरा साधु चले तब भी ठीक है; लेकिन ऐसा भी नहीं होता है। स्पष्ट है कि यहाँ ईर्या-समिति का ज़रा भी पालन नहीं होता है।

(२) भिक्षुजी के कथन के अनुसार तथा शास्त्रानुसार चलते हुए बातें करना साधु के लिए मना है। यह मौन ईर्या-समिति का एक अंग है। लेकिन देखा गया है कि दीवान साहब मगन-लालजी की सेवा में गृहस्थ पंचमी आते जाते हैं और उस समय ग्राम-ग्राम में विहार करते हुए मगनलालजी श्रावकों से बहुत वार्तालाप करते हैं।

(३) एक वृद्ध साधु है, जिनका नाम हमें इस वक्त याद नहीं आ रहा है। उन्हें भी बहुत कम दिखाई देता है; लेकिन वे भी अकेले में आते जाते है।

(४) विहार में कितने ही तेरहपंथी साधु तो कोतल घोड़े की तरह अथवा स्पेशल ट्रेन की तरह तेज़ चलते है और इस तरह स्फ़ूर्तिवान होने की डिगरी भी पाते जाते हैं। शीघ्र चलने में ईर्या-समिति का पालन बहुत * कठिन है; शायद असंभव भी है। ईर्या-समिति के ठीक पालन के लिए धीरे धीरे देख कर और मौन रहकर चलना ही उचित है। शास्त्र मे "चरे मंद मणुव्विग्गो" द्वारा मन्द गति से चलने की आज्ञा है।

---

* एक बार आचार्य तुलछीगणीजी ने कहा था कि कितने ही ज़ोर से चला जाय कोई हर्ज नहीं है, यदि देख-देख कर चला जाय। देखिए, शास्त्र के विरुद्ध कैसा स्पष्ट उपदेश है?

इस तरह कुछ मोटे मोटे उदाहरणों द्वारा यह दिखाया गया है कि तेरहपंथी साधु ईर्या-समिति का पालन नहीं करते हैं। और भी बहुत सी घटनाओं को दिया जा सकता है; लेकिन हम समझते हैं कि ऊपर की चार बातों से ही हमारा मन्तव्य स्पष्ट हो जाता है।

अब भिक्षुजी का कथन देखिए—शी० भाग २ ढाल १

"कह्यो आचारंग उत्तराध्य नमे, साधु करे चालतां वातोजी। ऊँची तिरछी दिष्टि जावे, तो हुए छव कायरी घातोजी॥ ३७॥

दबक दबक उतावलां चाले त्रस थावर मान्या जायजी। इरज्या सुमत जोयां विन चाले, ते केम साधु थायजी॥ ३९॥

एह वा गुरु साचा करमाने, ते अंध अज्ञानी वाल जी, फोडा पडे उत्कृष्ठ तिए में तोरुले अनन्तो कालोजी॥ ४४॥"

नोट—ऊपर ईर्या-समिति का विस्तार से जो वर्णन भिक्षुजी द्वारा किया गया है, उसकी कसौटी पर इन तेरहपंथियो को कसा जाय तो ये लोग षटकाय और त्रस व स्थावर जीवों के घातक ठहरेंगे। सचमुच इन लोगों द्वारा ईर्या-समिनि की पूरी पूरी हिसा होती है।

और भी प्रमाण देखिए—

पाठ—

से गामेवा नगरेवा गोअरग्ग गओ मुणी।
चरे मन्द मणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेअसा ॥२॥
—दशवै० अ० ५ उ० १ सूत्र २

शब्दार्थ—से० – वह साधु, गा० – गाँव में, वा० – अथवा, न० – नगर में, व० – अथवा, गो० – गोचरी, ग० – गया, मु० - साधु, च० – चले, म० – धीरे धीरे, अ० – उद्वेग रहित, अ० – विग्रह रहित (शब्दादि न बोलते हुए), चे० – चिन्तना भी न करे ॥

भावार्थ—ग्राम-नगरादि में गोचरी जाने के लिए तय्यार साधु को शान्ति के साथ शब्दादि विषयों में पूर्ण अनासक्ति रखते हुए धीरे धीरे उपयोग रख कर (ध्यानपूर्वक) चलना चाहिए।

पाठ—

दवदवस्स नगच्छेज्जा, भासमाणोय गोयरे।
हसन्तो नाभी गच्छेज्जा, कुलं उच्चा वयं सया ॥१४॥
—दशवै० अ० ५ उ० १ सूत्र १४

शब्दार्थ—द० – जोर से, द० – जोर से, न० – नही, ग० – चले, भा० – बोलता हुआ, य० – फिर, गो० – गोचरी के लिए, ह० – हँसता हुआ, न० – नही, अ० – चले, कु० – कल, उ० – ऊँचा, व० – नीचाई में, स० – सदा देखे ॥

भावार्थ—ऊँच-नीच कुल में गोचरी के लिए जाते हुए साधु को जल्दी जल्दी नहीं चलना चाहिए और दूसरों के साथ वार्तालाप करते हुए या हँसते हुए भी नहीं चलना चाहिए।

पाठ—

दवदवस्स चरति पमत्तेय अभिक्खणं।
उल्लंघणे य चण्डेय पाव समणेत्ति वुच्चई ॥ ८ ॥

—उत्त० अ० १७ सूत्र ८

शब्दार्थ—द० – जोर जोर से, च० – चले, प० – ईर्या के लिए प्रमादी, अ० – पुरणे, अ० – बारम्बार, उ० – उल्लंघन करने वाला, य० – फिर, च० – क्रोधी, य० – फिर, पा० – पापी, स० – श्रमण, ति० – ऐसा, वु० – कहा है ॥

भावार्थ—जो साधु बहुत शीघ्रता से चले, ईर्या-समिति के पालन में प्रमादी हो, बारंबार ठीक ठीक क्रिया-कर्म आदि का उल्लंघन करे और जो क्रोधी हो वह पापी श्रमण है।

नोट—इस तरह हम देखते हैं कि शास्त्रों में ईर्या-समिति पालने के लिए शीघ्र चलने, चलते समय बोलने व हँसने आदि के लिए मना किया गया है। ईर्या-समिति का ध्येय यह है कि मार्ग मे चलते समय साधु, कीड़े-मकौड़ो की हिंसा का भागी न हो और इसीलिए ईर्या-समिति का यह विधान है कि साधु को धीरे धीरे आगे देखते हुए क़दम उठाना चाहिए। तेज़ न चलने, और चलते समय न हँसने या न बोलने की बात तो इसलिए कही है, क्योंकि ऐसा करने में ध्यान बट जाता है और ईर्या-समिति का ठीक ठीक पालन नहीं हो पाता है। हँसने बोलने की ही बात नहीं, कोई भी काम जिस से ध्यान बटे और आगे आगे देखने में प्रमाद या भूल की संभावना हो

सके तो उस काम को भी नहीं करना चाहिए। गोचरी के लिए जाते समय श्रावकों के घरों का ख़याल करना, क्या आहार मिले या न मिले ऐसा ख़याल करना या संघ या संघ के किसी व्यक्ति के बारे में सोचना अर्थात् ईर्या-समिति से विषयान्तर किसी भी बात का ख़याल आना ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसे ख़यालातों में डूब कर ईर्या-समिति को डुबा देना पड़ता है, उसका ठीक ठीक पालन होना तो बहुत दूर की बात है।

संक्षेप में और भी प्रमाण देखिए—

(१) उत्त० अ० २० सूत्र ३८ से ४२ तक मे बताया गया है कि जो साधु पाँचों समिति में भ्रष्ट होते हैं वे बहुत काल तक लोच, शीत, ताप, आदि के कष्ट सहते हुए भी संसार से पार नहीं हो सकते। वे तो ऐसे ही हैं जैसा कांच का टुकड़ा, जो मणि सरीखा तो दिखता है लेकिन मणि नहीं है, बल्कि उस से एक जघन्य चीज़ है। ऐसे ही ऊपर बताया हुआ साधु साधु-वेष के कारण साधु तो दिखाई देता है लेकिन वह सचमुच साधु नहीं है, बल्कि उस से जघन्य प्राणी है।

नोट—पाँचों समिति में ईर्या-समिति आ ही जाती है; अतः ईर्या-समिति का पालन न करने वाला काँच की तरह नक़ली ही है, सच्चा साधु नहीं है।

(२) आचा० श्रु० २ अ० १२ उ० २ सूत्र ८ में ग्रामानुग्राम में विचरने वाले साधु को विचरते समय दूसरों से बातें करना मना है।

(३) भग० श० ७ उ० १ सूत्र ११ में कहा गया है कि वस्त्र-पात्र रजोहरणादि रखने वाला बिना उपयोग के चले तो यह क्रिया पापमय है।

(४) भग० श० ७ उ० ७ सूत्र १ में यह कथन है कि व्रत-सहित साधु सूत्र के अनुसार चले तो यह क्रिया ईर्यावाही पुण्यमय है, अन्यथा पापमय है।

(५) भग० श० १० उ० २ सूत्र १ में यह उल्लेख आया है कि मार्ग में चलते समय सौन्दर्य-रूप आदि का अवलोकन करना सूत्र-विरुद्ध क्रिया—पाप-क्रिया (सांप्राइक)—है।

अध्याय : १४

वस्त्र और पात्र

प्रश्न—(क) जयाचार्यजी कृत प्रश्नोत्तर० के प्रश्न १२५ में कहा गया है कि यदि वस्त्र को तीन पुसलि तेल आदि लगाया जाय तो दोष नहीं है। वर्तमान में रातके समय पहिरने का कपड़ा पंद्रह दिन न वापरने [बरतने] पर धोते हैं और कई अहलवान आदि तो लाते ही पहिले धो लेते हैं तब वापरते हैं। ये सुशोभित कपड़ों का उपयोग भी करते हैं; दस रुपयों से ऊपर की क़ीमत का क़ीमती कपड़ा भी बरतते हैं। यह दोष है या नहीं?

(ख) वर्तमान में पात्र को भी रंगकर सुशोभित बनाते हैं। जयाचार्य कृत प्रश्नोत्तर० में प्रश्न नं० १२४ मे लिखा है कि तीन पुसली तेलादि और लोद्रादि लगाने में दोष नहीं है, हाँ, मूर्च्छा-वश नहीं रंगना चाहिए। अतः आजकल तेरह-पंथियों का जो व्यवहार है वह दोषयुक्त है या नहीं?

उत्तर—(क) दोष है। प्रमाण देखिए—

(१) आचा० श्रु० २ वस्त्रे० अ० १४ उ० २ सूत्र १ में लिखा है कि जैसा कपड़ा मिले वैसा ही काम में लाना चाहिए, धोना नहीं चाहिए।

(२) सुयग० श्रु० १ अ० ७ सूत्र २१ में यह उल्लेख है कि शोभा के लिए कपड़ा धोनेवाला या स्नान करनेवाला संयम से दूर है। वैसा ही आहार के सम्बन्ध में कहा है।

(३) आचा० श्रु० २ अ० १४ उ० १ सूत्र १८ में शीतल अथवा गरम पानी में पुराना वस्त्र भी धोना त्याज्य बताया गया है।

(४) निशी० उ० १५ सूत्र १५९ में यह बताया गया है कि शोभा के लिए वस्त्र पात्र कम्बल रजोहरण धोए, धोते का अच्छा जाने तो लघुमासिक प्रायश्चित का विधान है।

नोट—कोई कोई तेरहपंथी दिनके पहिनने के कपड़े तो नहीं धोते हैं, परन्तु १५ दिन के बाद निशीथिया आदि धोते हैं। मुझे याद है कि वणी में चंपालालजी ने रजोहरण धोए थे। जहाँ मैं रहता था वहाँ भी प्रायः धोया करते थे।

(५) निशी०उ० १८ सूत्र ५१ व ५४ में यह कहा गया है कि यदि साधु ऐसा विचार करे कि नवीन वस्त्र मिला कर के अचित्त पानी से धोऊँ, या करते को अच्छा जाने, अथवा यदि साधु तेल, घृत आदि लगावे, लगाते को अच्छा जाने तो सूत्र ५४ में उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया गया है।

(६) निशी० उ० १८ सूत्र ७२ में यह उल्लेख है कि लकड़ी के गंज पर व स्तम्भ [खूटी] आदि अन्तलीक जगह पर धूप में कपड़ा रखे, रखने को अच्छा जाने, तो लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

नोट—तेरहपंथी खूंटी आदि पर लूणे सुखाते है और लकड़ी के गंज पर भी सुखाते हैं।

(७) निशी० उ० ५ सूत्र ६५ में यह आया है कि साधु किसी भी उपकरण का भाग तोड़ कर ज़मीन मे गाड़ दे, गाड़ने को अच्छा जाने, तो उसके लिए लघुमासिक प्रायश्चित है।

नोट—तेरहपंथी ऐसी चादरों को जिन से उन्हें अरुचि हो जाती है, गुप्त रूप मे खींच-तान कर के फाड़ते है और चौकी में भी डाल देते हैं। जब शाम के समय या सुबह को चौकीदार इन लोगों से, जो सच बोलने का दावा करते हैं, पूछता है कि यह उपकरण किसका है तो उसे उत्तर नहीं मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति से पूछा जाय तो हरएक अस्वीकार करता है। देखिए इन लोगों की सच्चाई और ईमानदारी! वहाँ किसी गृहस्थ आदि ग़ैर व्यक्ति का उपकरण तो रहता नहीं है, इन्हीं लोगो का, जो साधुता का साइनबोर्ड लगा कर खोटी साधुता से अर्थात् असाधुता से दुनिया को ठगते फिरते हैं, सामान रहता है, अतः यह निश्चित है कि वह फटी हुई चादर इनमें से किसी एक की होगी लेकिन इनमें से कोई भी उसे स्वीकार

नहीं करता है। इस तरह ये लोग कपड़ा फाड़ कर आगम के विरुद्ध चलने का पाप तो करते ही है, लेकिन ऊपर से झूठ बोलने का भी पाप करते हैं—इस तरह ये दुगने पाप के भागी बनते है।

(ख) दोष–युक्त है। प्रमाण देखिए—

(१) आचा० श्रु० २ अ० १५ उ० १ सू० १ में लिखा है कि बलवान मुनि एक ही पात्र रखते कहे गये है, बाकी सब तीन पात्र रखते हैं। यह क्या बात है? केवली जानें।

(२) निशी० उ० २ सूत्र २५ मे यह विधान है कि तुम्बे के पात्र, काठ (लकड़ी) के पात्र आदि स्वयं शोभा के लिए अच्छा करे, मुँह पेंदा वगैरह ठीक करे, या करते को अच्छा जाने, तो लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

[३] निशी० उ० २ सूत्र २६ मे यह बताया गया है कि शोभा के लिए काम्बी पटरी काँटे आदि को रँगे या सुधारे, अथवा ऐसा करने वालों को अच्छा जाने, तो लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

[४] निशी० उ० १४ सूत्र ११ में बताया है कि खराब पात्र को अच्छा करे, करते को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक दंड बताया है।

[५] निशी० उ० १४ सूत्र १२ मे यह उल्लेख है कि नये पात्र को तेल घृत मक्खन लगावे, चरबी लगावे, एक बार या बार-बार लगावे तो लघुचौमासिक दंड बताया गया है।

[६] निशी० उ० १४ सूत्र १३ में कहा गया है कि नए पात्र को लोद्र कोष्टक आदि द्रव्यों से रंगे, रंगने को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक दंड बताया गया है।

[७] निशी० उ० १४ सूत्र १४ मे यह कथन है कि नए मिले हुए पात्र को अचित्त पानी, गरम पानी से धोवे, धोते को अच्छा जाने तो लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है।

[८] निशी० उ० १४ सूत्र १५ में बतलाया गया है कि बहुत दिन बाद पात्र को लोद्र और पद्म चूर्ण से रँगे, रँगते को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है।

[९] निशी० उ० १४ सूत्र १६ और १७ मे यह उल्लेख है कि नए पात्र के मिलने पर बहुत दिनों के बाद लोद्र आदि से उसे रंगे, रंगने को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है।

नोट—इस सूत्र में 'बहु दिवसिएणं' पाठ का अर्थ किसी किसी आचार्य ने 'नीनपुसली उपरान्त' कर दिया है; लेकिन इसका अर्थ ऐसा नहीं है, बल्कि इस का अर्थ है, 'बहुत दिन बाद' (बहु-ज्यादा, दिवसिएणं-दिन बाद)।

[१०] निशी० उ० १४ सूत्र २० में बताया है कि नए दुर्गन्धित मिले हुए पात्र को घी तेल मक्खन लगावे, लगाने को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक दंड बताया गया है।

[११] निशी० उ० १४ सूत्र ३६ व ३७ मे यह वर्णन है कि पृथ्वी पर, घर की छत पर, किसी भी पदार्थ पर, पात्र भीगा हुआ धूप में रखे, रखते को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक दंड बताया गया है।

और भी प्रमाण देखिए—

क-उत्तर के लिए पाठ

पाठ—

से भिक्खु वा (२) अहेसंणि जाइं वत्थाइं
जाएज्जा अहा परिग्गहाइं वत्थाइं धारेज्जा
णो धोएज्जा णो रएज्जा णो धोयरत्ताइं वत्थाइं
धारेज्जा अपलि उंच माणे गामंतरेसु ओमचे
लिए एयं खलु वत्थ धारिस्स सामग्गियं ॥१॥
—आचा० श्रु० २ अ० १४ उ० २ सूत्र १

शब्दार्थः—से० – वे, भि० – साधु साध्वी, अ० – अथ, ए० – एषणिक, व० – वस्त्र, जा० – याचे, अ० – जैसा ग्रहण किया, व० – वस्त्र, धा० – धारण करे, णो० – नही, धो० – धोवे, णो० – नही, र० – रंगे, णो० – नही, धो० – धूप, या० – रंगा हुआ, व० – वस्त्र, धा० – धारण करे, अ० – बिना छिपाए, गा० – अन्य ग्राम, ओ० – सादा वस्त्र धारण करने वाला, ए० – यह, ख० – निश्चय, व०—वस्त्र-धारी का, सा० – आचार ॥ १ ॥

भावार्थ— साधु साध्वी को वस्त्र अच्छा नहीं करना चाहिए, जैसा मिले वैसा ही पहिनना चाहिए। उसे धोना नहीं चाहिए

और रँगना भी नहीं चाहिए, रँगा हुआ या धोया हुआ वस्त्र पहिनना भी नहीं चाहिए। अन्य ग्राम को जाते समय वस्त्र छिपाना नहीं चाहिए। वस्त्रधारी मुनि का यही आचार है।

पाठ—

से भिक्खु वा (२) णो णवए मे वत्थे त्तिकट्टु
णो बहुदेसि एण सिणाणेण वा जाव प
घंसेज्जा ॥ १७ ॥

से भिक्खु वा (२) णो णवए म वत्थे त्तिकट्टु
णो बहु दसिएण सीतोदग वियडेण वा जाव
पधोवेज्जा ॥१८॥

—आचा० श्रु० २ अ० १४ उ० १ सू० १७ व १८

शब्दार्थ—से० – वे, भि० – साधु साध्वी, णो० – नहीं, ण० – नवीन, मे० – मेरा, व० – वस्त्र, त्ति० – इति, क० – करके, णो० – नहीं, ब० – बहुत थोड़ी, सि० – सुगन्धित द्रव्य से, जा० – यावत्, प० – विशेष मसले (मले) ॥१७॥

से० – वे, भि० – साधु साध्वी, णो० – नहीं, ण० – नवीन, म० – मेरे, व० – वस्त्र, त्ति० – ऐसा करके, णो० – नहीं, ब० – बहुत थोड़ा, सी० – शीतोदक, वि० – अचित्त से, जा० – यावत्, प० – धोवे ॥ १८ ॥

भावार्थ—साधु साध्वी को यह विचार करके कि मेरा वस्त्र नया नहीं है अर्थात् पुराना हो गया है, थोड़े बहुत सुगन्धित द्रव्य से उसे नहीं मसलना चाहिए ॥ १७ ॥

और इसी तरह पुराने वस्त्र को भी शीतल या गर्म जल से नहीं धोना चाहिए ॥ १८ ॥

पाठ—

जे भिक्खु विभूसा वडीयाए वत्थं
वा ४ धोवई धोवंतंवा साईज्जई ॥ १५९ ॥
—निशी० उ० १५ सू० १५९

भावार्थ—जो साधु विभूषा के लिए वस्त्र पात्र कम्बल रजोहरण धोवे, धोते को अच्छा जाने तो उसके लिए लघु-चौमासिक प्रायश्चित है।

पाठ—

जे भिक्खु णवे इमे वत्थे लद्धे त्तिकट्टु बहु दिवसी एणवा सी उदग वियडेणवा जाव पधो वं तं वा साईज्जई ॥५१॥

जे भिक्खु सुब्भिगंधे वत्थे लद्धे त्तिकट्टु ते
लेणवा जाव भिलंइतं वा साईज्झई ॥ ५४ ॥
—निशी० उ० १८ सूत्र ५१ व ५४

भावार्थ—जो साधु ऐसा विचार करे कि मुझे नया वस्त्र प्राप्त हुआ है, इसे बहुत दिन से अथवा बिना कारण अचित्त धोवण तथा गरम पानी से धोऊँ, या ऐसा विचार करने वाले को अच्छा जाने तो लघु चौमासिक प्रायश्चित बताया है ॥ ५१ ॥

जो साधु सुगंधित वस्त्र प्राप्त कर के उसमें तेल, घृतादि लगावे,

लगाते को अच्छा जाने, धोवे या धोते को अच्छा जाने, तो उसे भी लघु-चौमासिक प्रायश्चित ही बताया गया है।

नोट—यहाँ वस्त्र धोना, धोते को अच्छा जानना और तेल-घृतादि लगाना, लगाते को अच्छा जानना यह जाव शब्द में बताया है। यह ऐसा दोप है जिसके सेवन पर दंड का विधान है, अतः उक्त आगम प्रमाणों के आधार पर जयाचार्यजी का मन्तव्य मिथ्या ठहरता है।

और भी देखिए—

[१] आचा० श्रु० २ अ० १४ उ० १ सू० ६ में बहुमूल्य सुशोभित मलमल आदि वस्त्र लेने के लिए मना किया गया है।

नोट—तेरहपंथी तो बहुत सुशोभित वस्त्र पहिनते हैं। एक तारी मलमल व अहलवान का जो काफ़ी मूल्यवान होते हैं ये बहुत उपयोग करते है। गिरी हुई क़ीमत के समय कम से कम ४० रुपयों का और अधिक से अधिक २०० रुपयों तक का अहलवान जिसे गृहस्थ ने ५-७ दिन ही उपयोग मे लाया है, ये लोग निःसंकोच हो कर बल्कि खुशी के साथ ले लेते हैं। यह बात किसी से छिपी हुई नहीं है, सब को मालूम है।.

[२] बृह० उ० ३ सूत्र ७ व ८ मे साधु साध्वी को सुन्दरता-रहित कपड़ों का उपयोग करने का आदेश है।

[३] निशी० उ० १५ सूत्र १०१ में यह वर्णन है कि साधु सफ़ेद कपड़े धारण करे, लेकिन चार तरह के नहीं। जो

चार तरह के न छोड़ कर धारण करे उसे लघुचौमासिक दंड बताया गया है। वे चार तरह के कपड़े ये हैं—१. जिनको गृहस्थ हमेशा धारण करे, २. जो स्नान के बाद धारण करने के लिए हों, ३. जो उत्सव के समय धारण करने के लिए हों, और ४. जो राज-सभा में धारण करने के लिए हों।

[४] निशी० उ० १८ सूत्र ४८ में बताया गया है कि साधु यह विचार करे कि मैं अचित्त पानी से वस्त्र धोऊँगा, ऐसा विचार करते को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक दंड बताया.है।

[५] बृहद० उ० २ सूत्र २९ व ३० में साधु के लिए पाँच तरह के कपड़ो को ग्राह्य बताया गया है (१) **जङ्गिए**—ऊन के (ऊननो), रेशम के (२) **भङ्गिए**—अलसी के झाड़ के * [३] सन के **साणए**, [४] कपास के **पोतए** [५] और **तिरीड पट्ट**—वृक्ष की छाल के। अर्थ में यह बताया गया है कि उत्सर्ग मार्ग में कपास और ऊन के वस्त्र ग्राह्य है, और अपवाद मार्ग में बाकी तीन तरह के वस्त्र ग्राह्य है। कपास व ऊन का न मिले तब बाकी तीन तरह के कपड़ों को बरतना उचित है। इसी तरह रजोहरण भी पाँच तरह का बताया गया है, (१) ऊन का (२) ऊँट की ऊन का (३) सन का (४) डाभ (घास) का, (५) तिनको का। उत्सर्ग मार्ग में एक ऊन का ही बताया है लेकिन ऊन का न मिले तो बाकी चारों में से किसी भी तरह का ग्राह्य है।

---

* कोई कोई '२ भङ्गिए' शब्द का अर्थ २ समका करते हैं।

नोट—इस तरह हम देखते हैं कि साधुओं के लिए वस्त्र के सम्बन्ध में काफ़ी नियम और बंधन है, लेकिन ये तेरहपंथी लोग तो अपनी मनमानी करते हैं। जब रतनगढ़ में महामहोत्सव हुआ था तब आचार्यजी ने रेशमी चोलपट्टा पहिना था। सामान्य साधु तो रेशमी गातियो को बहुत ही व्यवहार मे लाते हैं।

नोट—(१) आचार्य और साधु का एक ही आचार है; अतः आचार्य के लिए विशेष रूप से कपड़ा नहीं धोना चाहिए। ठा० ठा० ७ सू० ४९ मे अर्थ अर्थात् टीका में धोना बताया है, लेकिन पाठ मे कुछ नही है; अतः टीका का अर्थ अमान्य है। टीका में अनेक बाते अमान्य हैं।

(२) वृहद् उ० ३ सूत्र ९ व १० मे बताया है कि साधु को साबुत थान रखना नहीं कल्पता है; हाँ, चादर अलग अलग करके रखने की अनुमति है। निशी० उ० २ सूत्र २३ के अनुसार अभेद्य अखण्ड वस्तु को रखे रखते को अच्छा जाने तो मासिक दंड बताया है। लेकिन ये तेरहपंथी लोग किनारी फाड़कर साबुत थान रख लेते है और इस तरह आगम की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करते है।

ख—उत्तर के लिए पाठ

पाठ—

जे णिग्गंथे तरुणे जाव थिर संघा यणे से
एगं पायं धारेजा णो बीयं ॥ १ ॥

—आचा० श्रु० २ पात्रो अ० १५ उ० १ सू० १

शब्दार्थ—जे० – जो, णि० - साधु, त० - युवक, जा०–यावत्, थि० – दृढ़ सघापणी, से० – वह, ए० – एक, पा० – पात्र, धा०– धारण करे, णो० – नहो, बी० – दूसरा ॥

भावार्थ—जो मुनि युवक बलवान और मज़बूत हैं वे एक ही पात्र रखें, दूसरा पात्र न रखे।

पाठ—

जे भिक्खु लाउं पायं वा दारुपायं वा मट्टीया
पायं वा सयमेव परिघट्टेई वा, संट्ठ वेई वा
जंमा वेई वा, परिघट्टंतं वा संठ वंतं वा,
जंमा वंतं वा साईज्जई ॥ २५ ॥

एवं दंडयं वा लंठीयं वा अवेहहणं वा, वेणु
तुइयं वा, जाव जंमाइवंतं वा साईज्जई ॥ २६ ॥

—निशी० उ० २ सूत्र २६

शब्दार्थ—जे० – जो, भि० – भिक्षु, ला० – तुम्बे के पात्र, दा० – काष्ट के पात्र, म० – मट्टी के पात्र, स० – स्वयमेव, प० – पेंदा, दाहि० – सस्थाये ॥

भावार्थ—जो साधु तुम्बे के पात्र, काष्ट के पात्र और मट्टी के पात्र को, जो खराव हैं, शोभा के लिए अच्छा करे, मुँह पेंदा आदि लगाए, बारबार जमाए, जो अच्छा करता हो सुधारता हो जमाता हो उसे अच्छा जाने ॥२५॥

इस ही प्रकार शोभा के लिए डंडे को, लकड़ी को, बाँस की खापटी को, बाँस की शलाका को, काँटे निकालने के

हिंगोर आदि के काँटे को आप सुधारे, सुधारते को अच्छा जाने, (तो लघुमासिक प्रायश्चित बताया गया है) ॥२६॥

नोट—तेरहपंथी तुम्बा के पात्र का मुँह तथा पेन्दा आदि लगाते हैं और शोभा के लिए रँगते भी हैं। तुम्बा तो सिर्फ़ पानी के ही काम आता है, इसलिए उसे रँगने की उपयोगिता की दृष्टि से कोई आवश्यकता ही नहीं है, इसलिए तुम्बा को रँगने का ध्येय शोभा बढ़ाना ही हो सकता है। यही नहीं, ये लोग काम्बी पटरी आदि को भी स्वयमेव सुधारते हैं और रँग कर उसे बहुत सुन्दर बना लेते हैं तब उसे काम में लेते हैं। यदि उद्देश्य शोभा बढ़ाना नहीं है तो भला पटरी काम्बी को रंग लगा कर बढ़िया बनाने और आचार्यजी के पानी पीने के ग्लास को इतना सुन्दर बनाने का क्या प्रयोजन है? बात यह है कि पात्रादि की स्वच्छता तो ठीक है, क्योंकि स्वच्छता सात्विक चीज़ है और वे बिना रँगे काम्बी, पटरी और तुम्बा आदि को स्वच्छ रख सकते हैं; लेकिन उनकी आँखें तो सौन्दर्य और श्रृंगार-लोलुपी है, इसलिए वे इन चीज़ों मे श्रृंगार करके इन्हें सुन्दर बनाते हैं। जैसा कि बताया जा चुका है, वस्त्र आदि के सम्बन्ध में भी उनका यही दृष्टिकोण रहता है। चक्षु इन्द्रिय और मन इनके वश में नहीं है, इसलिए ही ऐसा असंयम है।

पाठ—

जे भिक्खू विवण्ण पडिग्गहं, वण्णमंतं
करेइ करंतं वा साइज्जइ ॥ ११ ॥

—निशी० उ० १४ सूत्र ११

शब्दार्थ—जे० – जो, भि० – साधु, वि० – खराब वर्ण है, प० – पात्र, व० – वर्ण पलटे, क० – (अच्छा) करे, क० – करते को अच्छा जाने ॥

भावार्थ—जो साधु खराब पात्र को अच्छा करे, करते को अच्छा जाने, (*उसके लिए लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया* गया है) ।

पाठ—

जे भिक्खूणवेइमे पडिग्गहेणं लद्धे त्तिकई तेलेण वा घएण णवणीएण वा वासाएज्ज वा मंखेज्ज वा भिलिं-गेज्ज वा मक्खंतं वा भिलिगंतं वा साईज्जई ॥१२॥

—निशी० उ० १४ सूत्र १२

भावार्थ—जो साधु यह विचार करके कि उसे नया पात्र मिला है; उसे तेल, घृत, मक्खन, चरबी एक बार या बार-बार लगावे; लगाते को अच्छा जाने, (उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया गया है) ॥

पाठ—

जे भिक्खूणवे इमे पडिग्गहं लद्धे त्तिकद्दु लोद्धेण वा कक्केण वा, चुण्णेण वा, ण्हाणेण वा जाव साईज्जई ॥१३॥

—निशी० उ० १४ सूत्र १३

भावार्थ—जो साधु यह विचार करके कि उसे नया पात्र मिला है; लोद्रक कोष्टकं पद्मचूर्ण आदि द्रव्यों से उसे रँगे, रँगते

को अच्छा जाने, (उसे पूर्ववत् प्रायश्चित अर्थात् लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया गया है)॥

पाठ—

जे भिक्खू णवे इमे पडिग्गहे लद्धे त्तिकट्टु सीओदग वियडेण वा, उसिणोदग वियडेण वा उच्छोलेज्ज वा पधोवेज्ज वा उच्छोलंतं वा पधोवतं वा साईज्जई॥१४॥

—निशी० उ० १४ सूत्र १४

भावार्थ—जो साधु यह विचार कर के कि उसे नया पात्र मिला है, उसे अचित्त ठँडे पानी से अथवा अचित्त गरम पानी से धोए, एकवार या वार-वार धोए, धोते को अच्छा जाने, (उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है)॥

पाठ—

जे भिक्खू णवे इमे पडिग्गहे लद्धे त्तिकट्टु बहु दिवसिएण तेलेण वा घएण वा, जाव साईज्जई॥१५॥

—निशी० उ० १४ सूत्र १५

भावार्थ—जो साधु यह विचार करके कि उसे नया पात्र मिला है, बहुत दिनों के बाद तेल घृत आदि लगाए, लगाते को अच्छा जाने, (उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया गया है)।

नोट—किसी किसी आचार्य ने 'ख़राब होने से पहिले' का अर्थ 'मर्यादा के पश्चात्' किया है। सूत्र में उसका कोई संकेत

भी नहीं है, अतः अकारण ही अपने मनसे ऐसा अर्थ लगाना बुद्धिसंगत नहीं है।

पाठ—

जे भिक्खू णवे इमे पडिग्गहं लद्धे त्तिकट्टु बहु दिवसिएणं लोद्धेण वा कक्केण वा ण्हाणेण वा, पउमचुण्णे वा, वणेण वा, जाव साईज्जई ॥ १६ ॥

—निशी० उ० १४ सूत्र १६

भावार्थ—जो साधु यह विचार करके कि उसे नया पात्र मिला है, उसे बहुत दिन के बाद लोद्र कंकेत, पद्म चूर्ण, वर्ण आदिसे से रँगे, रँगते को अच्छा जाने, (उसे पूर्ववत् दंड अर्थात् लघुचौमासिक दंड बताया है) ॥

पाठ—

जे भिक्खू णवे इमे पडिग्गहे लद्धे त्तिकट्टु बहु दिवसिएण सीउदग वियडेण वा उसिणोदग वियडेण वा जाव साईज्जई ॥१७॥

भावार्थ—जो साधु यह विचार करके कि उसे नया पात्र मिला है उसे बहुत दिन के पश्चात अचित्त ठंडे पानी या अचित्त गरम पानी से धोए, धोते को अच्छा जाने, (उसे भी लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है)

नोट—उपर्युक्त दो पाठों मे 'बहु दिवसिएण' शब्द आया है। किसी किसी शिथिलाचारी आचार्य ने इसका अर्थ 'तीन-

पुसलि उपरान्त ' दिया है, जो सर्वथा असंगत है । इसका अर्थ "बहुत दिन के बाद भी न रँगना" है ॥

पाठ—

जे भिक्खू थुणंसि वा गिहे लुयंसि वा उस कालंसी वा काम जलंसी वा पडिग्गहं आया वेज्जवा जाव साईज्जई ॥ ३६ ॥

जे भिक्खू दहंसि वा भिचिसि वा सेलुंसि वा अंतरिक्ख जायंसि वा पडिग्गहं आया वेज्जा वा जावे साईज्जई ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जो साधु पृथ्वी के स्तम्भ पर, तथा घर की छत पर ओस के पानी से भीगे हुए किसी पदार्थ को अथवा पात्र को अताप में दे, विशेप अताप में देवे ॥३६॥

जो साधु घर की छत पर तथा घर के बराँडे आदि ऐसी जगह में जिस के ऊपर आकाश हो, पात्र को अताप में दे, देते को अच्छा जाने, (उसे पूर्ववत् दंड है) ॥

पाठ—

जे भिक्खु सुब्भिगंध पडिग्गहे लद्धू त्तिकट्टु तेलेण वा घएणवा, णवणीएण वा साईज्जई ॥ २० ॥

—निशी० उ० १४ सू० २०

भावार्थ—जो साधु यह विचार करके कि उसे सुगंधित पात्र मिला है, उसे तेल घृत मक्खन आदि लगाए, लगाते को

अच्छा जाने, (उसे पूर्ववत् प्रायश्चित अर्थात् लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया गया है)॥

नोट—हम देखते हैं कि उपरोक्त सूत्रों में—आगम वाक्यों मे—पात्र को रँगना, सुशोभित बनाना तथा यह विचार करके कि नया पात्र मिला है उसे तेल घृत आदि लगाना, पानी से धोना, रँगना; बहुत दिन बाद रँगना, ख़राब से अच्छा करना, इन सब कामों के लिए मना किया गया है; अतएव जयाचार्यजी का कथन बिल्कुल मिथ्या है। तेरहपंथी अपने समर्थन में टीका में आए हुए 'बहु दिवसिएण' का 'तीन पुसलि उपरान्त' अर्थ पेश किया करते हैं, लेकिन व्याकरण और भाषा के किसी भी नियम से यह अर्थ ठीक नहीं है। यहीं नहीं, सूत्रों में ही कई जगह इसका अर्थ 'बहुत दिन बाद' किया गया है। आचा० श्रु० २ अ० १४ उ० १ सूत्र १७ व १८ तथा निशी० उ० १८ सूत्र ५१ में 'बहु दिवसिएण' का अर्थ 'बहुत दिन बाद' ही किया गया है। अतः निशी० उ० १४ की टीका का अर्थ बिल्कुल ग़लत और भ्रमपूर्ण है।

बृहद्० कल्प उ० १ सूत्र १६ में साध्वी को पात्रीया अन्दर से रँगा मिले तो लेना, और रँगा न मिले तो ऐसा ही लेना बताया है। अतः स्पष्ट है कि स्वयम् पात्र पात्रीया रँगना अनुचित है—आगम की आज्ञा के प्रतिकूल है।

सूत्र १७ में साधु को बिना रँगा लेना बताया है। रँगा हुआ लेना मना है।

और भी देखिए—

[१] आचा० श्रु० १ अ० ८ उ० ४ सूत्र १ में एक पात्र तीन वस्त्र रखना बताया है।

[२] आ० श्रु० २ अ० १५ उ० १ सूत्र १ में बलवान साधु को एक ही पात्र रखना बताया है; दूसरा पात्र न रखना बताया है। तुम्बा का मिट्टी का या काष्ट (लकड़ी) का जो मिले उसे ही रखना बताया है। कितने ही आचार्य कहते हैं कि यह पाठ अभिग्रह-धारियों के लिए है।

[३] तेरहपंथी निशीथ की हुंडी (उ० १८ नवाँ अधिकार) में लिखा है कि जल-भरी नाव से जल का भरतन' करके और आहार के पात्र पात्रीया से जल निकालना कहा है। इससे साधु के तीन पात्र ठहरते हैं। ये तेरहपंथी लोग यह भी कहते हैं कि व्या० सू० उ० २ सूत्र २८-२९ में भी तीन पात्र ठहरते हैं। लेकिन आगे देखने पर पता चलेगा कि तीन पात्रों की बात आगम के अनुकूल नहीं है।

[४] बृहद्० कल्प उ० ३ सूत्र १५ × में दीक्षा लेते समय लिए जाने वाले उपकरण में पात्र ही बताया है, तीन पात्रों का कोई उल्लेख नहीं है। पाठ में तीन पात्रों का कोई उल्लेख नहीं है, लेकिन अर्थ में यह लिख दिया गया है जो सर्वथा ग़लत और भ्रमपूर्ण है। पाठ में वस्त्र के बारे में 'तिहिय कसिणेहि'. पाठ है

× "रय हरण पडिग्गह" गोच्छा मायाए
तिहिय कसिणेहिं वत्थेहिं आयाए॥

जिस के अनुसार कपड़े के तीन थान लेना बताया है, लेकिन पात्र की जगह ऐसा कोई वर्णन नहीं है। इससे स्पष्ट है कि एक ही पात्र का नियम आगम के अनुकूल है।

[५] निशीथ उ० १८ सूत्र १७ * में जो कहा है उससे भी तीन पात्रो के नियम का अनुमोदन नहीं होता है। यहाँ नाँव से पानी उलीचने के बरतन से या अपने पात्र या पात्रीया से स्वतः पानी उलीचने में दंड बताया है। यहाँ 'पानी उलीचने का बरतन' साधु का नहीं है, बल्कि नाविक का है और पात्र पात्रीया के बीच में 'या' शब्द का प्रयोग है जिससे उन दो मे एक ही ठहरता है।

[६] व्यवहार उ० २ सूत्र २८ व २९ में तीन पात्र ठहरते हैं—ऐसा तेरहपंथी कहते है, लेकिन उनका यह कथन भी गलत है। साधु के लिए परिहारिक साधु द्वारा आहार लाने के प्रकरण मे बताया है "**कप्पति से संयमसिवा पडिगह गं सिवा**", अर्थात् (इसका अर्थ है कि) सतवीर को अपने पात्र मे ही भोजन लेना ग्राह्य है। "**संयमसिवा पलास ग्गं सिवा**" इसका अर्थ है—अपने ही पात्र (मात्रीया) में मूत्र (पेशाव) करना (पाठ में मात्रीया नहीं है, पात्रा है; अतः दूसरे की संभावना नहीं है)। "**संयमसिवा कमंडलगंसिवा**" अर्थात् अपने ही कमंडल से पानी पीना। "**संयमसिवा क्खु भंगंसिवा**" अर्थात् अपने ही हाथ के खोए में। "**संयमसिवा**

* "णवानुस्सिचेणवा"॥

पाणिएसिवा उद्धट (२) भोतएवा, पित्तएवा एस कप्पो"
अर्थात् आहार ग्रहण करके खाने का विधान है। इस पर से तीन पात्रो का समर्थन नहीं होता है; क्योंकि कमंडल पात्रा और मात्रीया ये सतवीर साधु के लिए आवश्यक है, सुदृढ़ साधु के लिए नहीं।

नोट—कितने ही सूत्रों मे 'कमंडलगं सिवा' पाठ है, और कितने ही सूत्रों में नहीं है। मालूम होता है यह पीछे से जोड़ा गया है। क्या यह ठीक है यह केवली ही जानते हैं।

[७] व्यवहार० उ० ८ सू० ५ में सतवीर को उपधि ग्राह्य बनाई है। उस मे है—(१) डंडा (२) पात्र (३) छत्र अर्थात् सिर ढकने का कपड़ा (४) मात्रीया (मिट्टी का बरतन) (५) पाटीया (६) वस्त्र (चिरमली सहित) (७) चर्म (८) चर्म का टुकड़ा। इस पर से भी तीन पात्र नहीं ठहरते हैं।

नोट—लेकिन तेरहपंथी आचार्य काष्ट की तीन थालियाँ, पात्रा एक, प्याला एक, गिलास एक (पानी पीने का), मट्टी की मटकी (पानी के लिए), मात्रीया (उडगी), दूध पीने का प्याला, चोड़पट्टे दो, चादर (पछेवड़ी), अहलवान एक, वनात एक और बिछौने के कपड़े (रात में सोने के लिए), चर्मला आदि मिलाकर सवा सौ से डेढ़ सौ हाथ तक कपड़ा आदि बहुत से पदार्थ रखते हैं। एक सतवीर को जो पदार्थ रखना बताया है उस से भी ज्यादह संख्या में इनके आचार्य उपधि रखते है और इस

तरह शास्त्र की आज्ञा के विरुद्ध स्पष्ट रूप से आचरण करते हैं। साधारण साधु और आचार्य के लिए आचार के एक ही सरीखे नियम है, अतः आचार्य ज्यादह रखने के अधिकारी नहीं है। प्रत्येक साधारण साधु भी तीन पात्र और गोटे में नारियल के टोपसी प्रायः तीन चार रखा करते है और इस तरह वे भी अनाचार का सेवन करते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि यह तो संघ का संघ ही प्रायः भ्रष्टाचारियो से भरा हुआ है।

[८] प्रश्न० व्या० संवर २ अ० ५ में साधु के लिए उपधि निम्न प्रकार बताई है—

जपियं समणस्स सुविहियस्स तहो पडिगधारिस्म भवई, भायण भंडोवहि, उवगरण पडिग्गतो, पाय बंधणं, पाय केसरिया, पायट्ठवणंच, पडलाइं, तिण्णी वर यत्ताणंच गोच्छओ तिण्णिप पच्छगा रयहरणं चोलपट्टग मुहण णंत कमादियं, एयंपिय संजमस्स उवबूहण ट्ठयाए वाया यव दस मसग सीय ओसिण परिरक्खणट्ठायाए उवगरणं, राग दोस रहियं परिहरियव्वं संजएण निच्चं, पडिलेहण पप्फोउण पमज्जणाए अहोय राओय अप्पमतेण होई॥

शब्दार्थः—ज० – आत्मभावी, स० – साधु को, सु० – शुद्ध आचार वाले, त० (ततस्) – त्यार पीछी उपकरण पात्र धारण करते हैं. भ० – वह बताते हैं, भा० – भाजन, भं० – भंड, उ० – उपकरण, प० – पात्रो, पा० – पात्रबंधण की झोली, पा० – पात्र को साफ करने

का गोच्छा, पा० – पात्र रखने का पाट, प० – पात्र लपेटने का लपेटा, ति० – तीन (पात्र, झोली और कपड़ा), गोचरी जाते वक्त साफ करने के लिए जीव रक्षार्थ पडिलेहूना करे, पं० – पुणजणी, ति० – तीन, प० – चादर, र० – रजोहरण, चो० – चोड़पट्टा, मु० – मुखवस्त्रिका आदि, पं० – नीति, क० – चारित्र पालने को, ए० – असमर्थ, स० – संयमी, उ० – अथवा कोई जीव की हिंसा न करे, वा० – वायु, दं० – डंस मच्छर, सी० – शीत, उ० – उष्णता, प० – दूर रखने के लिए, उ० – उपकरण, रा० – राग द्वेष, रा० – रहित, प० – सब दोषों को परिहरे, स० – साधु, नि० – दोनो समय, प० – प्रतिलेखना, प० – इधर उधर न हिलावे, प० – दृष्टि से अच्छा देखे, अ० – दिन को, र० – रात्रि को सदैव, अ० – अप्रमादी, हो० – होवे ॥

भावार्थ—शुद्धाचारी सतवीर साधु निम्न उपकरण रखते है—(१) पात्र, (२) पात्र को बाँधने की झोली, (३) पात्र साफ़ करने का गोच्छा, (४) पात्र रखने का पाट पाटला, (५) पात्र लपेटने का लपेटा [पहिले तीन उपकरणों को जीव-रक्षणार्थ गोचरी जाते समय यत्नपूर्वक साफ़ कर लेना चाहिए], (६) गोच्छा, (७-८-९) तीन पछेवड़ी, (१०) रजोहरण, (११) चोड़पट्टा, (१२) मुखवस्त्रिका इत्यादि। ये संयम-निर्वाह के लिए रखना चाहिए। इन के बिना संयम-निर्वाह कठिन है। अथवा वायु, डंस मच्छर, सरदी, गरमी आदि परिषह से बचने के लिए रखे, इन उपकरणों में राग द्वेष आदि सब दोषों का त्याग करता हुआ सदैव दोनों समय प्रतिलेखना करे, दृष्टि से देखे, यत्नपूर्वक ही इधर उधर हिलावे, जीव की शंका के स्थान पोछ कर स्थापन करे, दिन-रात सदैव अप्रमादी होवे। "तिण्णा वर पत्ताणं च" का अर्थ कई आचार्य "तीन-पात्र और तीन पात्र के

ढक्कन" करते हैं और कई 'तीन बरतन' अर्थ करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि जब ऊपर ही पात्र बता दिया गया है तब फिर दुबारा बताने की क्या आवश्यकता है, क्यों दूसरी बार तीन पात्र बताए जायँगे ॥

निशीथ० उ० १ सूत्र ५७ व ५८ और उ० १६ सूत्र ३८ व ४२ में बताया है कि साधु कोई भी उपकरण डेढ़ महीने से अधिक न रखे और यदि रखे तो दंड का भागी हो। यही उ० ५ सूत्र ६१ से ६८ तक में और उ० २ सूत्र ४ में बताया है। लेकिन तेरहपंथी साधु इस नियम का भी कोई पालन नहीं करते हैं।

पात्र के रंगने के विषय में प्रमाण देखिए—

पाठ—

स अण्डादि सव्वे आलाव गा. जाहा वत्थे सणाए णाणन्तं तेल्लेण वा, घएण वा, णवणीए वा, वसाए वा, सिणाणादिजाव अण्णयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ तओ संजयामेव आमज्जेज्जवा ॥ १२ ॥

—आचा० श्रु० २ अ० १५ उ० १ सूत्र १२

शब्दार्थः—स० – अण्डे सहित, स० – सब, आ० – आलापक, ज० – जैसे वस्त्रैषणा में, णा० – विशेष, ते० – तेल से, घ०–घृत से, ण० – मक्खन से, व० – चर्बी से, सि० – सुगंधित द्रव्य, जा०–यावत्;

अ० — अन्य, त० — उसी प्रकार की, थ० — स्थंडिल में, प० — देख देख कर, प० — पोछ पोछकर, त० — जब, स० — साधु, आ० — घिसे ॥ १२ ॥

भावार्थ—अंडा आदि सहित सर्व आलापक वस्त्रैषणा में कहे अनुसार जानना चाहिए। यहाँ यह विशेष है कि तेल घी चरबी आदि से पात्र लेपा हुआ हो तो अचित्त स्थान में जाकर देख-देख कर पोछ-पोछ कर यत्नपूर्वक उसे साफ़ करना चाहिए।

टीका—आचा० अ० १४ उ० १ व २ सूत्र १ में वस्त्र धोना-रँगना मना किया है। उपर्युक्त पाठ में 'जाव' शब्द में पात्र रँगना धोना साफ मना किया है। विशेष-लगा हुआ द्रव्य निकाल के साफ़ करना बताया है। उववाई समवशरण सूत्र ४० में १ वस्त्र १ पात्र रखने का आदेश किया गया है। बृहद् कल्प उ० १ बोल १८ में बताया है कि चिरमली बाँधने के काम मे लेना चाहिए, अन्य काम में नहीं। लेकिन ये तेरहपंथी लोग इन सब आज्ञाओं का कोई पालन नहीं करते हैं।

अब कुछ घटनाओं का उल्लेख किया जायगा जिससे पाठकों को पता लगेगा कि इन तेरहपंथी साधु-वेषियों को वस्त्र पात्र आदि उपकरणों के प्रति कितनी मूर्च्छा है?

(१) गृहस्थ आचार्यजी से प्रार्थना करता है कि 'हुजूर, कृपा करके हमारे घर पधारिएगा'। आचार्यजी उसके घर पधारते हैं तब गृहस्थ उन से कपड़ा लेने की विनती करता है। पहिले ही

कमरे में पेटी में रखे हुए कपड़े पेटी सहित बाहर निकाल कर रख देता है। आचार्यजी यह नहीं पूछते हैं कि एक ही पेटी बाहर क्यों रखी गई। वे तो कपड़े लेना शुरू कर देते हैं। कपड़ा घटिया होता है तो 'इच्छा नहीं है' कह कर छोड देते हैं, नहीं लेते हैं, और कपड़ा बढ़िया होता है, तो "गृहस्थ के भाव देखके" ले लेते हैं। घटिया कपड़े वाले गृहस्थ के भाव इन को नहीं दीखते। वाह, कैसी मायाचारी और विडम्बना है। एक बार बम्बई वालों ने अहलवान (चादर) देने की विशेष कोशिश की। आवश्यकता नहीं थी मगर फिर भी उसे लिया गया। उस नए अहलवान के ६ रूमाल (खेलींये) नाक साफ़ करने के लिए बनाए गए, जिन में से दो मुझे मिले, दो जगन्नाथजी को मिले और दो किसी और ने लिए, जिसका नाम मुझे मालूम नहीं है। देखिए, रूमाल तो फटे हुए पुराने कपड़े के करने चाहिए; लेकिन इन लोगों ने ४०-५० रुपए के नए क़ीमती अहलवान को फाड़ कर नाक साफ़ करने के रूमाल बनाए। यह एक नमूना है इन साधुत्व का नाटक करने वाले ढोंगियों के ठाट का, ऐश्वर्य का, और इनकी तपस्या के खोखलेपन का। उन रूमालों में से जो दो रूमाल जगन्नाथजी को दिए गए थे, उनमें एक रूमाल मौजूद है, जो चाहे आकर देख सकता है।

(२) चौथमलजी महाराज के पास कई पात्री हैं उनमें से एक लाल पात्री है जो केवल पंचमी जाने के वास्ते पानी लेने के लिए है। अन्य कामों में वे उसका उपयोग नहीं करते हैं, और वे कहा करते हैं कि और कामों में लेने से यह ख़राब हो जायगी; इसलिए

और कामों में इसका उपयोग नहीं करता हूँ। मूर्च्छा का कितना स्पष्ट और नग्न परिचय है? चौथमलजी ही नहीं, ये सब लोग कई कई पात्र रखते है और इसी प्रकार मूर्च्छा रखते हैं। स्वयं मेरे और मेरे पुत्र कनकमल दोनों के पास ५ पात्रों में से शुरू शुरू में एक ही पात्र रखवाया लेकिन आचार्यजी ने कह कर दो पात्र फिर ज़्यादा बढ़वा दिए। वे दो पात्र अन्त तक काम में नहीं आए। पात्र के प्रति इन लोगो की यह मूर्च्छा कितनी अधिक है?

(३) आचार्यजी के भाई चंपालालजी को यह कहते सुना गया है कि ऐसा रजोहरण बाईस सम्प्रदाय वालों को मर के जन्मान्तर मे भी नहीं प्राप्त हो सकता। द्वेष के साथ मिली हुई मूर्च्छा का कितना नग्न रूप है?

(४) चंपालालजी ने एक वार आचार्यजी से कहा था कि इन हरे गुच्छों को भोगने से शरीर अच्छा होगा। यह है शरीर के प्रति मूर्च्छा!

इसी तरह बाँचने के लिए पटरी बाँधने के लिए डोरी आदि हर चीज के प्रति इन लोगों में मूर्च्छा पाई जाती है। अमूर्च्छा, निर्लिप्तता, अनासक्ति, और उदासीनता का तो यहाँ नाम भी नहीं है।

अध्याय : १५

स्नान

प्रश्न—(क) जयाचार्य कृत प्रश्नोत्तर के प्रश्न ५६ में जीतव्यवहार के आधार पर स्नान करना साधु के लिए दोष नहीं बताया। क्या यह ठीक है?

(ख) वर्तमान तेरहपंथी आचार्य स्थन्डल भूमि जाते हैं तब वहाँ पर मुँह धोया करते हैं, सामान्य साधु भी धोते हैं। कई साधु छिप कर धोते हैं, कई कारण लगा कर धो लेते हैं। ऐसे भी साधु हैं जो नहीं धोते है, लेकिन कारणवश लेने में दोष नहीं बताते हैं। यह दोष पात्र है या नहीं?

(ग) तेरहपंथी साधु दाँत-साफ़ करते हैं, नाखून निकालते हैं, चोट गुमडादिक धोते हैं, मरहम लगाते हैं आदि। क्या ये क्रियाएँ ठीक हैं?

उत्तर—(क), (ख) और (ग) तीनों का उत्तर 'नहीं' में है।

शास्त्र में बताया गया है कि रोगी या निरोगी अवस्था में स्नान की इच्छा करने मात्र से संयम नष्ट हो जाता है। दाँत.

साफ़ करना, मुँह धोना, आँखें साफ़ करना, नाखून निकालना, पसीना पोछना, हाथ पैर आदि धोना, ये सब क्रियाएँ शास्त्र के अनुसार निषिद्ध हैं। जब आगम अर्थात् सूत्र के प्रमाण मौजूद है तब जीतव्यवहार की मान्यता का क्या अर्थ। जीतव्यवहार का विधान तो तभी धर्मानुकूल है जब आगम-प्रमाण उपलब्ध न हो।

प्रमाण देखिए—

(१) सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २१ में वीर प्रभु ने कहा है कि छोटा बड़ा स्नान करनेवाला, कपड़ा धोने वाला संयम से दूर है, क्योंकि वह संयोजना [संयोग] दोष लगाता है।

(२) दशवे० अ० ६ सूत्र ६१ में बताया है कि रोगी अथवा निरोगी जो कोई साधु स्नान की इच्छा करता है उसका आचार संयम से दूर है—उसका संयम नष्ट हो गया है।

(३) सुयडा० प्र० श्रु० अ० ९ सूत्र १५ में लोलुपता-पूर्वक बलिष्ठ आहार लेना, हस्तपादादिक धोना तथा शरीर को साफ़ करना त्याज्य बताया गया है।

(४) दशवे० अ० ४ सूत्र २६ में हाथ पैर धोने वाले साधु को सुगति दुर्लभ बतायी है।

(५) सुयडा० प्र० श्रु० अ० ९ सूत्र १२ व १३ में यह उल्लेख है कि दाँत साफ़ करना, देश स्नान करना व हाथ पैर धोना, नख रोम आदि अच्छे करना, साधु के लिए मना है।

(६) निशी० उ० २ सूत्र २१ में कहा गया है कि अचित्त ठंडे पानी या गरम पानी से हाथ पैर कान आँख दाँत

नख मुख धोना, धोते को अच्छा जानना दोषयुक्त है और इसके लिए लघुमासिक प्रायश्चित बताया गया है।

(७) निशी० उ० ३ सूत्र २० के अनुसार पाँव एक बार या अधिक बार (विशेष रूप से) धोना, धोते को अच्छा जानना दोषयुक्त है और इसके लिए लघुमासिक प्रायश्चित बताया गया है।

(८) निशी० उ० ३ सूत्र २० से २६ तक यह बताया गया है कि साधु साध्वी अपने पाँव को रँगे, मैल उतारे, मसले, तेलादि लगावे, लोद्रादि लगावे, धोवे, या मसल कर शरीर का मैल उतारे, बारबार उतारे, उतारते को अच्छा जाने तो (ये छह बोल शरीर आसरी) यह दंड बताया है।

(९) निशीथ उ० ११ सूत्र ११२ से १६८ तक में यह बताया है कि पसीना पोछना, नाखून काटना, दाँत साफ़ करना, मुँह धोना आदि अनेक कार्य त्याज्य हैं। जो इन्हें करे उसे गुरु चतुर्मासिक दंड बताया है।

(१०) दशवे० अ० ६ सूत्र ६५ व ६६ में नाखून काटना, शरीर को सुशोभित करना आदि कार्यों को ७–८ दृढ़ कर्मों के बन्धन का कारण बताया है और उस बन्धन से छूटना दुर्लभ बताया है।

नोट—उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि स्नानादि करना शास्त्र में निषिद्ध है, लेकिन ये तेरहपंथी खुल्लमखुल्ला स्नानादि करते हैं और इस तरह आगम की आज्ञाओं के विरुद्ध

आचरण करके समाज को धोका देते हैं और अपनी आत्मा को पतन के मार्ग मे ढकेलते हैं।

और भी देखिए—

पाठ—

वाहिओ वा, आरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कन्तो होई अयारो, जढो हवई संजमो ॥ ६१ ॥

—दशवे० अ० ६ सू० ६१

शब्दार्थ— वा०—रोगी, वा०—अथवा, अ०— निरोगी, वा०— फिर, सि०— स्नान करना, जो— कोई, उ— फिर, पं०— इच्छा करे, वु०— भ्रष्ट, हो०— होवे, अ०— साधु के आचार से, ज०— खाली, ह०— हो, स०— सयम से ॥६१॥

भावार्थ—रोगी अथवा निरोगी जो कोई साधु स्नान की इच्छा करता है उसका आचार व संयम नष्ट होता है ॥ ६१ ॥

टीका—यहाँ रोगी अथवा निरोगी दोनों अवस्थाओं में साधु के लिए स्नान करने की इच्छा मात्र करने में भी संयम का विनाश बताया है। विचारशील पाठकगण विचार करें कि सूत्र में इतना स्पष्ट विधान होते हुए जयाचार्यजी का कथन कितना मिथ्या ठहरता है!

पाठ—

सुह-सायगस्स समणस्स सायाउल गस्स निगामसाईस्स।
उच्छोलणा पहो अस्स, दुल्लहा सुग्गई तारिसगस्स ॥२६॥

—दशवे० अ० ४ सू० २६

शब्दार्थ—सु० – प्राप्त सुख के, सा० —भोगने वाला, स० – द्रव्य साधु को, सा० – आगामी काल में सुख की इच्छा करने वाला, नि० – सूत्र सीखने के समय और क्रिया अनुष्ठान के समय ऊँघ लेना, सा० – सोता रहे, उ० – मल दूर करने के लिए और श्रृंगार के लिए ज्यादह पानी वापरे, मुख नेत्र हाथ पैर आदि, प० – धोनेवाले को ये पाँच कामो को, दु० – दुर्लभ है, सा० – शुभ, ग० – गति (मनुष्य गति देवगति मोक्षगति), ता० – भगवान की आज्ञा का लोप करने वाला साधु नरक में जावे ॥

भावार्थ—सुखद शब्दादि विषयों का स्वाद चखने वाले, साता के लिए आकुल, व्याकुल, निष्काम शयन करने वाले और हाथ पाँव का प्रक्षालन करने वाले साधु के लिए सुगति दुर्लभ है।

टीका—यहाँ शब्दादि विषयों का रसास्वादन करनेवाले और हाथ पाँव धोने वाले साधु के लिए सुगति दुर्लभ बताई गई है। तेरहपंथी इसी श्रेणी के साधुओं की श्रेणी में आते हैं, इनके लिए सुगति सचमुच दुर्लभ ही नहीं अत्यन्त दुर्लभ है। ये लोग पंचमी की सेवा के समय में भी सुशब्द सुध्वनि में गृद्ध बने होते हैं और हाथ पाँव तो खुल्लमखुल्ला धोते हैं, यही नहीं इस धोने को वे शास्त्रोक्त कहते हैं। इस तरह ये लोग पाप करते हैं और उस पाप को पुण्य कहते हैं, चोरी करते हैं, ऊपर से सीनाज़ोरी करते हैं। फिर भला साधु-धर्म की दुर्गति करने वाले इन दंभी ढोंगियों को सुगति कहाँ ?

पाठ—

जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहुट्ठुय जे सिणाई।
जे धोवति लुसयंति व वत्थं अहाहुसेणा णगिणस्स दूरे ॥२१॥

—सुयडा० श्रु० १ अ० ७ सू० २१

शब्दार्थ—जे०–जो, व० – वर्म से, ल० – प्राप्त करके, वि०–दोष लगा कर, भु० – भोगे, वि० – अचित्त, सा० – संकोच कर, सि० – स्नान करता है, जे० – जो, धो० – धोता है, लु० – काटता है, व० – वस्त्र, अ० – अव, आ० – कहा, से० – वह, णा० – निग्रंथ भाव से, दू० – दूर है ॥ २१ ॥

भावार्थ—श्री० तीर्थंकर भगवान कहते है कि जो साधु मात्र व्यवहार शुद्धि के लिए निर्दोष आहार लाते हैं और उसे संजोयणा दोष लगा कर भोगते हैं, ऐसे अचित्त पानी से प्रासुक स्थान में बैठ कर आंगोपाग संकोच कर थोड़ा या बहुत स्नान करते हैं, वस्त्रों को धो कर या फाड़कर और फिर सीकर सुशोभित करते हैं वे साधु संयम से दूर समझे जाते है ॥ २१ ॥

पाठ—

जे भिक्खू अप्पणो अत्थिणि आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा आज्जंतं वा पामज्जंत वा साईज्जई ॥ ६१ ॥

—नि० उ० ३ सू० ६१

जे भिक्खू अप्पणो कायाओ सेयंवा, जलंवा पकंवा मलंवा, णिहरेज्जवा वा विसोहेज्जवा, णिहरंतं वा बिसोहंतं वा साईज्जई ॥ ७० ॥

—नि० उ० सू० ७०

भावार्थ—जो साधु अपनी आँखों को साफ़ करे, मसले, विशेष मसले, मसलते को अच्छा जाने ॥ ६१ ॥

जो साधु काया का पसीना, विशेष पसीना, मैल, जमा हुआ मैल निकाले, विशुद्ध करे, निकालते व विशुद्ध करते को अच्छा जाने (तो उसके लिए लघुमासिक प्रायश्चित बताया गया है) ॥७०॥

आचा० श्रु० २ अ० २२ में कहा गया है कि गृहस्थ साधु के पाँव को साफ़ कर या कांटा आदि निकाले साफ़ करे तो ऐसा कराना तथा वैसा ही शरीर के लिए भगंदर जलंदर श्वेत पसीना आदि सम्बंधी कार्य कराना मना है। अ० २३ में साधुओं में परस्पर उपयुक्त कार्य करना कराना त्याज्य है। 'जाव' शब्द में निम्न पाठ दिया है—

पाठ—

से भिक्खू वा (२) अण्णमण्ण किरियं अज्झत्थियं संसेइय नो तं सातिए नो तं नियमे। सिया से अण्णमणो पाए आमज्जेज्जा वा पमज्जेज्ज वा नो तं सात्तिए नो तं नियमे सेसं तं चेव ॥ १ ॥

शब्दार्थः—से० – वह, भि० – साधु साध्वी, अ० – परस्पर, कि० – क्रिया, अ० – आध्यात्मिक, स० – संश्लोषिकी, नो० – नहीं, त० – उसे, स० – इच्छा करे, नि० – करावे, सि० – कदाचित्, से० – उसके, अ० – परस्पर, प० – पाँव, आ० – मसले, प० – विशेष मसले, नो० – नहीं, त० – उसे, सा० – इच्छा करे, नो० – नहीं, तं० – उसे, नि० – करावे, से० – शेष, तं० – वैसा ही ॥

भावार्थ—साधु साध्वी, कर्म-बन्धन की पाँच क्रियाएँ

जो उपरोक्त अध्ययन मे वताई गई हैं, उन्हें परस्पर न कराए न उनकी इच्छा करे ।

और भी देखिए—

पाठ—

सिणाणं अदुवा कक्कं लोद्धं पउमगाणिय ।
गायस्सुव्व ट्टणहाए नायरन्ति कयाइ वि ॥ ६४ ॥
—दशवै० अ० ६ उ० १८ सूत्र ६४

शब्दार्थ—सि० – स्नान, अ० – अथवा, क० – चन्दनादि, लो० – लोद्र०, प० – सुगंधित द्रव्य कुकुम केसर आदि, अ० – फिर, ग० – शरीर के, उ० – मर्दन, ट्ठ० – निमित्त, ना०–न, आ० – याद करे, क० – कोई भी, वि० – वक्त भी ॥

भावार्थ—साधु स्नान अथवा चन्दन लोद्र पद्म-कमल कपूर आदि सुगंधित द्रव्यों से शरीर मर्दन न करे ।

नोट—उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि स्नान तथा अन्य शारीरिक सफ़ाई आदि के काम करना साधु के लिए दोष-सेवन है, लेकिन तेरहपंथी सफ़ाई के सभी काम करते हैं और इस तरह साधु कहला कर, साधुत्व का ढोंग रच कर, साधुत्व की ही हत्या करते हैं । साधु-धर्म की तो हत्या ये बेचारे क्या कर सकते हैं, उसे स्थायी रूप से वदनाम भी क्या कर सकते हैं, हाँ अपनी आत्मा का पतन अवश्य कर लेते हैं । ऐसे लोगों पर क्रोध नहीं, दया ही, आ सकती है ।

अध्याय : १६

गोचरी + पंचमी + विहार
— आदि —

प्रश्न—(क) तेरहपंथी गृहस्थ के साथ पंचमी (स्थन्डिल भूमि) के लिए जाते हैं। यह दोष-सेवन है या नहीं?

(ख) तेरहपंथी गाँव-गाँव में गृहस्थों के साथ विहार करते हैं। अमुक गाँव को अमुक दिन अमुक मार्ग से जाने का विचार भी चार पाँच दिन पहिले से बना लेते है और पहिले से ही दूसरो को इसकी सूचना कर देते है और रास्ते की सेवा का लाभ बता कर डेरो का आहार लेते है। यह दोष-सेवन है या नहीं?

(ग) तेरहपंथी गृहस्थ के साथ गृहस्थ के घर गोचरी के लिए जाते हैं, थोड़ी वर्षा होते हुए भी गोचरी कर लेते हैं, ज़ोर की हवा चल रही हो तब भी गोचरी कर लेते हैं। यह दोष-सेवन है या नहीं?

उत्तर—(क) यह सर्वथा दोष-सेवन है। साधु सूत्र की आज्ञा के अनुसार गृहस्थ को पंचमी के जाते समय साथ नहीं

ले जा सकता, लेकिन ये तेरहपंथी लोग खुल्लमखुल्ला इस विषय में भी अपनी मनमानी करते हैं। जब इनसे पूछा जाता है कि आप गृहस्थों को अपने साथ क्यों ले जाते हैं तो ये कपटी लोग बेशरमी से उत्तर दिया करते हैं कि हम संग चलने के लिए गृहस्थों से नहीं कहते हैं, स्वयं वे ही साथ हो जाते है। उनकी यह सफाई बिल्कुल कमज़ोर और लचर होती, यदि वे गृहस्थो से ऐसा न भी कहते होते, लेकिन वहाँ तो बात ही दूसरी है जिससे उनकी सफ़ाई सफ़ेद झूठ से भरी सिद्ध होती है। वहाँ सामान्य साधु गृहस्थों से कहा करते हैं कि हुजूर पंचमी पधारते हैं सेवा का लाभ लो। ऐसा कह कर गृहस्थों को साथ रहने के लिए कहा जाया करता है। यह भी देखा कि एक बार जब तेरहपंथी आचार्य चुरु पधारे और पंचमी की सेवा के समय उच्च शब्दों द्वारा गृहस्थों ने जयध्वनि नहीं की तब सामान्य साधु गृहस्थों से कहने लगे कि यहाँ तो भक्ति कम दिखाई देती है, क्योंकि हर गाँव में तो पंचमी की सेवा के समय लोग बड़े ज़ोरों के साथ जयध्वनि बोलते रहते हैं जब कि यहाँ नहीं बोलते। इस उपदेश का भोले-भाले बेचारे श्रावकों पर यह असर पड़ा कि वहाँ ही चौथे दिन खूब ऊँचे शब्दों द्वारा कीर्ति-गान होने लगा, जयध्वनि होने लगी। इस तरह ये लोग सब कुछ गृहस्थों से कह कर अपना काम चला लेते हैं मगर जब इन पर आक्षेप किया जाता है तब कहते हैं कि गृहस्थ स्वेच्छा से ऐसा करते हैं, हम उन्हें क्यों मना करें, हम उन्हें सेवा के लाभ से क्यों वंचित करें। यह कितनी मायाचारी है ! जब पंचमी की जगह पास आ जाती है

तब ये लोग गृहस्थों से आगे चलने के मना क्यों करते है ? क्योंकि मना करें तो पंचमी कैसे जायँ, काम कैसे चले ? मैं इन लोगों से कहना चाहता हूँ कि भाई, जब टट्टी करने के लिए तुम गृहस्थों से आगे बढ़ने के लिए मना कर सकते हो तब क्या सूत्र की आज्ञा-भंग करने के लिए, अपने साधु-धर्म में कोई दोष लगने देने के लिए, जिनेन्द्र भगवान के आगम द्वारा बताए हुए कल्याण मार्ग का गलत पालन करने के लिए, उन्हें पंचमी जाते समय पहिले ही साथ चलने के लिए, मना नहीं कर सकते ? स्पष्ट है कि इन लोगों को न आराम से मतलब है, न जिनेन्द्र भगवान से और न अपने आत्मकल्याण से। ये तो स्वार्थ की मूर्तियाँ है; जिनके लिए स्वार्थ मुख्य है, बल्कि सर्वस्व है। इस तरह हम इन तेरहपंथियों के कपट को स्पष्ट देखते है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

> से भिक्खू वा भिक्खूणी वा बहिय वियार-
> भूमिं वा विहार भूमिं वा णिक्खममाणे पवि-
> समाणे वा, णो अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण
> वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण वा संद्धि-
> बहिया बियारभूमिं वा विहारभूमिं वा
> णिक्खमेज्ज वा पविसेज्ज वा ॥ ८ ॥

—आचा० श्रु० २ अ० १० उ० १ सूत्र ८

शब्दार्थ—से० – वे, भि० – साधु, भि०– साध्वी, ब०–बाहर, वि० – व्युत्सर्ग स्थान, वि० – स्वाध्याय स्थान, णि० निकलते, पु० – प्रवेश करते, णो० – नहीं, अ० – अन्यतीर्थियो के साथ, गा०–गृहस्थों के साथ, प० – पार्श्वस्थ साधु, अ० – अपार्श्वस्थ साधु, ब० – बाहर, वि० – व्युत्सर्ग भूमि, वि० – स्वाध्याय भूमि, नि० – निकले, प० – प्रवेश करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—साधु साध्वी को अन्यतीर्थी गृहस्थ ब्राह्मण पार्श्वस्थ आदि मनुष्यों के साथ जंगल की दिशा में व स्वाध्याय-भूमि में नहीं आना जाना चाहिए ॥ ८ ॥

पाठ—

जे भिक्खू अणउत्थिए वा गारत्थिए वा, परिहारिओ अपरिहारिएणं सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहार-भूमिं वा निखम वा पविसई वा निक्खमंतं वा पविसंतं वा साईज्जई ॥ ४१ ॥

—निशी० उ० २ सूत्र ४१

भावार्थ—जो साधु अन्यतीर्थीक, गृहस्थ, परिहारिक साधु तथा अपरिहारिक साधु के साथ स्थन्डिल भूमि में व स्वाध्याय की भूमि मे जाय, जाते को अच्छा जाने [तो उसे लघुमासिक दंड बताया गया है] ॥ ४१ ॥

टीका—यहाँ स्पष्ट बताया गया है स्थन्डिल भूमि में गृहस्थों के साथ जाना अर्थात् पंचमी के लिए गृहस्थों के साथ जाना और जाते को अच्छा जानना दोष है, जिसके लिए लघुमासिक

प्रायश्चित का विधान है। यदि यह दोष बिना उपयोग के पर-वशं हुआ हो तो जघन्य [सब से कम] चार उपवास का दंड, इच्छापूर्वक हुआ हो तो मध्यम (बीच का) दंड और मोहनीय कर्म के उदय से मूर्च्छापूर्वक हुआ हो तो उत्कृष्ठ (सब से ज्यादह) सत्ताईस उपवास का दंड बताया गया है। लेकिन तेरहपंथी जयाचार्यजी ने 'प्रश्नोत्तर' में प्रश्न ५३ के उत्तर में आचा० श्रु० २ अ० ३. सूत्र २२ का हवाला देते हुए लिखा है—"**प्रज्ञावंत साधारे अर्थे उच्चार पास वण रीजायगा पडिलेहणी कही, ते माटे बिजा तेहनीं ने श्राय पडिले हतो पिण दोष नहीं**"। इस पर से तेरहपंथी उच्चार पासवण की जगह को बिना देखे, एक व्यक्ति के देखने पर ही, सब काम में ले लेते हैं।

तेरहपंथी उच्चार सुचि के लिए पात्रा भर कर या आधा पात्र या एक दो टोपसी पानी ले जाते हैं जब कि शास्त्र में तीन पुसली से अधिक पानी इस कार्य के लिए वापरना त्याज्य कहा है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

जे भिक्खू तओ उच्चार पासवणं भूमिओ न
पडिलेहइ न पडिलेहतं वा साइज्जइ ॥ १५८ ॥
जे भिक्खू उच्चार पासवणं परिट्ठावेत्ता, परितिण्हं
नावा पुराणं आयमइ, आयमंतं वा साइज्जइ ॥ १६६ ॥

—निशी० उ० ४

भावार्थ—जो साधु बड़ी नीति, लघु नीति के लिए तीन स्थानक की प्रतिलेखना नहीं करे, नहीं करते को अच्छा जाने (तो उसके लिए लघु-चौमासिक प्रायश्चित बताया गया है) ॥ १५८ ॥

जो साधु बड़ी नीति लघु नीति परिठा कर तीन पुसली पानी से अधिक पानी लेकर शुचि करे, करते को अच्छा जाने (तो उसके लिए लघु-चौमासिक दंड बताया गया है ॥ १६६ ॥

पाठ—

से भिक्खू वा (२) समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूईज्ज माणे पुव्वा मेवणं पण्णस्स. उच्चार पासवण भूमिं पडिले हेज्जा केवली बूया 'आयाणमेयं' अपडिलेहीयाए उच्चार . पासवण भूमिए भिक्खू. वा भिक्खूणी वा राओ वा वियाले वा उच्चार पासवणं परिट्ठवे माणे पयलेज्ज वा पवडेज्जा वा से तत्थ पयले माणे वा, पवडेमाणे वा हत्थं वा पायं वा जाव लूसिज्जा पाणाणि वा जाव ववरोवेज्जा अह भिक्खूणं पुव्वो व दिट्ठ जाव जं पुव्वामेव पण्णस्स उच्चार पासवण भूमि पडिलेहेज्जा ॥ २२ ॥

—आचा० २ श्रु० अ० ११ उ० ३ सूत्र २२

शब्दार्थ—से० – वे, भि० – साधु साध्वी, स० – स्थिरवासी, व० – कल्पविहारी, गा० – ग्रामानुग्राम दू० – फिरते, पु० – पहिले, प० – प्रज्ञावंत को (ज्ञानी को), उ० – बड़ी नीति की, पा० –

लघुनीति की, भू० – जमीन, प० – देखे, के० – केवली, बू० – फरमाया, आ० – पापस्थान, मे० – यह, अ० – बिना देखे, उ० – बड़ी नीति, पा० – लघुनीति, भू० – जमीन को, भि० – साधु, भि० – साध्वी, रा० – रात्रिको, वि० – शामको, उ० – बड़ी नीति, पा० – लघुनीति, प० – परिठवते, प० – रपटे, प० – पड़े, से० – वे, त० – ताहाँ, प० – रपटते, प० – पड़ते, हा० – हाथ, पा० – पाँव, जा० – यावत्, लू० – घसाए, पा० – प्राणियों, जा० – यावत्, व० – विराधे, अ० – अथ, भि० – साधु को, पु० – पहिले, दि० – उपदेश किया, जा० – यावत्, ज० – जो, पु० – पहिले, प० – प्रज्ञावंत को, उ० – बड़ी नीति की, पा० – लघु नीति की, भू० – जमीन को, प० – देखे ॥

भावार्थ—एक स्थान में रहने वाले साधु को या मासकल्पविहारी या गाँव गाँव फिरनेवाले साधु को सदैव लघु नीति बड़ी नीति की भूमि का अवलोकन करना चाहिए, अन्यथा केवलज्ञानी ने दोष कहा है। रात्रि के समय या शाम को बिना देखी जमीन में जाने से अनजान में रपट जाय या गिर पड़े तो शरीर के अंगों का भंग हो और नीचे जीवों का भी घात हो; इसलिए सब जगह लघु नीति और बड़ी नीति की भूमि पहिले से ही देख लेना चाहिए।

टीका—यहाँ एक स्थान में रहने वाले साधु या गाँव गाँव में फिरने वाले साधु को व प्रज्ञावन्त को अर्थात् प्रतिज्ञावान त्यागी को लघु नीति बड़ी नीति की जगह को पहिले से ही सब कोई जगह देखने का आदेश है। दूसरे के दिखाने का यहाँ विधान नहीं है, स्वयं देखने पर ही यहाँ ज़ोर है। स्वतः ही देखने से रपटने और गिर पड़ने से पूरी तरह सुरक्षित रहा जा सकता है,

दूसरे के बताने से काम नहीं चल सकता। जयाचार्यजी ने जो स्थापना की है तथा प्रज्ञावन्त का जो अर्थ किया है वह ग़लत है। पाठकवृन्द विचारपूर्वक देखें।

उत्तर—(ख) यह भी दोष-सेवन है। गृहस्थों के साथ गाँव गाँव में जाने के लिए सूत्र में मना किया गया है लेकिन इन लोगों ने सूत्र के आदेशों, भगवान जिनेन्द्र की आज्ञाओं और साधु-धर्म के नियमो को तोड़ने की मानों क़सम खा ली है। ये लोग गृहस्थों के साथ गाँव गाँव घूमते हैं और गृहस्थों से रास्ते की सेवा का लाभ बता कर साथ रहने के लिए प्रेरित भी करते हैं। इसी प्रेरणा का—उलटे उपदेश का—यह परिणाम है कि इनके आचार्यजी के साथ ५०-६० डेरे चलते रहते हैं। विहार का प्रोग्राम पहिले ही बन जाता है और प्रकट कर दिया जाता है जिसके आधार पर गृहस्थ लोग आपस में विचार करते हैं और तय करते है कि पहिले दिन जब बड़ी सत्यांजी का विहार हो तो अमुक अमुक इतने डेरे जायँ, इतने डेरे सेवा मे रहने से आहार की अड़चन नहीं पड़ेगी, और इतने डेरे पूज्य महाराजजी की सेवा में रहेगे, अमुक गाँव तक अमुक पहुँचा देंगे, फिर अमुक ग्राम के गृहस्थ सेवा में आ जायँगे, आदि आदि। इस तरह ये गृहस्थ लोग इन लोगों के विहार का पूरा प्रबन्ध कर लेते हैं मानों किसी सरकारी अफ़सर के दौरे के लिए सरकारी नौकर इन्तज़ाम कर रहे हैं। बिल्कुल सरकारी और शाही ठाट-बाट है, यहाँ सादगी साधुत्व फ़क़ीरी आदि का नाम भी नहीं है।

कभी कोई गृहस्थ थोड़ी सेवा कर के वापिस जाता है तो ये लोग उस से पूछा करते हैं कि कितने दिन की सेवा हुई? गृहस्थ जब उत्तर देता है तो बोलते है—"बस, इतनी ही, हम तो ज्यादह दिन की सेवा समझते थे। देखो, अमुक गृहस्थ तन मन धन से कितनी सेवा कर रहा है, आदि आदि"। चातुर्मास तथा महामहोच्छव के समय और स्थान की सूचना भी ये लोग पहिले से ही दे देते हैं तथा यह भी कहते हैं कि आचार्य का चातुर्मास या महामहोच्छव है इसका खयाल रखना। इस तरह ये लोग आरम्भ बढ़ने का निमित्त बनते है और घुमा फिरा कर श्रावकों को तय्यारी करने की प्रेरणा कर देते हैं। इस तरह ये लोग तरह तरह से गृहस्थों को अधिक से अधिक रास्ते की सेवा करने के लिए प्रेरित करते है, लेकिन जब इन पर इस बारे में दोषारोपण किया जाता है तो ये बेहयाई के साथ यह कहते हैं कि हम तो गृहस्थ से संग चलने के लिए कहते नहीं, वह स्वेच्छा से जाता है, अगर हम निषेध करेगे तो वह सेवा के लाभ से वंचित होगा और हमें अन्तराय कर्म का बंध होगा, आदि आदि। इस तरह इन लोगों की लचर सफ़ाई है। ये लोग यह क्यों नहीं समझते (समझते तो होंगे) कि पाप और पुण्य का सम्बन्ध, आचार अनाचार का सम्बन्ध, भाव से है शब्द से नहीं। जब ये लोग सेवा में लाभ बताते हैं तभी इनके मनमें यह बात होती है कि यह गृहस्थ साथ चले, अन्यथा उसे सेवा का लाभ बताने का क्या प्रयोजन है? मन में यह भाव होता है पर शब्दों में उसे घुमा-फिरा कर प्रकट किया जाता

हैं। इस तरह ये लोग शब्द-जाल द्वारा भावो को, अपनी आत्मा को और भगवान को धोका देना चाहते हैं। सचमुच ये बेचारे कितने दयनीय हैं जो यह भी नहीं जानते कि वे दुनिया को भले ही कुछ समय के लिए धोके में रख लें लेकिन भगवान को और सत्य को धोका नहीं दे सकते। उनकी आत्मा में कर्मों का बन्धन उनके भावों के अनुसार ही होगा और मुँह से ये कुछ भी कहें, वह बंधन अवश्य होगा, वे इस बंधन से नहीं बच सकेंगे और इस तरह ये अपना महान् पतन और अकल्याण करेंगे।

प्राचीन घटनाएँ देखिए—

(१) राज प्रश्नो० सूत्र० प्रदे० अधी०— समय देखकर उधर विहार करुँगा ऐसा श्री० केशिकुमारजी ने फ़रमाया मगर यह नहीं बताया कि अमुक दिन अमुक गाँव के रास्ते से अमुक समय आऊँगा, आदि।

नोट—ये तेरहपंथी तो अपना सारा प्रोग्राम पूरी तरह बनाकर प्रकट कर देते हैं।

(२) भग० श० २ उ० ५ सूत्र १५—पार्श्वनाथ भगवान के शिष्य के पधारने के बाद श्रावकों को ख़बर मिली और तब उन्होंने दर्शन किए।

नोट—उस समय इन तेरहपंथियों की यह कुपद्धति चालू होती तो श्रावको को पहिले से ही पता होता।

(३) भग० श० १३ उ० ६ सूत्र ६-७—उदई राजाजी के मनोगत भावों को देखकर भगवान पधारे, पीछे राजा ने दर्शन किए।

(४) वीपा० श्रु० २ अ० १ सूत्र ३१—सुभाऊ कुमार के मनोगत भाव देख कर भगवान पधारे, इसके पश्चात् भगवान के दर्शन हुए।

(५) राज प्र० राजा० अ० सूत्र ३२—केशी स्वामी शेवया नगरी के मृगवन के उद्यान में पधारे तब वनमाली को खबर हुई।

(६) विन्ही दिश० अ० १ सूत्र ३३—निषेध कुमार के मनोगत भावों को देख कर भगवान अरष्ठनेमि पधारे, इसके पश्चात् दीक्षा ली।

नोट—उपरोक्त घटनाओं से पता चलता है कि प्राचीन काल में साधु अचानक ग्राम या नगर के किसी उद्यान में आकर ठहरते थे तब नगर वालों को पता लगता था कि अमुक साधु आये हैं, इससे पहिले उन्हें पता नहीं लगता था। तेरहपंथी देखें कि उनका पाँच-सात दिन पहिले सब प्रोग्राम प्रकट करने का व्यवहार कितना शास्त्रविरुद्ध और अनुचित है।

तेरहपंथी जब देशान्तर भ्रमण करते हैं तब पहिले से ही श्रावकों से सेवा का नियम करवा लेते हैं लेकिन यह सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है। सुयडा० श्रु० २ अ० १८ सूत्र ३७ में बताया है कि जिस दिशा मे जाय उसी दिशा में चार तरह के अप्रति-बन्धों का पालन करे, अर्थात् अल्पग्रन्थी, लुक्षाहारी, सरस आहार के त्यागी, कोई भी प्रतिबन्ध से रहित, होकर ही भ्रमण करे, लेकिन इन लोगों को इन बातों से क्या प्रयोजन ? ये तो बाक़ायदा ठाट-

वाट के साथ पूरे जलूस की शक्ल में विहार करते है और सभी तरह के प्रतिबन्ध भी रखते हैं।

सुयडा० श्रु० १ अ० ३ उ० २ सू० १५-१७ में बताया है कि देशान्तर में भ्रमण करते समय कोई संकट आए तो किसी आत्मीय या सम्बन्धी को याद न करे लेकिन तेरहपंथी तो ऐसे समय में तरीके से दूर सन्देश पहुँचा देते हैं, आत्मीय भाइयों को बुला लेते हैं, श्रावकों द्वारा लाखों रुपए भी खर्च करा लेते हैं। एक तरफ़ तो ये लोग हैं और दूसरी तरफ़ प्रातःस्मरणीय पूज्य मुनि अर्जुनमालीजी, जिन पर श्रावक राजा श्रेणिक की राजग्रही नगरी में बहुत से व्यक्तियों ने अत्याचार किया लेकिन उन्होंने कोई प्रबन्ध नहीं कराया। यदि वे चाहते तो सब कुछ करा सकते थे।

ये तेरहपंथी लोग स्वयं मोच्छव करते कराते हैं जब कि शास्त्र मे मोच्छव करना कराना तो दर किनारा, देखना तक मना है। निशी० उ० १२ में साधु-साध्वी को मोच्छव देखने की इच्छा करना दोष बताया है और उसके लिए चौमासिक प्रायश्चित बताया है।

पाठ—

से भिक्खू वा (२) गामाणुगामं दूइज्ज माणे णो अण्ण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ-अपरिहारिएण वा, सद्धिं गामाणु गामं दू इज्जज्ज ॥ ९ ॥

—आचा० श्रु० २ अ० १० उ० १ सूत्र ९

शब्दार्थ—से० – वे, भि० – भिक्षु, साधु, भि० – साध्वी, गा० – ग्रामानुग्राम, दू० – आते जाते, णो० – नही, अ० – अन्य-तीर्थी, गा० – गृहस्थो के साथ, प० – भ्रष्टाचार्यों के साथ, अ० – दोषी साधु, स० – संग, गा० – ग्रामानुग्राम, दू० – न निकले न प्रवेश करे।

भावार्थ—साधु-साध्वी को अन्यतीर्थी के साथ, गृहस्थों के साथ, भ्रष्टाचार्यों के संग यावत् गाँव गाँव आना जाना व विहार करना मना किया है।

पाठ—

जे भिक्खू अण उत्थिएण वा गारत्थिएण वा
परिहारिए ओ अपरिहारिणं सर्द्धि ग्रामाणुग्रामं
दूइज्जइ छूइज्जंतंवा साइज्जइ ॥ ४२॥
—निशी० उ० २ सूत्र ४२

शब्दार्थ—जे० – जो, भि० – साधु, अ० – अन्यतीर्थी, ग०– गृहस्थो के साथ, प० – परिहारिक, अ० – अपरिहारिक, स० – संग, ग्रा० – गाँव गाँव, दू० – विचरे, दू० विचरते को अच्छा जाने ॥४२॥

भावार्थ—जो साधु अन्यतीर्थीक गृहस्थ, परिहारिक साधु, अपरिहारिक साधु के साथ गाँव गाँव विचरे, विचारे, विचरते को अच्छा जाने तो लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

पाठ—

त तेणं में केसी कुमार समणे चित्तेसारही
एवं वांयसी अवि ताई चिता समोसरी स्सामो ॥२६॥
—राज० प्रश्नो० प्र० राजा० सूत्र २६

भावार्थ—उस समय चित सारथी से केशिकुमार कहने लगे कि समय देखकर उस तरफ़ विहार करूँगा ॥

नोट—जैसा कि पहिले भी कहा गया है, केशिकुमारजी ने यही कहा कि मैं **समय देखकर उस तरफ़** विहार करूँगा, न कि यह कि अमुक दिन अमुक समय अमुक रास्ते से वहाँ जाऊँगा। इसका कारण यही है कि वे सच्चे साधु थे। वे जानते थे कि यदि पहिले से समय मार्ग आदि का निश्चय कर लिया गया और उसकी सूचना दे दी गई तो इससे उनके निमित्त आरम्भ बढ़ेगा, उनके उद्देश्य से गृहस्थों को आहारादिक का आयोजन करना पड़ेगा, और इससे उनके साधु-धर्म के नियमों की अवहेलना होगी। लेकिन इन तेरहपंथियों को भला ऐसा विचार क्यों हो? इनमें सच्चा साधुत्व हो तभी न?

भिक्षुजी ने भी स्थानकवासियो को दृष्टान्त द्वारा बावीस सम्प्रदायवालों को आधाकर्मी स्थान में रहना दोष बताया है:—

"आधाकर्मी जायगा, थान कतिण रो नाम।
एहवा थानक भोगवै वलै कहै निरदोष ताम ॥ १ ॥
वलि कहै म्हे मुख सूं कद कह्यो, जद बोल्या भिक्खु स्वाम।
जाय जमाई सासरे, ते पिण न कहै ताम ॥ २ ॥
मुझ निमते सीरो करे, इम तो न कहे तेह।
पिण कीधो ते भोगवै, जद दुजीवार करेह ॥ ३ ॥
जो सीराना सूंस करे तो न करै दुजीवार।
त्याग नहीं तिणसुं करे, भोजन विविध प्रकार ॥ ४ ॥

ज्यूं भेषधारी रहे थानक मझे वले कहे मुख सूं ताम ।
थानक मुझ निमते करो, इमम्हे कद कह्यो आंम ॥५॥
त्यां निमते कियो भोगवै, फिर करै दुजीवार ।
त्याग करे थानक तणा, तो आरंभ टले अपार ॥ ६ ॥
वले डावंरो कद कहै, करो सगाई मोय ।
पिण सगपण किधा, पछै कुण परणीजे सोय ॥ ७ ॥
वली बहू बाजे कहनी, घर कीणरो मंडाय ।
डावडा तणोज जाणज्यो, थानक एम गिणाय ॥ ८ ॥
थानक बाजैं तहनो, माहे पिण रहै तेह ।
नं कह्यो थानक नो तिणा पिण सहु काम करेह ॥ ९ ॥

—भी० ज० र० ढाल २६ पृष्ठ ८९

टीका—उपरोक्त गाथा द्वारा भिक्षुजी ने स्थानकवासियों का यह कथन दिया है कि "हमारे लिए स्थानक बनाने के लिए गृहस्थों से हम कब कहते हैं ?" इसके उत्तर में भिक्षुजी ने कहा है कि साधु के निमित्त बनाए हुए मकान में आप रहते हैं, वह फिर दूसरी बार बनता है। अगर आप न रहें तो वह दुवारा क्यों बनाया जाय, क्यों इतना आरम्भ किया जाय ? भिक्षुजी ने लड़के का दृष्टान्त देते हुए कहा है कि लड़का कब कहता है कि मेरी शादी करो; परन्तु शादी में पाणिग्रहण कौन करता है, और वधू किसकी पत्नी कही जाती है, किस के घर में रहती है ? इसी तरह स्थानक माना जाता है, वह आपके नाम से पुकारा जाता है और आप ही अन्दर

रहते हैं। अब वर्तमान तेरहपंथी देखें कि भिक्षुजी के ऐसे कथन की कसौटी पर कसे जाने पर वे ताम्बा सिद्ध होते हैं या खोटा या खरा सोना? खरा सोना तो ये हैं नहीं बल्कि खोटा सोना भी नहीं है, सोने का कण भी इनमें नहीं है, ये तो कोरे ताम्बा हैं। असलियत और सच्चाई कुछ नहीं है, कोरी नकल है, ढोंग और मायाचारी ही है।

यहाँ एक घटना याद आती है। एक दिन मंगलचंदजी को रतनगढ़ मे ऊपर की मंज़िल में सोना था और रात्रि के समय वहाँ जाने मे उन्हें डर लगता था। वे एक गृहस्थ से बोले कि, "भाया! नाल की सेवा का लाभ उठाओ"। गृहस्थ उठा और उन्हें नाल में से ऊपर पहुँचा आया। इस तरह मंगलचन्दजी ने अपना काम बना लिया। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ से ऊपर पहुँचाने के लिए साफ़ साफ ही कहा गया। इसी तरह रास्ते की सेवा के लाभ की दुहाई देकर ये लोग अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं। रास्ते में सेवा करने-वालो का रसयुक्त बढ़िया आहार भी ग्रहण कर लेते हैं। आहार कराने के बाद गृहस्थ फिर समोर की मंज़िल को चले जाते हैं। पहिली मंज़िल के किराये के मकान का ये तेरहपंथी साधु उपयोग कर लेते हैं। दवाई सुई कैंची आदि भी गृहस्थ विधवा बाई आदि रख लेते हैं यद्यपि उन्हें इन चीज़ों की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि तेरहपंथी साधुओं के उपयोग में ये आ जाती हैं। ऐसी बहुत सी बातें हैं जिनको जमा किया जाय तो एक बड़ा पोथा बन सकता है। ये लोग प्रायः सब ही इसी तरह भावचोरी,

कपट, असत्य, मायाचारी, ढोंग, दम्भ आदि करते हैं। शायद ही इनमें कोई अच्छा आदमी, एक प्रतिशत् निकले। भिक्षुजी का कथन मानने का ये दावा करते है लेकिन आचरण उनके उपदेशों के बिल्कुल विपरीत करते हैं। हम तो इन तेरहपंथी साधु कहलाने वाले प्राणियों से यहाँ यही अपील करना चाहते हैं कि "मित्रो! यदि साधुता का तुम लोगों ने साइनबोर्ड ही लगा लिया है तो सच्चे साधु बनो और अपना आत्म-कल्याण करो। मनुष्य-योनि बहुत दुर्लभ है। सौभाग्य से तुमने इस समय मनुष्य-योनि पायी है। यदि इसे व्यर्थ गँवा दोगे, यदि इसी तरह कपट मायाचारी आदि पापो द्वारा अपनी आत्मा का हनन करते रहोगे, साधु कहला कर भी साधुधर्म को कलंकित और बदनाम करने का महापाप करते रहोगे तो फिर अनन्तकाल के लिए तिर्यंच आदि गतियों में भ्रमण करोगे। क्यो अपने सौभाग्य को दुर्भाग्य में बदल रहे हो? क्यों सुअवसर पा कर भी हाथ में आया हुआ चिंतामणि रत्न फिर सागर मे डाल रहे हो। याद रखो, इस बार तुम लोग होश में न आए और तुमने अपना सुधार नहीं किया तो इसका यही अर्थ होगा कि तुम अभव्य हो। तुम्हें यह न भूलना चाहिए कि यदि तुम भिक्षुजी के कथन को प्रामाणिक मानते हुए भी उनके कथन के विरुद्ध व्यवहार करोगे तो तुम उस व्यभिचारिणी स्त्री की तरह पतित समझे जाओगे जो अपने पति की पतिव्रता स्त्री कहलाती हुई भी अन्य पुरुषों के साथ व्यभिचार करती है। तुम भिक्षुजी के अनुयायी कहाते हुए भी उनके कथन के विरुद्ध चलते हो, धर्म की दुहाई देते हुए भी अधर्म

का सेवन करते हो, अतः तुम व्यभिचारिणी स्त्री की तरह हो। मित्रो ! पतिव्रता स्त्री की तरह पवित्र बनो। भिक्षुजी के सच्चे कथन के अनुयायी बनो। सच्चे साधु बनो।"

पाठ—

सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे।
सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्ख माणे ॥
अखिले अगिद्धे अणि एयचारि।
अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥२८॥

—सुयगा० १ श्रु० अ० ७ सूत्र २८

शब्दार्थ— स० – सर्व, स० – संग, अ० – छोड़ करके, धी०– धीर, स० – सब, दु० – दुख, ति० – सहन करता हुआ, अ० – सम्पूर्ण, अ० – अगृद्ध अ० – अप्रतिबंध, अ० – अभय, क० – करे, भि०–साधु, अ० – निर्लेप ॥

भावार्थ—साधु सब तरह की संगति से रहित, विवेक-शील, सब दुखों को सहन करने वाला, ज्ञानादि से संपूर्ण, काम-भोगो की अभिलाषा रहित, अप्रतिबंध-विहारी, सब जीवों को अभय करने वाला, विषय कषाय रहित, होवे ॥

नोट—यहाँ साधु के लिए अप्रतिबन्ध-विहारी बनने का आदेश है लेकिन ये तेरहपंथी साधु तो भाषा द्वारा अगाऊ (पहिले ही) प्रतिबन्ध करा लेते हैं।

उत्तर—(ग)—यह भी सर्वथा दोष-सेवन है। गोचरी जाते समय ये तेरहपंथी गृहस्थों को अपने साथ ले लेते हैं। कोई साधु कहता है कि अमुक श्रावक का घर मालूम नहीं, और इस.

तरह बोलकर उस श्रावक का मकान मालूम कर लेते हैं। श्रावकजी सेवा करो, आदि शब्द बोलकर गृहस्थ या गृहस्थों के साथ गृहस्थ के घर मे प्रवेश करते हैं और साथ ही उसमें से बाहर निकलते हैं। यह स्पष्टतः दोष-सेवन है। बूँदा-बाँदी में, ज़ोर की हवा में, भी गोचरी करना दोष-सेवन है। पहिले कहीं हमने बतांया भी है कि जयगणे में पानी बरसते समय में साधु दो तीन जगह ठहरे और उस जगह चौथमलजी ने लघुशंका-निवारण का निमित्त कहकर बरसात के समय ही भोजन पहुँचा दिया। इस तरह इन लोगों के दोषों का कुछ ठिकाना नहीं है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

से भिक्खू व भिक्खुणी वा गाहावइ कुलं जाव पविसित्तु कामे, णो अन्नउत्थिएण वा, गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण वा सद्धिं गाहावइ कुलं पिंडयाव पडियाए पेविसेज्जा वा णिक्खमेज्जवा॥ ७॥

—आचा० श्रु० २ अ० १० उ० १ सू० ७

शब्दार्थ—से० – वे, भि० – साधु, भि० – साध्वी, गा० – गृहस्थ के घर में, जा० यावत्, प० प्रवेश करना, का० – अभिलाषी, णो० – नहीं, अ० – अन्यतीर्थियों के संग, ग० – गृहस्थ के सग, प० – परिहारिक, अ० – पार्श्वस्थ के, स० – साथ, गा० – गृहस्थ के घर, पि० – आहार के लिए प० – प्रवेश करे, णि० – निकले॥

भावार्थ—शाक्यादि साधु ब्राह्मण शिथिलाचारी इत्यादि

गृहस्थ के संग, गृहस्थ के घर को आहार लेने के लिए साधु का प्रवेश करना व निकलना मना है।

पाठ—

जे भिक्खू अणउत्थि एणवा गारत्थिएण वा, परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धि गाहावइ कुलं पिंडवाय पडियाए अणुपविसइ वा णिक्खमइ वा, अणुपवि संतं वा णिक्खमंतं वा साइज्जई ॥ ४० ॥

—निशी० उ० २ सूत्र ४०

भावार्थ—जो साधु अन्यतीर्थी के साथ गृहस्थ श्रावकादिक के साथ, परिहारिक दोषी साधु के साथ, अपरिहारिक मूलगुण में दोषी पार्श्वस्थ आदि के साथ, गृहस्थ के घर में आहार पानी आदि के लिए प्रवेश करे, निकले, प्रवेश करते और निकलते को अच्छा जाने, (तो उसे लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।)

पाठ—

इंगालं छारिय रासीं तुसरासिं च गोमयं।
ससरक्खे हीं पाएहीं संजओ तं नइक्कमे ॥ ७ ॥
न चरेज्जवासे वासन्ते, महियाएव पडन्तिए।
माहा वाए व वायन्ते, तिरिच्छ संपाई मेसुवा ॥ ८ ॥

—दशवै० अ० ५ उ० १ सूत्र ७-८

शब्दार्थ—इ० — कोयले की राशि, छा० — राख का, रा० — ढेर, तु० — फोतरे का ढेर, च० — फिर, गो० — गोबर, स० — सचित्त पृथ्वी लिपी हुई, पा० — पग से करके, म० — साधु, तं० — उस ढेर के ऊपर से, न० — नही, अ० — जावे नही ।। ७ ।।

न० — नही, च० — चले, वा० — बरसात में, वा० — बरसते (कदाचित भिक्षा को जाते समय बरसात आजाय तो ढके हुए स्थान में रहे), म० — धुअर (कुहरा), व० — फिर, प० — पडती है, (तब बाहर न जाय), म० — बड़ा, वा० — हवा, व० — फिर, वा० — चलती हो, ति० — तिरछा, स० — प्राणी पतग आदि उडते हो, वा० — नहीं जाए (हवा चलते समय या पतगो के उड़ते समय, क्योकि इससे जीवो को व्याकुलता होती है उनका घात भी होता है ।। ८ ।।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार का संयति (संयमी) अंगार (कोयला) की राशि, क्षार राशि, तुषराशि, और गोमय (गोबर) राशि पर सचित्त रज से भरें हुए पावों से नहीं जाए ।। ७ ।।

वर्षा होती हो, धूवर पड़ती हो, वायु तेज चलती हो, बहुत धूल उड़ती हो, मक्खी मच्छर पतंगे वगैरह बहुत उड़ते हों, ऐसे मार्ग में संयति (संयमी) गोचरी के लिए गमनागमन न करे ।। ८ ।।

आचा० श्रु० २ अ० १० उ० ३ सूत्र ९ में भी गोचरी स्वाध्याय ग्रामानुग्राम विहार आदि करना भी ऐसे समय में मना है ।

भिक्षुजी का कथन भी देखिए—

"घणा साधुने साध्वि श्रावक श्राविका लार ।
उलटा पडि जिनधर्म थी पडसी नर्क मझार ।। ६ ।।
महानिशिथ में, मै सुणी गुणविणधारी भेष ।
लाखां क्रोडा गमे सांवठा, नरक पडंता देख ।। ७ ।।

तेरहपंथी देखें कि वे कितने गहरे पानी मे हैं। भिक्षुजी के कथन के विरुद्ध आचरण करके वे अपनी आत्मा का भी हनन करते हैं और धर्म और तीर्थ को भी बदनाम करते हैं। क्या वे अपनी इस भूल को समझ कर, झूठी मर्यादा त्याग कर, लोग क्या कहेंगे इसका ख़याल न करके, अपने साधु नाम को सार्थक करेंगे और अपने आत्म-कल्याण के साथ-साथ संसार का कल्याण भी करेंगे ?

अध्याय : १७

प्रतिलेखना

श्न—यह तेरहपंथी जीतव्यवहार की दुहाई देकर सूर्योदय से पहिले ही प्रतिलेखना करते हैं, कई शाम के समय भी करते हैं और कोई कोई तो (जैसे शुकलालजी आदि) बहुतेक वन्दना के समय, घाई से कुछ देखा कुछ न देखा, ऐसी प्रतिलेखना करते हैं। यह दोष-सेवन है या नहीं?

उत्तर—यह सर्वथा दोष-सेवन है।

प्रमाण देखिए:—

(१) उत्त० अ० २६ सूत्र २५ में प्रशस्त व अप्रशस्त प्रतिलेखना बताई गई है। प्रमाद प्रतिलेखना करने वाले को षटकाय का हिंसक बताया है।

(२) निशीथ० उ० २ सूत्र ५९ + में यह कहा गया है

+ "जे भिक्खू इतरियंपि उवहिण पडिलेहई ण पडिले हंतं वा साईज्जइ" ॥ ५९ ॥

कि जो उपद्धी है उसमें, से किंचित मात्र भी विना प्रतिलेखना के रखे, रखते को अच्छा जाने तो लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

(२) भगवती० श० १ उ० १ * की टीका में यह कथन है कि प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करने वाला छहकाय का घातक है।

और भी देखिए:—

पाठ—

पुव्वि लंमि चउब्भाए, पडिलेहित्ताण भण्डयं ॥

—उत्तरा० अ० २६ सूत्र २१

शब्दार्थः—पु० – दिन के पहिले पहर का, च० – पहिले चौथे भागकी पहिली घड़ी में, प० – प्रतिलेखना, भ० – वस्त्रादि उपकरणो की करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—दिन के प्रथम पहर के प्रथम चौथे भाग में (सूर्योदय से दो घड़ी तक) वस्त्रादि उपकरणो की प्रतिलेखना करे फिर गुरु महाराज को वंदना नमस्कार करे, स्वाध्याय करे ।

नोट—जब सूत्र प्रमाण के अनुसार सूर्योदय के बाद दो घड़ी में प्रतिलेखना करने का विधान है तब जीतव्यवहार की दुहाई दे कर विरुद्ध आचरण करना सर्वथा धर्मविरुद्ध और पाप है । यह पहिले हम काफ़ी स्पष्ट कर चुके हैं कि आगम-प्रमाण के होते हुए जीतव्यवहार को कोई स्थान नहीं है । लेकिन इन लोगों ने तो यह इरादा कर लिया मालूम होता है कि सूत्रों की दुहाई देते रहो, जिनेन्द्र भगवान के गीत गाते रहो, पर करो

---

* "पडिलेहण पमतो छण्हं विराहणा होई ॥ १ ॥

अपने मन की। ऐसे दुराग्रही लोगों से क्या कहा जाय, कुछ समझ में नहीं आता।

पाठ—

> **पडिले हणा पमाए, छव्विहा पमाय पडिलेहा प. तं. आरभडा सम्मद्दा, वज्जेयव्वाय मोसलीतइया, पप्फोडणी चउत्थी विक्खित्ता वइया छट्ठा॥**

—ठा० ठा० ६ उ० १ सूत्र ६

शब्दार्थ—प०–प्रत्युपेक्षणा, छ० – छः प्रकार की, प० – प्रमाद प्रतिलेखना, आ० – आरभट, स० – समर्दना, व० – वर्जना, मो० – मोसली, प० – पप्फोट, वि० – व्याक्षिप्त, व० – वेदिक॥

भावार्थ—छः प्रकार की प्रमाद प्रतिलेखना कही है। (१) **आरभट** [जल्दी जल्दी] (२) **समर्दन** [परस्पर वस्त्रादि लगाते हुए] (३) **मोसली** [तिरछा या मुड़ा हुआ वस्त्र रखे] (४) **प्रस्फोटिनी** [जोर से वस्त्र झटकाए] (५) **व्याक्षिप्त** [वस्त्र ऊँचा नीचा डाले] (६) **वेदिका** [घुटने पर हाथ रख कर वस्त्रादि की प्रतिलेखना करे]।

नोट—इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ तक प्रतिलेखना के विषय का सम्बन्ध है, उसके समय और ढंग का सम्बन्ध है वहाँ भी इन तेरहपंथियों का व्यवहार पूर्णतः आगम-विरुद्ध, सूत्र-

विरुद्ध धर्म-विरुद्ध अथवा जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा के प्रतिकूल है। रहीं प्रतिलेखना के भावों की बात, सो इसका तो इन बेचारों से कोई सम्बन्ध ही नहीं, क्योंकि ऐसे दंभी लोलुपी लम्पटी लोगो के भाव भला इतने शुद्ध और उच्च कहाँ जो वे सच्चे अर्थो में प्रतिलेखना कर सकें। ये लोग तो रिवाज के तौर पर ही कुछ कर करा लेते हैं, असलियत और सच्चाई का नाम भी नहीं है। देखिए, कब इन्हें सुबुद्धि प्राप्त होती है ? कब इनका उद्धार होता है ?

अध्याय : १८

शिक्षण

— आदि —

प्रश्न—(क) तेरहपंथी गृहस्थों से शिक्षण ग्रहण करते हैं और छोटी उम्र वाले साधुओं को भी शास्त्र सिखाते हैं। यह दोष-पात्र है या नहीं ?

(ख) कई तेरहपंथी साधु उपकरण को मोड़तोड़ कर परठा देते है? यह दोष-सेवन है या नहीं?

(ग) ये तेरहपंथी लोग पतली फली का शोभायमान सुन्दर रजोहरण रखते हैं। यह दोष-सेवन है या नहीं ?

उत्तर—(क) यह सर्वथा दोष-सेवन है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

जे भिक्खू अण्ण उत्थियं वा गारित्थंय वा वायणं पडिच्छंति, पडिच्छंतं वा साइज्जई ॥ २८ ॥

—निशी० उ० १९ सूत्र २८.

भावार्थ—जो साधु अन्यतीर्थीक गृहस्थ के पास पढे, पढ़ते को अच्छा जाने (तो उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है) ।

पाठ—

जे भिक्खू अवत्तं वाएत्ति वायंतंवा साइज्जई ॥ २१ ॥

—निशी० उ० १९ सूत्र २१

भावार्थ—जो साधु अव्यक्त छोटी उमर वाले को, जिसके कांक्षा होंटपर रोम (वाल) प्रगट नहीं हुए हो, शास्त्रार्थ पढ़ाए, पढ़ाते को अच्छा जाने, (तो उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया गया है) ।

नोट—तेरहपंथी गृहस्थों से शिक्षण भी ग्रहण करते हैं और छोटी उमर वाले साधुओं को शास्त्र भी पढ़ाते है । इन लोगों को घनश्यामरामजी ने कई वर्ष तक पढ़ाया है और रघुनन्दनजी ने भी पढ़ाया है । बच्चों को भी पढ़ाना छिपा हुआ नहीं है । ये सब खुली बातें हैं जिन्हें सब जानते हैं । देखिए, ये लोग खुल्लम-खुल्ला शास्त्र की दुहाई देते हुए भी शास्त्र के खिलाफ़ आचरण करते हैं और इस तरह जिनवाणी पर दिन-दहाड़े डाका डालते हैं ।

(ख) यह भी दोष-सेवन है ।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

जे भिक्खू दंडगं जाव वेणु सुयणं वा पलिभिंदियं २ परिहावेई, परिहावेतं वा साइज्जइ ॥ ६७ ॥

—नि० उ० ५ सूत्र ६७

भावार्थ—बाँस की खपाटी (काम्भी) पूर्ण होते हुए तोड़मोड़कर परठाए, परठाते को अच्छा जाने तो लघुमासिक प्रायश्चित का विधान है।

नोट—तेरहपंथी बाँस की उन खपाटियों को जो उनको पसन्द नहीं आती हैं अथवा जो उनके मन से उतर जाती हैं, तोड़मोड़ कर चौकी में डाल देते हैं। यह काम शास्त्र-विरुद्ध है जैसा कि ऊपर के पाठ से विदित ही है।

(ग) यह भी दोष-सेवन है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

जे भिक्खू सुहूमाइं रयहरणं सीसाइं करेइ, करंतं वा साईज्जइ ॥ ६९ ॥

—निशी० उ० ५ सूत्र ६९

भावार्थ—जो साधु साध्वी बहुत सूक्ष्म पतली फलियों का रजोहरण बनाए, बनाते को अच्छा जाने, तो उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है।

इस तरह हम देखते हैं कि जहाँ तक शिक्षण रजोहरण आदि का प्रश्न है, इन तेरहपंथी लोगों का आचरण स्वेच्छा-चारिता से भरा हुआ है। बड़ी बड़ी बातों में ही नहीं, छोटी छोटी बातों में भी इनका व्यवहार पूर्णतः दोषपूर्ण और साधुत्व के विरुद्ध है।

अध्याय : १९

जुवों की पोटली

प्रश्न—जुवों की पोटली बंद करके फेंक देना दोष-सेवन है या नहीं ?

उत्तर—है।

नोट—एक बार तेरहपंथी आचार्यजी बिदासर गए। वहाँ एक दिन चौथमल (दूसरे) चौकीदार को जुवों की बँधी हुई पोटली मिली। वहाँ के इन सब महाव्रतधारियों (?) से पूछा गया कि यह पोटली किसने बाँधी और फेंकी है ? किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। दूसरे दिन मंगलचन्दजी के नांव के कपड़े के टुकड़े में १०-१५ बँधी हुई जुएँ मिलीं। फिर सब से पूछताछ की गई, पर किसी ने स्वीकार नहीं किया। इस पर चौकीदार चौथमल ने आचार्यजी से यह सब निवेदन कर दिया। फिर सब से पूछा पर तब भी किसी ने स्वीकार नहीं किया। पूनमचन्दजी ने लाडनूँ में आचार्यजी से इस बारे में पूछा था, जिसके उत्तर में कहा गया था कि जब किसी ने स्वीकार नहीं किया तब किसी को कैसे दंड दिया जाय ? किसी को दंड दिया जाय या नहीं,

हमें इस से कोई प्रयोजन नहीं, पर हमें तो सिर्फ़ यह पूछना है कि क्या इस शास्त्र-विरुद्ध व्यवहार से और फिर उसकी चोरी से और इस के साथ ही उस चोरी को छिपाने के लिए बार-बार झूठ बोलने से महाव्रत रहता है या नहीं ? कौन मूर्ख ऐसा होगा जहाँ ऐसी हरकतों के होते हुए भी वहाँ साधुत्व की, सात्विकता की, कल्पना भी कर सकेगा ?

प्रमाण देखिए—

पाठ—

तस पाणे वितारोत्ता संगहेणय थावरे।
जो न हिंसई तिविहेणं, तं वयं बूम महाणं ॥२३॥
—उत्त० अ० २५ सूत्र २३ ॥

शब्दार्थ—त० – त्रस, पा० – जीव को, वि० विशेष, या० – जानकर, स० – संक्षिप्त से, अ० – फिर, था० – स्थावर पृथ्वी आदि पाँच जीवों को, जो० – वह, न० – नहीं, हिं० – हिंसा करे, ति० – मन वचन काय पूर्वक ९ कोटि से, त० – उसको, व० – हम कहते है, बू० – कहना, म० – साधु ॥

भावार्थ—जो बेंद्रियादिक आदि त्रस प्राणी को और पृथ्वी आदि स्थावर प्राणी को संक्षिप्त से तथा विस्तार से जान कर मन-वचन-काय-पूर्वक उसका घात नहीं करे; नहीं कराए, और करते को अच्छा नहीं जाने, उसको मैं महाण कहता हूँ।

पाठ—

जे भिक्खू पुढविकायस्स कलमायमवि सभारंभइ सभारंभंतं वा साइज्जइ ॥८॥ एवं जाव्ह वणस्सइ कायस्स ॥१२॥
—निशी० उ० १२ सूत्र ८, १२ ॥

भावार्थ—जो साधु पृथ्वीकाय की रत्तीभर भी विराधना करे, करते को अच्छा जाने, वैसे ही वनस्पतिकाय तक की विराधना करे, करते को अच्छा जाने, अर्थात् पाँचों स्थावर की किंचित मात्र विराधना करे, करते को अच्छा जाने, तो उसे लघु-मासिक प्रायश्चित बताया है।

नोट—जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि 'अहिंसा परमोधर्मः'। आगमसूत्र भी अहिंसा पर अत्यधिक जोर देते हैं। वास्तव में अहिंसा जैनधर्म का प्राण है। लेकिन ये तेरहपंथी लोग इस महाव्रतों के महाव्रत की भी बुरी तरह हत्या करते हैं। जुवों की पोटली बाँध कर फेंकने से वे जुवों की हिंसा करते है और इस तरह ये लोग संकल्पी हिंसा के भागी हैं। इस तरह इन लोगों में अहिंसा महाव्रत क्या, अहिंसा अणुव्रत भी नहीं है। विचार-शील पाठक विचार करें कि इन में साधुत्व कितना है?

अध्याय : २०

चोरी

किसी की चीज़ को चुपचाप ले भागना ही चोरी नहीं है, किसी भी चीज़ को, चाहे वह अपनी हो या दूसरे की, चुपचाप डाल देना और फिर उसे स्वीकार न करना भी चोरी है। तेरहपंथी ऐसी ही चोरी करते हैं। सुबह और शाम के समय ये लोग अपने उन उपकरणों को जो उन्हें पसन्द नहीं आते हैं, चौकी में डाल देते हैं। चौकीदार जब उन उपकरणों के सम्बन्ध में पूछताछ करता है तो सब अस्वीकार कर देते हैं; कोई कोई कभी कभी क़बूल भी कर लेते हैं। आर्जिकाओं में भी ऐसा होता है। उन चीज़ों में पटरी, परदा, चद्दर, पछेवड़ी, नांगडे, काम्बी, पेन्सिल, क़लम आदि अनेक चीज़ें काफ़ी होती हैं। पुणजणी रजोहरण आदि नापसन्द होने पर पत्थर आदि पर जानबूझ कर घिस घिस कर ख़राब कर देते है, फिर पठते हैं। इस तरह इन लोगों

में ऐसी चोरी भी खूब होती है। यह साधु-धर्म के सर्वथा विरुद्ध है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

चित्तमन्तं मचित्त वा अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हिइ अदत्तं जे तं वयं बूम माहणं ॥२५॥

—उत्त० अ० २५ सूत्र २५

शब्दार्थ—चि० – सचित्त मनुष्यादिक, अ० – अचित्त स्वर्ण आदिक, वा० – अथवा, अ० – कम, ज० – जैसा, वा० – अथवा, ब०– बहुत, न० – नही, गि० – लेवे, अ० – विना दिया हुआ, जे० – कोई, त० – उनको, व० – मै, बू० – कहिए, मा० – साधु ॥

भावार्थ—जो सचित्त अचित्त वस्त्र पात्रादि की मन वचन काय से थोड़ी या बहुत कितनी भी चोरी न करे उनको मैं महाण कहता हूँ ॥

पाठ—

जे भिक्खू ममायं पसंसई पससंत वा साइज्जई ॥५७॥

—निशीथ उ० १३

भावार्थ—जो साधु ममत्व की वंदना करे, करते को अच्छा जाने, तो उसे लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है ॥

पांठ—

जई वियणि गणे किसे चरे। जइ विय भुंजिय
मासंमतसो। जे इह मायावी भिज्जइ।
आगं सागब्भायणं तसो ॥९॥

—सुय० प्र० श्रु० अ० २ उ० १ सूत्र ९

शब्दार्थ—ज० – यद्यपि, णि० – नग्न, कि० – कृश, च० – विचरे, ज० – यद्यपि, भु० – भोगे, मा० – मास मास खमणके अन्त में, जे० – जो, इ० – यहाँ, मा० – कपट, मि० – मूच्छित, आ० – आगे, ग० – गर्भ में, अ० – अनन्त समय ॥

भावार्थ—बाह्य परिग्रह त्यागी कृशं मास मास खमण का तप करनेवाला साधु भी जो माया कपट का सेवन करे तो वह आगामी अनन्त काल तक गर्भादिक के दुख भोगता है ॥

नोट—इस तरह हम देखते हैं कि तेरहपंथियों में चोरी भी होती है और ऊपर से झूठ भी बोला जाता है। ये लोग "चोरी और सीनाज़ोरी" की कहावत को अच्छी तरह चरितार्थ करते हैं। भला यहाँ साधुत्व सरीखी महान् और पवित्र चीज़ का निवास हो सकता है? नहीं, कदापि नहीं।

अध्याय : २१

पत्र-व्यवहार
— आदि —

प्रश्न—तेरहपंथी साधु कहते हैं कि हम चिट्ठी वगैरह नहीं देते। क्या यह सच है?

उत्तर—नहीं, उनका यह कथन मिथ्या है। दूसरों को ये पत्रव्यवहार करने का दोषारोपण करके उन्हें शिथिलाचारी कहते हैं और इसतरह ये अनजान में ही अपने को शिथिलाचारी स्वीकार कर लेते हैं क्योंकि ये लोग पत्र-व्यवहारादि करते हैं।

नोट—इन लोगों में जो मुख्य पुढारी होता है वह चिट्ठी का काम कपटपूर्ण भाषा द्वारा श्रावकों से करा लेता है। वह कैसे? वह श्रावक से पूछता है कि पूज्य महाराज विराजते हैं, वहाँ के श्रावकों का काग़ज़ (पत्र) समाचार है क्या? तुम पत्र दोगे क्या? दोगे तो क्या लिखोगे? तब वह श्रावक चिट्ठी लिखकर उनको बताता है। यदि वह चिट्ठी उनके दिल के मुताबिक़ नहीं होती है तो बोलते हैं कि भाया में उपयोग नहीं है। अमुक जगह थली का भाया बड़ा उपयोगवंत है। यहाँ के भाये तो कुछ समझते नहीं। इस पर वह दूसरी चिट्ठी

लिखता है। वह चिट्ठी श्रावक ही आचार्यजी को बताते हैं। उस चिट्ठी पर यदि आचार्यजी का चातुर्मास का या अन्य काल के विचरणे का हुक्म न हुआ तो फिर वहाँ के श्रावकों से कहते हैं कि हुजूर का अभी तक हुक्म नहीं हुआ, तार दोगे क्या? तार देने से हुक्म होता दिखता है। बस, श्रावक ऐसा ही करता है। जब आचार्य विराजते हैं, वहाँ तार दे दिया जाता है। वहाँ के श्रावको के नाम का तार आचार्यजी को बताया जाता है तब आचार्यजी हुक्म देते हैं कि अमुक जगह चातुर्मास करो। इसके पश्चात् श्रावक देशान्तर को तार देते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि ये लोग चिट्ठी पत्र दिलाते हैं। चिट्ठी देने और दिलाने में कोई अन्तर नहीं है। श्रावक साधु के निमित्त साधु की अजानकारी में चिट्ठी दे तो साधु का कोई अपराध नहीं है, साधु की जानकारी मे दे तो साधु का अपराध है और अगर साधु ही गृहस्थ से चिट्ठी दिलाए तब तो यह भीषण अपराध है, आगम की आज्ञा के विरुद्ध खुला आचरण है।

मैं इन लोगों के कपट जाल से निकल कर जब बाहर आया तो पुरेसीट में तेरहपंथी आचार्यजी ने श्रावक द्वारा ५-६ पृष्ठ में काग़ज़ पर मेरे ख़िलाफ़ एक लेख लिखाया जिसमें मुझ पर झूठे और कल्पित दोषों का आरोप किया गया था। वह लेख लिखा कर पांढरकवडा भेजा गया। इस तरह ये लोग चिट्ठी लिखने, तार देने, किसी के ख़िलाफ़ लेख लिखने आदि के सब काम गृहस्थों द्वारा करा लेते हैं और पाप के भागी बनते हैं। अगर श्रावक चिट्ठी आदि लिखने में कोई ग़लती करता है तो

उससे कहते हैं कि, देखो भाया हमारा हुक्म इस रीति से है। इस तरह की सूचना दे कर ये लोग पत्र या चिट्ठी में संशोधन परिवर्तन आदि भी करा लेते है। तात्पर्य यह है कि पत्रव्यवहार सम्बन्धी पूरा काम ये लोग करा लेते हैं। विचारशील पाठक देखें कि उनका यह आचरण आगम के बिल्कुल विरुद्ध होने से इनमें कितना साधुत्व है। साधुत्व तो क्या इन लोगों में जैनत्व भी नहीं है। जहाँ कपट भाव चोरी मायाचारी असत्यवादन आदि बुरी बातें हों वहाँ जैनत्व सरीखी पवित्र चीज का मिलना मुश्किल ही नहीं असंभव है।

भिक्षुजी का कथन देखिए—

पाठ—

गृहस्थ साथे कहे संदेशो तो भेलो हुव सम्भोगजी।
तिणने साधु किम सरधीजे लोगो जोगने रोगोजी ॥२७॥
साधु मती जाणे इण चलगत सुं।
समाचार चिवरा सुत कही २ सानी करे गृहस्थ बोलायोजी॥

—शिक्षु० भा० २ ढाल १ आ०

कागद लिखावे करी आमना परहात देवे चलायोजी ॥२९॥

—साधुमत

नोट—यहाँ भिक्षुजी ने संकेत द्वारा काम कराने वाले साधु को रोगी (अपराधी) कहा है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

अप्पगे पलियंतोसिं । चारो चोरोति सुव्वयं ॥
बाधंति भिक्खुयं बाला । कसायवयणे हिय ॥१५॥
तत्थ दंडेण संवीते । मुट्ठिणा अदु फलेण वा ॥
नातीणं सरति बाले । इत्थी वा कुद्धगामिणी ॥१६॥
एते भो कसिणा फासा । फरुसा दुस्साहिया सया ॥
हत्थी वा सरसंवित्ता । कीवा वासागया
गिहंति वेमी ॥१७॥

—सुयडा० प्र० श्रु० अ० ३ उ० २ सू० १५, १६, १७

शब्दार्थ—अ० – कितनेक, प० – विचरते है, चा० – चौकसी, चो० – चोर, सु० – सुव्रती, ब० – बाँधते है, भि० – साधु को, बा०– अज्ञानी, क० – कषाय वचन से, ॥ १५ ॥

त० – तहाँ, दं० – डडे से, सं० – मारे, मु० – मुष्टि से, अ० – अथवा, फ० – फलसे, ना० – ज्ञाती को, स० – याद करता है, बा०– मूर्ख, इ० – स्त्री, कु० – कुपित हुई ॥ १६ ॥

ए० – इतने, भो० – आहो, क० – सपूर्ण, फा० – स्पर्श, फ०- कठिन, दु० – दुस्सह, स० – सदा, ह० – हस्ती जैसे, स० – शर से, स० – बिधाया, की० – क्लिब, अ० – परवश, ग०—आये, गि० - घर, त्ति० – ऐसा, वे० - कहता हूँ ॥ १७ ॥

भावार्थ—देश देशान्तर में विचरने वाले साधु को कोई अनार्य पुरुष, यह चौकसी है यह चोर है ऐसा कहकर, रस्सी प्रमुख से बाँधे और कषाययुक्त वचनों का प्रयोग करे, डंडे से मुष्टि से तथा खड्ग आदि से मारे तो उस समय वह ज्ञानी ऐसा चिंतवन न

करे कि मेरे स्वजन सम्बन्धी यहाँ पर होते तो मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, ठीक जैसे कि कोई क्रुद्ध स्त्री अपने घरसे निकल कर अन्य स्थान को जाती हो और मार्ग में चोर उसे लूटले तब वह सम्बन्धियों को याद कर लेती है अथवा जैसे बाल परिषह उत्पन्न होनेपर अपने स्वजनों को याद कर लेते हैं (१५-१६) जैसे शस्त्र से बिंधाया हुआ हाथी संग्राम में से भाग जाता है, वैसा ही हे शिष्यो! सब लोग दुस्सह स्पर्श को नहीं सह सकते। कर्म-बन्धन में पड़े हुए असमर्थ साधु संयम से भ्रष्ट होते है (१७)।

नोटः—यहाँ स्पष्ट हो गया है कि रास्ते में गृहस्थों को संग नहीं रखना चाहिए, अकेले भ्रमण करना चाहिए और यदि रास्ते में कष्ट आदि आए तो उसे शान्ति से सहन करना चाहिए, स्वजनों मित्रों भक्तों आदि का स्मरण करके दुख का अनुभव न करना चाहिए। लेकिन ये तेरहपंथी लोग तो रास्ते की सेवा का लाभ बताकर गृहस्थों को साथ में रखते हैं, दूसरी जगह के गृहस्थो को गृहस्थों द्वारा चिट्ठी पत्र अथवा तार द्वारा सूचना भी भिजवा देते हैं। उनका यह व्यवहार पूर्णतः शास्त्र-विरुद्ध है।

और भी देखिए—

(१) आचा० श्रु० २ अ० १२ उ० ३ सूत्र १४ में बताया है कि यदि कोई आफ़त आ जाय तो मन ही मन में भी दूसरे से नहीं कहना चाहिए (अर्थात् दूसरे की याद भी नहीं करना चाहिए)।

(२) अंत० वर्ग ६ अ० ३ सूत्र ४७ में कहा है कि अर्जुनमाली मुनि पर राजगृह नगरी में मुष्टि लकड़ी आदि से प्रहार हुए तो भी श्रेणिक राजा को जो कि श्रावक था सूचना देकर अथवा अन्य प्रकार उन्होंने कोई बन्दोबस्त नहीं कराया (इस घटना का उल्लेख पहिले भी किया जा चुका है) ।

(३) ठा० ठा० ४ उ० २ सूत्र २१ में बताया है कि साधु परिषह से हटे तो कुन्डरिक की तरह तिर्यंच नरक गति में जायगा ।

इस तरह हम देखते है कि प्राचीन काल में साधुगण अकेले ही विहार करते थे और उनपर कोई संकट आता था तो उसकी सूचना भी नहीं देते थे क्योंकि वे अपने निमित्त से किसी तरह का आरम्भ आदि होने देना नहीं चाहते थे । यदि अर्जुन-माली मुनि के साथ भी आजकल के तेरहपंथियों की तरह श्रावकों का झुंड होता तो भला वे उन पर कैसे मार लगते देते तथा वे आततायियों को सजा क्यों न देते, लेकिन नहीं, वे तो सच्चे साधु थे, उन्हें श्रावकों के झुंड से क्या प्रयोजन, अथवा किसी को अपने कष्ट की पत्र या दूत द्वारा सूचना देनें की क्या आवश्यकता ? सच तो यह है कि इन तेरहपंथियों के शाही कारोबार हैं, इनका साधु-धर्म से क्या सम्बन्ध ?

अध्याय : २२

किवाड़ खोलना, बन्द करना

प्रश्न—तेरहपंथी रजोहरण की डाँडी से किवाड़ खोलते और बन्द करते हैं। क्या यह ठीक है?

उत्तर—नहीं, यह सर्वथा दोष-सेवन है। चूल की किवाड़ों को खोलते, बन्द करते समय चूल के अन्दर के मकड़ी आदि जीवों की हत्या होने की बहुत संभावना है; इसलिए यह खोलना और बन्द करना पाप है।

नोट—दरवाजे को सूचक भाषा द्वारा श्रावकों से बन्द कराया व खुलाया जाता है। उसकी तरकीब सीधी है। जहाँ ठहरना होता है वहाँ यदि किसी समय दरवाजा बन्द होने से हवा बन्द होती है या हवा बहुत कम चलती होती है और दरवाजे बन्द या कम खुले होते है तो ये तेरहपंथी लोग ऐसा बोल दिया करते हैं कि—अहो, यहाँ तो हवा नहीं है। बस, श्रावक समझ जाते है और किवाड़ खोल देते हैं, हवा आने लगती है और ये लोग उसका सेवन कर लेते हैं। कभी हवा ज्यादह तेज चलती होती है और किवाड़ खुले होते हैं तो ये

लोग यह कह दिया करते हैं कि आज तो बहुत ठंड है। बस, श्रावक किवाड़ बन्द कर देते हैं। मेरी प्रत्यक्ष देखी हुई एक घटना है। राजलदेशर में जहाँ इनके आचार्य व्याख्यान के लिए बैठते थे उधर की तरफ़ की ऊपर की मंजिल पर एक दरवाजा लगा था। उसमें साँकल न होने से डोरी बँधी हुई थी। हवा का आवागमन नहीं था और कुछ अन्धेरा भी था। वहाँ समय पर कोई गृहस्थ भी उपस्थित नहीं था। कुनणमलजी के भाई चौथमलजी वहाँ पधारे, बोले—यहाँ तो अँधेरा है, हवा भी नहीं है। ऐसा कह कर उन्होंने किवाड़ की डोरी खोल दी। हवा के दवाव से किवाड़ खुल गए, फिर पत्थर लगा दिए। पता नहीं शाम को वे कैसे बन्द हो गए। दूसरे दिन भी चौथ-मलजी ने ऐसा ही किया। इस तरह ये लोग किवाड़ खोलते और बन्द करते हैं और गृहस्थों से तो खुलवाते और बन्द कराते ही हैं। गृहस्थ से कह कर काम कराना इसे ही कहते हैं। ये लोग सफ़ाई में कहेगे कि हम किवाड़ बन्द करने या खोलने के लिए थोड़े ही कहते हैं। मैं उत्तर में कहूँगा कि आप लोग कहते हैं, हाँ यह बात ज़रूर है कि आपका कहना सीधे-साधे ढंग का नहीं, वल्कि एक ऐसे टेढ़े ढंग का है जो कपटी मायाचारी व्यक्ति ही धारण कर सकते हैं। मतलब इससे नहीं है कि आपने अपने मुखारविन्द से क्या स्वर या व्यंजन निकाले, किस भाषा का प्रयोग किया, क्या शब्द निकाले, मतलब इस बात से है कि आपने क्या भाव प्रकट किया, अपने मन की कौन सी बात दूसरे के मन तक पहुँचाई। बस यहीं पुण्य और

पाप की बात है। स्वर व्यंजन भाषा और शब्दों मे न पुण्य है न पाप, पुण्य और पाप तो भावों में है, और जहाँ तक सद्भावों का सम्बन्ध है वहाँ तक वे बेचारे दिवालिया ही हैं।

भिक्षुजी का कथन देखिए—

मन करीने जो जडना वांछे। तिण नही जाणी पर पींडाजी। पेति-समां उत्तराध्येन में, वरज गया माहा विरोजी ॥ १६ ॥

—शीशु० भा०

भाड़े का मकान

तेरहपंथियों का आचरण भिक्षुजी के उपरोक्त कथन के सर्वथा विरुद्ध है। इसी तरह का दोपयुक्त आचरण ये लोग भाड़े के मकान में रहने का करते हैं। खिवराजजी कुचेऱ्या [धूलिया वाले] कहते थे कि कुरला में जिस मकान के तीन दिन के तीस रुपए मगनभाई जेवरी ने दिए उस मकान में सूरजमलजी रहे और बुलाराम वाले मिश्रीलालजी सुराणा कहते थे कि घासीरामजी का जब बुलाराम में चौमासा किया था तब वे ऐसे मकान में रहे थे जिसके भाड़े की बाबत उन्हे मालूम था। उन्हें मालूम न होता तो वे दोप-पात्र न होते, गृहस्थ ही दोषी होते, लेकिन जब साधु को मालूम हो कि वह जिस मकान में रह रहा है उसके लिए किराया दिया जायगा या दिया जा रहा है तो गृहस्थ के साथ-साथ साधु भी दोषी है, बल्कि साधु गृहस्थ से भी ज्यादह दोषी है। (जब इनके आचार्यजी का विहार छोटे खेड़ों में

होता है तब सेवा में रहने वाले गृहस्थ जाटों से मकान भाड़े पर ले लेते हैं और दो दिन के लिए उसका ठहराव करते है और आप तो पहिले ही दिन दूसरी मंजिल को चले जाते हैं जब कि रात के समय ये साधु लोग ही उस मकान में रहते हैं। दूसरे दिन का ठहराव तो केवल इसीलिए करते हैं, क्योंकि साधुओं को अगले दिन वहाँ रहना है। उन्हीं के निमित्त से मकान दूसरे दिन के लिए भी लिया जाता है, अन्यथा एक ही दिन के लिए लिया जाता।

इस तरह इन तेरहपंथियों की हरकते बहुत ही भद्दी है। हवादार जगह को बिना हवा की करना, बिना हवा या कम हवा की जगह को हवादार करना, (दरवाजे आदि बन्द करके अथवा खोल कर, या बन्द करा कर व खुलवा कर), साफ़ सफ़ाई करे हुए मकान को व्यवहार में लाना, ऐसी बहुतसी क्रियाएँ जो ये लोग रोज़ करते हैं, पूर्णतः आगम सूत्र तथा भगवान जिनेन्द्र की आज्ञाओं के प्रतिकूल हैं।

प्रमाण देखिए—

(१) निशी० उ० ५ सूत्र ६२ × में यह वर्णन है कि मकान साफ़ कराया हुआ हो, खिड़की आदि बनाई लिपाई पुताई हो, ऐसे मकान में साधु रहे, रहते को अच्छा जाने तो लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

× जे भिक्खू सपाहुडियं सेज्जं अणुपविसइ अणुपविसंतं वा साइज्जई ॥ ६२ ॥

(२) निशी० उ० ५ सूत्र ६३ में यह उल्लेख है कि साधु के निमित्त से कोई वस्तु बाहर निकाली जाय, निकालते को अच्छा जाने, तो लघुमासिक दंड बताया है।

(३) उत्त० अ० २ सूत्र ८* में यह कहा गया है कि यदि साधु ग्रीष्मऋतु आदि में उष्ण भूमि आदि के कष्ट से, अथवा बाह्य पसीना मैल वगैरह के कारण, आभ्यन्तर तृष्णा से पीड़ित हो जाय और यह इच्छा करे कि वृष्टि अथवा वायु से कष्ट दूर हो सुख मिले, तो वह असाधु है।

नोट—तेरहपंथी अपने दिल पर हाथ रखकर देखे कि वे इस आज्ञा का कहाँ तक पालन करते हैं?

मकान

भाड़े की ही बात नहीं, ये लोग जिन मकानों में रहते है समय समय पर उनमें दुरुस्ती होती रहती है, खिड़कियाँ आदि बनती सुधरती रहती हैं, पुताई सफ़ाई तो प्रायः होती ही रहती है और इन लोगों को इन सब बातों का पता होता है। लाडनूँ में ये लोग जिस मकान में ठहरते हैं उस में गृहस्थ नहीं रहते हैं। जगन्नाथजी बोलते थे कि उस मकानमें नए दरवाजे बनाए गए। वे यह भी कहते थे कि ऐसा अनेक जगह हुआ है। जब उन मकानों में गृहस्थ लोग नहीं रहते है बल्कि ये ही लोग

---

* उसिणं परियावेणं परिदाहेणं तज्जिए घिंसु वा परिया वणं, सायं नो परिदेवए॥

ठहरते है तो यह बिल्कुल स्पष्ट ही है कि मकान की दुरुस्ती सफ़ाई आदि सब इनके ही निमित्त से होती है और इन्हें इसका पता होता है। इनके ठहरने के लिए ही लाडनूँ बिदासर डूगरगढ, राजलदेसर आदि स्थानों में मकान बनाए तक जाते हैं और खाली रखे जाते हैं अर्थात् केवल मात्र उनके ठहरने के लिए ही छोड़ दिये जा हैं। यह पूरा पूरा दोष-सेवन नहीं तो और क्या है.

प्रमाण देखिए—

(१) दशवे० अ० ६ सूत्र ४८ में अकल्पनीक चार पदार्थ लेने को मना किया है; १—स्थानक, २—चारों आहार, ३—वस्त्र, ४—पात्र।

(२) आचार० श्रु० अ० ८ उ० १ मे अकल्पनीक पदार्थ लेनेवाले को चोर कहा गया है।

(३) आचा० श्रु० २ अ० १० में 'पुरुषानकृत' का अर्थ यह किया गया है कि मालिकी बदल जाय अर्थात् एक के हाथ से दूसरे के हाथ में मकान की मालिकी चली जाय। ऐसे ही पुरुपानकृत मकान में साधु को रहना बताया है। लेकिन ये तेरह-पंथी 'पुरुषानकृत' का अर्थ यह करते हैं कि उसमें श्रावक रहा हो, भले ही वह अन्दर जाकर उस में से फ़ौरन ही या जल्दी ही बाहर आ जाय। यह अर्थ नहीं है अनर्थ है।

(४) वृहद० उ० १ सूत्र ३०. से ३४ तक मे साधु को उस मकान में रहना जिसमें स्त्री रहती हो दोषयुक्त बताया है।

वैसा ही साध्वी के लिए उस स्थान मे रहना जिसमें कोई पुरुष रहता हो, त्याज्य कहा है। हाँ, साधु को पुरुषवाले मकान में और साध्वी को स्त्री वाले मकान मे रहने की अनुमति है। साधु को गृहस्थ के घर के मध्यभाग में रहने का निषेध है, और साध्वी को रहना बताया है क्योंकि मध्यभाग में स्त्रियादिक रहती हैं।

नोट—तेरहपंथी साधुओं का आचरण उक्त प्रमाण की आज्ञाओं के सर्वथा विरुद्ध है, यहाँ तक कि वे मकान के मध्यभाग में भी रहते हैं।

नौकर रखना

तेरहपंथियों की सेवा में एक व्यक्ति रहता है जिसका नाम नारसिंह सिक्ख है। वह आचार्य के लिए पंचमी की जगह देख कर आता है, और लाठी लेकर आगे आगे चलता है, गाय भैंस कुत्ता आदि होता है तो उसे हटाने के लिए मार भी देता है, किवाड़ आदि, जैसी आवश्यकता हो, लगाता और खोलता भी है, पलेवण प्रतिक्रमण का हुक्म होता है तो द्रव्य-सत्यांजी को उसकी सूचना भी देता है; * रात्रि को उजाले की जरूरत हो तो कंदील ले आता है और उसी मकान में रात्रिभर कंदील रखता भी है, आदि आदि। इसे श्रावकों की तरफ़ से क़रीब ३००-४०० रुपए साल की आमदनी हो जाती है। रतनगढ़ में जो महोत्सव हुआ था, उसे शायद नांव के श्रावक मोहनलालजी

---

* बृहद० उ० २ सूत्र ७ में रात्रि के समय जहाँ दीपक हो वहाँ रहने को मना किया है।

ने कराया था। उन्होंने उस समय नरसिंह सिक्ख को सोने के पत्तर के कड़े इनाम में दिए थे। इन लोगों को पता लगा तो इन्होंने उसका अनुमोदन ही किया---कहा, ठीक तो दिया है। उस से कुछ दिन पहिले वह यह कहकर चला गया था कि साल में उसे कम आमदनी हुई थी। जब वह पीछे आया तो कहा गया कि इसको लहर आ जाती है, साल में इतनी आमदनी इसे अन्यत्र नहीं होती या हो सकती है, आदि आदि। नरसिंह के कामों को देखकर, उसकी आमदनी के साधनों को देखकर, यह कहने में कोई असत्य नहीं रह जाता है कि वह श्रावकों द्वारा इन लोगों की सेवा करने के लिए रखा हुआ नौकर है और उसे उस सेवा का पुरस्कार मिलता है और यह सब इन लोगों को भली-भाँति मालूम है। यदि वह नौकर की हैसियत न रखता होता तो उसे अपनी कम ज़्यादह आमदनी का विचार क्यों होता ?

इसी तरह कई वर्षों से एक घनश्यामरामजी ब्राह्मण इन द्रव्य साधुओं को सिखाने-पढ़ाने का काम करते हैं। उनको भी ४००-५०० रुपये साल की आमदनी श्रावकों की तरफ़ से होती है। जब कोई दीक्षा लेता है तब उसके सम्बन्धियों की तरफ़ से उन्हें रुपये दिलाए जाते है। मेरे पूछने पर उनने कहा था कि मैं तो कई वर्षों से इन साधुओं को पढ़ाने का ही काम करता हूँ, चार पाँच सौ रुपये की आमदनी हो जाती है। एक तो शास्त्र में गृहस्थों से शिक्षण लेना ही मना है जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, दूसरे भाड़ेतू नौकर रखना या रखवाना या

जानकारी में श्रावकों द्वारा रखा जाना भी बिलकुल शास्त्र-विरुद्ध है, लेकिन घनश्यामरामजी को रखने में तो ये दोनों ही दोष आ जाते हैं और इस तरह दोष दुगुना तिगुना और भीषण हो जाता है। इसी तरह एक रघुनन्दन प्रसादजी ने इन लोगों को संस्कृत का शिक्षण भी दिया है।

दोनों का झूठ

ऐसा भी होता है कि जब ये लोग देशान्तर मे भ्रमण के लिए निकलते हैं तब इनके साथ जाने के लिए श्रावक लोग कुछ व्यक्तियों को रुपए ठहरा कर भेजते हैं, लेकिन भाषा द्वारा ये साथवाले भाड़ेतू लोग सेवा का ही ध्येय बताते हैं, लेकिन असलियत का इन लोगों को पता होता ही है या हो जाता है, कुछ छिपता नहीं है। ये लोग कैसा झूठ बोलते है यह नीचे की एक छोटी सी कहानी से मालूम होगा—

एक वेश्या की लड़की ने एक राजा से कहा कि 'झूठ में बड़ा मज़ा है।' राजा ने पूछा, सो कैसे? उत्तर में लड़की ने कहा कि मैं किसी दिन बता दूँगी। दूसरे दिन वह लड़की अपने घर कृष्ण भगवान की मूर्ति की पूजा करने बैठी। राजा ने उसे बुलाने के लिए दूत भेजा। वह दूत से बोली कि कृष्ण भगवान से वार्तालाप कर के आऊँगी। दूत ने जा कर राजा से यह कह दिया। जब लड़की राजा के पास आई तब राजा ने पूछा कि क्या कृष्ण भगवान तुझ से बोलते हैं। लड़की ने कहा 'हाँ'। राजा ने कहा—हम से भी बात करा दे। लड़की बोली—प्रार्थना करने

से पता लगेगा मगर खुश करने के लिए आपको खर्च बहुत करना पड़ेगा। राजा ने खर्च के लिए एक लाख रुपए दे दिए। लड़की ने कुछ ख़र्च कर के मूर्ति को सुन्दर और शोभायमान बना दिया और पास ही राधिकाजी की एक सुन्दर मूर्ति भी रखवा दी। स्वयं उसने सफ़ेद कपड़े पहिन लिए और बैठ गई। राजा को कहला भिजवाया कि राजा रानी दोनों मिलकर आएँ और दोनों सफ़ेद कपड़े पहिन कर आएँ, भगवान ने बातचीत करना स्वीकार किया है। लड़की के कहने के अनुसार राजा रानी सफ़ेद कपड़े पहिन कर आए। थोड़ी देर बाद बोली कि भगवान राधिकाजी से बोल रहे है, लेकिन एक बात यह है कि जो वर्णसंकर होता है, अर्थात् जिसकी उत्पत्ति अपनी माँ के पति से न होकर किसी अन्य व्यक्ति के माँ से अनुचित सम्बन्ध होने के परिणाम स्वरूप होती है, उसे भगवान की बोली सुनाई नहीं पड़ सकती। रानी ने विचार किया कि मैं अगर कहूँगी कि मुझे तो भगवान बोलते सुनाई नहीं पड़ते तो राजा मुझे वर्णसंकर समझ कर छोड़ देगा—मेरा त्याग कर देगा, इसलिए वह कहने लगी कि अहा, राधिकाजी से भगवान बात कर रहे हैं, कितनी सुन्दरता से बोल रहे हैं, कितनी मधुर आवाज़ है, आदि २। रानी की यह बात सुन कर राजा ने मन ही मन में विचार किया कि, रानी को तो भगवान बोलते सुन पड़े लेकिन मुझे नहीं, कहीं मैं वर्णसंकर न होऊँ। ऐसा भय खा कर

राजा भी कहने लगा कि हाँ, भगवान बोल रहे हैं। दोनों ऐसा स्वीकार कर के अपने महल को चले गए। दोनों अपने दिल की बात दिल में ही छिपा कर चले गए, और दोनों समझ भी गए कि वे झूठ बोल रहे हैं। यही हाल इन तेरहपंथी साधुओं (!) और इनके श्रावकों का है। ये राजारानी की तरह झूठ बोलते हैं और उस झूठ द्वारा, कपट द्वारा, अपना काम निकालते हैं।

अध्याय : २३

माया-कपट

जैसा कि पहिले अध्यायों में बताया जा चुका है इन तेरहपंथी द्रव्य साधुओं के आचरण में अथ से इति तक माया-कपट भरा हुआ है। मन में कुछ और हो और वाणी में कुछ और हो—इसका नाम कपट है। ये लोग मन की बात को साफ़ साफ़ नहीं कहते, कह भी नहीं सकते, क्योंकि इनके मन में तो मैल-पाप ही भरा हुआ है उसे प्रकट करें तो यह साधुता का जो ढोंग है इसकी पोल न खुल जाय। इसलिए इन लोगों को कपट से काम करना पड़ता है, कपट न करें, मायाचारी न बनें तो इनका काम कैसे चले? इनकी सारी दिनचर्या में शायद ही कोई काम ऐसा हो जिसमें सच्चाई और ईमानदारी हो। आहार लेने, पंचमी जाने, माल वस्त्रादिक लेने, ठहरने, भ्रमण करने आदि सभी कामों में मायाचारी भरी होती है जो साधुत्व तो क्या साधारण सौजन्य के भी ख़िलाफ़ होती है।

देखिए—

(१) भग० श० ३ उ० ६ सूत्र २ में मायावी मिथ्यादृष्टि को विभंग ज्ञान उत्पन्न होना बताया है।

(२) ज्ञाता० प्र० श्रु० अ० ८ * सूत्र उपसंहार में बताया है कि मोक्ष के लिए उग्र तप, संयम व व्रत का साधन करनेवाले साधुओं को धर्म में किंचित मात्र माया भी अनर्थकारी होती है, जैसे महाबल के भव में मल्लिनाथ को तीर्थंकर प्रकृति का बंध होने पर भी माया के कारण स्त्री लिंग मिला।

(३) भग० श० १ उ० २ सूत्र १३ में प्रमादी संयमी को दो क्रियाएँ लगती बताई हैं—(१) आरंभिक (२) मायाप्रतनीक। सुय० प्र० श्रु० अ० ८ सू० ३ में बताया है कि प्रमादी बाल और अप्रमादी पंडित है।

(४) उत्त० अ० ९ सूत्र ४३ व ४४ × में बताया गया है कि कोई बाल (अज्ञानी) तपस्वी मास मास के पारणे में कुशाग्र के अग्र भाग पर रहे इतना अन्न खावे, एक अंजुली पानी पीवे, तो भी उसे संवर धर्म की कला प्राप्त नहीं होती है।

---

* उग्ग तव संयम व ओपगिद्ध फल साहगस्स विजयस्स
धम्माविसए वि सुहूमावि होईमाया अणत्थाय ॥१॥
जह मालस्स महाबल भवंमि तित्थ यरणा मवंधेवि
तव विसए थोव माया जाया जुवइतिं हे उत्ति ॥२॥

× मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणंतु भुजए। नसो
सुयक्खायस्स धम्मंस्सं कलं अग्घाई सोलंसिं ॥

नोट—तात्पर्य यह है कि शरीर से कितना ही तप किया जांय लेकिन मन में तप की भावना और साधना न हो तो आत्म-कल्याण असंभव है। "मुँह में राम बग़ल में छुरी" की कहावत चरितार्थ करने वाले तो पापी हैं, भला उनका कल्याण कैसा?

(५) सुय० प्र० श्रु० अ० २ उ० १ सूत्र ९ * में स्पष्ट कहा गया है कि बाह्य परिग्रह त्यागी कृश मास मास खमण का तप करने वाला साधु भी यदि माया-कपट का सेवन करे तो आगामी काल मे वह अनन्त गर्भादिक के दुख पायगा।

नोट—ऊपर यह बताया गया है कि बाह्य परिग्रह त्यागी यदि अन्तर परिग्रह—कषाय द्वेष वासना मोह क्रोध माया लोभ आदि—का भी त्यागी नहीं है, यदि कोई बाहर का योगी अन्दर ही अन्दर भोगी है, जो बाह्य तपस्या तो करता है लेकिन अंतरंग तपस्या जिस में नहीं है, ऐसा दिखावटी साधु या त्यागी सचमुच साधु या त्यागी नहीं है, बल्कि आत्मवंचना करने वाला दंभी ढोंगी पापी है।

(६) सुय० प्र० श्रु० अ० १२, सूत्र २२ में साधु को शब्द-रूप स्पर्श मे अनासक्त हो कर माया कपट रहित संयम को पालने का आदेश है।

---

* जई वि य णिगणे किसे चरे। जइ वि य भुंजिय मास मंतसो॥ जे इह मायावी मिज्जई। आगंता गब्भायणं तसो॥

(७) आचा० प्र० श्रु० अ० ३ उ० १ सूत्र ६ * में कहा है कि जगत् में जीव अनेक प्रकार के दुख भोगते हैं, इस दुखोत्पत्ति का मुख्य कारण आरंभ ही है। प्रमादी व मायावी प्राणी वारंवार गर्भ में आकर के मृत्यु के मुख में पड़ता है। जो ज्ञानी महात्मा जन्ममरण से डरते हैं व शब्दादि विषयों से दूर रहते हैं और जो वाह्य और अभ्यंतर को सरल और सात्विक व शुद्ध रखते हैं वे जन्ममरण के दुख से मुक्त होते हैं।

(८) दशवै० अ० ५ उ० २ सूत्र ४७ से ५१ ऽ तक में यह कथन है कि जो तप के चोर, वचन के चोर रूप के चोर आचार के चोर और भाव के चोर होते हैं वे किल्विषी देवता होते हैं ॥ ४८ ॥ किल्विषी देवताओं में देवत्व होकर भी वे नहीं जान पाते हैं कि

---

* आरंभजं दुक्ख मिणंतिणच्चा, मायी पमाई पुणरेइ गब्भं, उवे हमाणे सद्द रुवेसु अंजू, माराभि संकी मरणा पमुच्चति ॥ ६ ॥

ऽ तवतेणं, वइतेण रूव-तेणे य जेनर। आचार भाव तेणे य, कुव्वइ देव किब्बिसं ॥ ४८ ॥

लद्धूणवि देवत्त उववन्नो देव किब्बिसे। तत्थावि से न याणाइ किं मे किच्चा इमं फलं ॥४९॥

तत्तोवि से चइत्ताणं, लब्भिही एल मुयगं नरगं तिरिक्ख जोणिं वा बोही जत्थ सुदुल्लहा ॥५०॥

एयंच दोसं दट्ठूणं णाय पुत्तेण भासियं अणुमायंपि मेहावी, मायामोसं विवज्जए ॥५१॥

किस कृत्य का उन्हें यह फल मिला है ॥ ४९ ॥ वहाँ से चल कर बकरे या गूंगे बकरे होते हैं, भवपरम्परा नरक और तिर्यंच गति में उत्पन्न होते हैं जहाँ सम्यक्त्व की प्राप्ति बहुत दुर्लभ होती है। इसीलिए भ० महावीर ने माया को पूर्णतः त्याग देने का उपदेश दिया है।

(९) भग० श० ५ उ० ४ सूत्र १८ में मायावी को मिथ्या-दृष्टि देव-गति में उत्पन्न होना बताया है।

गर्व + मद

इन लोगों में घमंड भी भरपूर है। जब मैंने इनके ख़िलाफ़ पैम्फ़लेट्स निकाले थे तो इनके आचार्य ने बड़े गर्व के साथ कहा था कि कन्हैयालालजी हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं, वे अपनी तीन लाख की सम्पत्ति भी खर्च कर दें तब भी हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं? इनकी इस गर्वोक्ति का उल्लेख मैं पुस्तक की भूमिका में कर चुका हूँ। तात्पर्य यह है कि ये लोग साधु कहाते हैं, अपने को साधु कहते हैं मगर घमण्ड भी करते हैं जब कि साधुत्व और गर्व का कोई मेल ही नहीं है। जहाँ घमंड हो वहाँ साधुत्व कैसा, और जहाँ सच्ची साधुता हो वहाँ घमण्ड का क्या काम?

प्रमाण देखिए—

(१) भग० श्रु० १२ उं० १ सूत्र २६ में कहा गया है कि जो क्रोध करता है वह ७-८ कर्मों के दृढ़ बन्धन का भागी

होता है, वह अंशव्रती मुनि की तरह संसार में परिभ्रमण करता है।

(२) दशवै० अ० १० सूत्र १९ में कहा गया है कि जो जातिमद, रूपमद, लाभमद, सूत्रमद नहीं करता है वही साधु है।

(३) सुय० श्रु० १ अ० १३ सूत्र १४ * में बताया गया है कि जो प्रज्ञावंत हो कर के भी गर्व करता है वह बाल-अज्ञानी है।

(४) सुय० श्रु० १ अ० ९ सूत्र ३६ में मान माया को छोड़ने का आदेश है।

नोट—इस तरह हम देखते हैं कि ये तेरहपंथी साधु-नाम-धारी असाधु माया-कपट से भरपूर हैं। ऐसे लोग साधुता-का ढोंग कर सकते हैं, अपने को साधु कह कर या दिखा कर कुछ मूर्ख और भोलेभाले लोगों से अपनी पूजा करा सकते हैं लेकिन ये लोग अपनी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकते, न अपना ही उद्धार कर सकते हैं और न दूसरों के उद्धार में ही किसी अंश तक सहायक हो सकते हैं। ऐसे मायावी लोग अनन्त काल तक इस दुखमय संसार में परिभ्रमण करते हैं और

---

* एवं ण से होई समाहिपत्ते, जे पन्नव भिक्खू विउक्कसेज्जा। अहवा वि जे लाभमया वलित्ते अन्न जणे खिंसति बालपन्ने॥

भयंकर दुख भोगते हैं। ऐसे अभव्य या दूरभव्य प्राणियों के उद्धार की तरफ़ से निराश होने पर भी हम उन्हें यही कह सकते हैं कि वे इस माया कपट के जाल को तोड़ें, अपनी आत्मा को पहचानें, संयम का पालन करें। लेकिन हम इन लोगों से ही कहना काफ़ी नहीं समझते। हम समाज से और विशेषतया समाज के सूत्रधारों से भी यह कहना चाहते हैं कि कृपया इन गोमुख व्याघ्रों से अपनी समाज और अपने धर्म का रक्षण करिए। जिस बाघ का मुँह गाय सरीखा होता है वह बहुत भयंकर होता है। इसी तरह ये लोग, जो वेष तो साधु का लिए हुए हैं लेकिन महापापी हैं, समाज और धर्म के लिए घातक हैं। सच्चे धर्म-प्रेमियों को इस ख़तरे की तरफ़ ध्यान देना चाहिए।

एक सच्चे साधु और श्रावक की सदैव यह भावना रहनी चाहिए—

रहूं दम्भ से दूर सर्वदा, हो तनिक भी मायाचार।
ढोंगों को निर्मूल करूँ मैं, मायाशून्य रहे आचार॥
ख्याति लाभ के लालच से भी, नहीं करूँ झूठा तप त्याग।
अन्य ढोंग या वंचकता में, थोड़ा भी न रहे अनुराग॥

अध्याय : २४

भाषा-समिति

यदि तेरहपंथियों की बोली—भाषा व स्वर आदि—सुनी जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उन में भाषा-समिति का—जो साधु की पाँच आवश्यक व अनिवार्य समितियों में से एक है, नाम भी नहीं है। इनकी भाषा-वाणी में अपशब्दों एवं अन्य प्रकार से अनुचित शब्दों की कमी नहीं होती है। एक तो कपट भरे वाक्यों से वैसे ही भाषा-समिति नष्ट हो जाती है लेकिन बाह्य दृष्टि से भी उनकी वाणी में उसका अभाव होता है।

देखिए—

(१) आचा० श्रु० २ अ० १३ उ० १ सूत्र ८ * में साधु

* से भिक्खूवा (२) जाय भासा सच्चा जाय भासा मोसा जाय भासा सच्चा मोसा, जाय भासा असाच्चा मोसा, तहप्पगारं भासं सावज्जं सकिरियं ककसं, कडुयं णिठुरं, फरुसं, अण्हय करिं, छेदकरिं, परितावण करिं, उवद्दवकारिं, भूतो व घाइयं अभिकंन्न णो भासं भासेज्जा ॥

को (१) कर्कश, (२) कटु (३) निष्ठुर, (४) कठोर, (५) आश्रव उत्पादक, (६) छेदन कर्ता, (७) परिताप कर्ता, (८) उपद्रव कर्ता (९) क्रियाशील, भाषा बोलना मना किया है।

नोट—ये तेरहपंथी ऐसी बोली प्रायः बोलते हैं जिनमें उपर्युक्त सूत्र में बताए हुए सभी दोष आ जाते है। मुझे याद है कि इन लोगों में जो कुनणमलजी हैं वे तो ऐसी दोष-युक्त भाषा बहुत ही बोलते हैं। एकबार कुनणमलजी के कुछ बोलने पर इनके साथ के हनुमानमलजी बहुत रोए थे। इन लोगों में परस्पर ऐसी दोष-युक्त भाषा खूब बोली जाती है और गृहस्थों से भी ये लोग ऐसा बोलते हैं।

(२) सुयड० प्र० श्रु० अ० ९ सूत्र १७ में अधर्म वाक्य बोलने के लिए मना किया गया है।

(३) सुयड० प्र० श्रु० अ० ९ सूत्र २७ में—मूर्ख, दातार—ऐसा शब्द बोलने के लिए मना किया गया है।

नोटः—तेरहपंथी बहुधा ऐसे शब्द बोलते हैं।

(४) उत्त० अ० १ सूत्र २४ × में बताया गया है कि भाषा के दोषों का परिहार करना चाहिए।

(५) सुयड० प्र० श्रु० अ० ८ सूत्र १९ व २५ में माया सहित भाषा बोलने के लिए मना किया गया है।

नोट—पिछले अध्यायों में विशेषतया २३ वें अध्याय

× मुसं परिहरे भिक्खू न य ओहारिणि वए। भास दोसं परिहरे, मायं च वज्जए सया॥

में यह खूब अच्छी तरह दिखलाया गया है कि ये तेरहपंथी माया कपट से भरी हुई भाषा बोलते हैं।

(६) सुय० प्र० श्रु० अ० ९ सूत्र २६ में ऐसे वचन बोलने को मना किया है जो हिंसाकारी हों।

नोट—यहाँ हिंसाकारी वचनों का अर्थ है ऐसे वचन जो दूसरों के भावों को ठेस पहुँचाएँ। यहाँ हिंसा से भाव-हिंसा का प्रयोजन है, द्रव्य-हिंसा का नहीं। यहाँ यह ख़याल रखना चाहिए कि हिंसाकारी वचनों से असत्य वचन का मतलब नहीं है। हिंसाकारी वचन सत्य भी हो सकते हैं। काने को काना कहना, लँगड़े को लगड़ा कहना, मूर्ख को मूर्ख कहना, सत्य तो है लेकिन हिंसाकारी है, क्योंकि इससे दूसरे के दिल को चोट पहुँचती है, उसे दुख होता है। अतः सत्यासत्य के साथ साथ हमें यह भी देखना चाहिए कि अमुक वचन ऐसा तो नहीं है जिस से किसी भी प्राणी का हृदय दुखी हो। यदि हाँ, तो वह वचन न बोलना चाहिए।

(७) निशी० उ० १५ सूत्र १ से ३ * तक में बताया

---

* जे भिक्खू भिक्खूणं अगाढं वदइ वंद तंवा साइज्जइ ॥१॥
जे भिक्खू भिक्खुणं फरुसं वदई वंदतं वा साइज्जइ ॥२॥
जे भिक्खु भिक्खूणं आगाढं फरुसं वदइ वदंतं वा साइज्जइ ॥३॥

गया है कि जो साधु किसी साधु से आक्रोश वश ज़ोर ज़ोर से बोले, बोलते को अच्छा जाने, जो साधु किसी साधु से आक्रोश-युक्त कठोर वचन कहे, कहते को अच्छा जाने, जो साधु अन्य किसी भी साधु के प्रति अन्य किसी भी प्रकार की असातना करे, करते को अच्छा जाने, उसे लघुमासिक प्रायश्चित बताया है।

(८) उत्त० अ० २५ सूत्र २४ * में कहा है कि जो साधु क्रोध के वश हो कर, लोभ के वश हो कर, हंसी के वश हो कर अथवा भय के वश हो कर झूठ न बोले, न बुलावे और बोलते को मन वचन काय से अच्छा न जाने, उसको मैं साधु कहता हूँ।

नोट—यहाँ साधु को यह आदेश है कि वह क्रोध लोभादि वश अपनी भाषा को दूषित न करे और न किसी दूसरे की भाषा को दूषित करने का निमित्त बने।

(९) दशवे० अ० ८ सूत्र ४७ में साधु को ऐसी भाषा बोलना मना है जिससे षटकाय की हिंसा होती हो (ये लोग ऐसी भाषा बोलते ही रहते हैं)।

जयाचार्यजी ने भगवान महावीर की दीक्षा का वर्णन करते हुए प्रश्नोत्तर के प्रश्न ५२ में कहा है कि भगवान ने भाषा-

---

* कोहा वा जइ वा हासा लोहा वा जइ वा भया।
मुसंन वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं ॥ २४ ॥

समिति-पूर्वक अपने सम्बन्धियों को सीख दी; अतः भाषा-समिति-पूर्वक बोलने में सावद्य आमना नहीं है। लेकिन जयाचार्यजी का यह कथन सत्य के विरुद्ध है।

आचा० श्रु० २ अ० २४ में तो ऐसा लिखा है—"संबंधिवग्ग पाडिविसंजेति पडिविसंजेता", अर्थात् भगवान ने दीक्षा लेने के पश्चात विहार के समय सम्बन्धियों को विसर्जित कर दिया अर्थात् छोड़ दिया, और स्वयं विहार के लिए चल दिए। अतः स्पष्ट है कि सावद्य आमना हर उस भाषा में है जिससे आरम्भ बढ़े, और ऐसी भाषा में भाषा-समिति की कल्पना हो ही नहीं सकती।

पिछले अध्यायों में यह अच्छी तरह बताया गया है कि किवाड़ खुलवाने, बन्द कराने, लालटेन रोशनी आदि का प्रबन्ध कराने, मकान की सफ़ाई दुरुस्ती आदि कराने, रोटी न चिपड़वाने, विहार के समय गृहस्थों को साथ में लेने, सेवा सुश्रुसा कराने आदि सभी कामों में ये लोग कपट-भरी वाणी बोल कर सब काम करा लेते हैं और ऊपर से कहते हैं कि हमने तो काम के लिए नहीं कहा। वे कहते हैं कि हमने तो काम न करने के लिए कहा क्योंकि उनका कहना 'नहीं' में था। मैं उन से कहूँगा कि 'नहीं' में ही आपको बोलना है, 'नहीं' में बोलने की ही आपने शपथ खा ली है, तो आप इस तरह सीधे-सीधे क्यों नहीं बोलते—स्थानक गंदा नहीं रखना, स्थानक के किवाड़ खुले नहीं रखना, आदि आदि। बात साफ़ है कि

वाणी में कपट से काम लेकर भोली-भाली जनता को उल्लू बनाना है। भला, जहाँ कपट हो वहाँ भाषा-समिति कैसे हो सकती है ?

एक सच्चे साधु की तो भाषा-समिति के विषय मे यही भावना हो सकती है—

विविध कष्ट सह करभी बोलूं, सदा सभी से सच्ची बात
कभी न वंचित करूँ किसी को, हो न कभी कटु वचनाघात ॥
कोमल प्रेमजनक शब्दों का हो मुख से सर्वदा प्रयोग।
करूँ न मैं अपमान किसी का और न हो गाली का रोग ॥

अध्याय : २५

अनुचित आदर

प्रश्न—तेरहपंथी द्रव्य-साधु सरकारी अधिकारी को या धनवान को समझाने अथवा अपनी ओर (अपने पक्ष का) करने के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं, धनवान आदि का विशेष रूप से आदर करते हैं। क्या यह उचित है ?

उत्तर—नहीं, यह बिल्कुल अनुचित है। एक साधु के लिए क्या धनी क्या निर्धन, क्या सरकारी अधिकारी क्या साधारण नागरिकता के अधिकार से भी वंचित प्राणी, सभी बराबर हैं। साधु इन बातों से ऊपर रहता है। वह तो गुणानुरागी होता है और गुणी से ही विशेष बोलना रख सकता है सो भी उसके लिए नहीं उसके गुणों के लिए, और गुण अमीर ग़रीब दोनों में हो सकते हैं, होते हैं। धनी होना कोई गुण नहीं है, निर्धन होना कोई अवगुण नहीं है। अतः तेरहपंथियों का यह व्यवहार अनुचित है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

> जे भिक्खू गाम रक्खियं अत्तिकरेइ, अत्ति करंतं वा साइज्जइ। एवं सोचेव रायगमओ णे यव्वो ॥ ८४ ॥ एवं देस रखियं ॥ ८८ ॥ एवं सीम रक्खियं ॥ ९२ ॥ एवं रन्नो रक्खियं ॥ ९६ ॥ एवं सव्व रखियं ॥ १०० ॥
>
> —निशीथ उ० ४

भावार्थ—जो साधु साध्वी ग्राम के अधिकारी पटेल आदि को अपना करे, अपना करते को अच्छा जाने, ऐसा ही राजा देश-रक्षक (फौज़दार), सीम-रक्षक (नाकादार, थानेदार) जंगल के रक्षक तथा अन्य रक्षकों के बारे मे करे, करते को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक प्रायश्चित बताया है।

तेरहपंथियों में धनी व अधिकारी को अपनी ओर करने की प्रवृत्ति बहुत ही ज़्यादह और खराब है। जब कोई नयी आमना लेने वाला होता है तो ये लोग पूछते हैं कि यह असामी कैसा है ? अगर इन्हें मालूम होता है कि वह लखपती है, धनी है या राजकर्मचारी सरकारी अफ़सर आदि है तो ये लोग उसे अपनी तरफ़ खींचने की अधिक से अधिक कोशिश करते हैं। यदि वह ग़रीब आदमी होता है तो उसकी कोई परवाह नहीं करते हैं, उपेक्षा से काम लेते हैं। इस तरह धन और अधिकार इन तेरहपंथियों को प्रभावित करते हैं और जिसका मन इन दुनि-

यात्री वार्तों से प्रभावित हुआ करे और यहाँ तक प्रभावित हुआ करे कि उससे व्यवहार और आचरण में अन्तर पड़ जाय, तो वह मन साधु का मन नहीं है, एक संसार-विरक्त त्यागी का मन नहीं है, बल्कि एक ऐसे दुनिया में लिप्त आदमी का मन है जिसमें साधारण मनुष्य की सभी कमज़ोरियाँ भरी हुई हैं।

अध्याय : २६

पूजा-सत्कार

प्रश्न—ये तेरहपंथी लोग जानबूझकर अपनी पूजा व सत्कार कराते हैं, पूजा और सत्कार की लालसा रखते हैं, पूजा सत्कार मिले तो खूब प्रसन्न रहते हैं न मिले तो खिन्न और नाराज होते हैं। क्या यह उचित है?

उत्तर—नहीं, यह अनुचित है। साधु का ध्येय आत्मसिद्धि द्वारा मुक्ति प्राप्त करना है न कि पूजा-सत्कार पाना। पूजा-सत्कार की लालसा तो दुनिया में रहने वाले दुनियावी (संसार-लिप्त) प्राणियों की चीज है, ऊँचे मनुष्य—साधु व महात्मा—तो सदैव कर्त्तव्य को ही सामने रखते हैं और यश मिले या अपयश, सत्कार मिले या निरादर, स्तुति हो या प्रशंसा, वे अपने कर्त्तव्य से कभी विचलित नहीं होते। सच्चा यश तो भीतर की चीज है और जो व्यक्ति कर्त्तव्यपरायण होता है उसके ही मन में वह सच्चा यश रहता है। एक सच्चे साधु की सदैव यही भावना होती है—

" घर घर में मैं पाऊँ पूजा या घर घर में अपमान मिले।
दोनों में ही मुसकान रहे मन के भी भीतर आह न हो॥

पहिले चुरु की घटना बताई जा चुकी है। चुरु में तीन दिन तक श्रावकों ने पंचमी के आवागमन के समय कीर्ति व प्रशंसा सूचक शब्दों का जोर जोर से उच्चारण नहीं किया, इसपर सामान्य साधुओं ने भायों को उलाहना दिया कि यहाँ के भायों में भक्ति कम है, अमुक जगह के भाए बड़े भक्त हैं, जब महाराज पंचमी को आते जाते थे तो वे खूब ज़ोर से जय-नाद करते थे, आदि आदि। इसका परिणाम यह निकला कि चौथे दिन चुरु के श्रावकों ने भी ' धन्य हो पूज्य परमेश्वर ' आदि आदि वाक्यों का खूब जोर के साथ उच्चारण किया। एक बार पहेट में इनके आचार्य ने भाषण देते हुए कहा था कि देखो, इस शासन की कितनी भारी महिमा है, आदि आदि। इस तरह ये लोग अपनी प्रशंसा भी करते हैं और कोशिश करके गृहस्थों से पूजा सत्कार पाने की कोशिश तो विशेष रूप से करते हैं और जब पूजा सत्कार मिलता है तब उस से खुश होते हैं। उनका यह सुख एक तरह का काय-सुख ही है लेकिन इनके लिए काय-सुख पाना कोई असाधारण बात नहीं है। खैर....,

प्रमाण देखिए—

(१) सुयडं ० प्र० श्रु० अ० ९ सूत्र २२ में बताया है कि पंडित [ज्ञानी] पुरुष यश कीर्ति श्लाघा वंदन पूजन तथा

अन्य संसार के सब प्रकार के काम-भोगों को जान कर उनसे अलग रहते हैं ।

(२) सुय० प्र० श्रु० अ० १३ सूत्र १२ * में कहा गया है कि अंत प्रांत आहारी निष्परिग्रही साधु गर्व या श्लाघा का कामी हो तो वह संयम को न जानने वाला, आजीविका मात्र करने वाला, संसार में परिभ्रमण करता है ।

नोट—यहाँ यह बताया गया है कि ऐसे साधु वेषधारी प्राणी जो संयम का पालन नहीं करते हैं, एक तरह से साधुता को आजीविका बना कर अपना उदर-पोषण करते हैं। रोटी खाने के लिए चाहिए, साधुता का वेष धर कर और ढोंग रच कर अच्छे अच्छे माल खाने को मिलते है, इसलिए कुछ निकम्मे लोग, जो गृहस्थावस्था में दिनरात मज़दूरी करके मुश्किल से रोटियाँ खा सकते हैं, साधु-वेष धारण कर लेते हैं और इस तरह अपनी आजीविका का प्रबन्ध कर लेते हैं। श्रद्धावश दीक्षा लेने वाले धर्मार्थी तो विरले ही होंगे, साधारणतः ये लोग पेटार्थी हैं। अपने पेट के लिए ये लोग साधु-वेष धारण करते हैं, बाह्य क्रियाएँ भी तदनुकूल करते है।

---

* णिक्किचणे भिक्खू सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिले अगामी।
आजीवमयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेंती॥

शब्दार्थ—नि० – निष्किंचन, भि० – साधु, सु० – अन्त प्रान्त आहारी, जे० – जो, गा० – गर्ववंत, हो० - होता है, सि० - श्लाघा का कामी, आ० - जीवार्थ, ए० - इस को, अ० - अज्ञान, पु० - बारंवार वि० - विपरीतता को, उ० - प्राप्त होता हैं ॥

अश्रद्धालु और स्वार्थी मन को भी इस पेशे में जोत देते हैं, जिसके परिणाम स्वरूप ढोंग दम्भ और माया-कपट करना पड़ता है। इस तरह ये लोग पेट के लिए अपना शरीर तो बेचते ही हैं, अपनी आत्मा भी बेचते हैं। इस तरह ये लोग वेश्याओं से भी गए बीते हैं, वेश्याओं से भी अधिक पतित हैं; क्योंकि वेश्या तो पेट के लिए अपना शरीर ही बेचती है, लेकिन ये लोग पेट के लिए शरीर और आत्मा दोनों को ही बेचते हैं। हा! कैसा अधः-पतन है। मंगलमय भगवान इनका मंगल करे—ऐसी इन पंक्तियों के लेखक की हार्दिक भावना है।

(३) उत्त० अ० १५ सूत्र ५ में कहा है कि जो सत्कार पूजा वंदन और प्रशंसा की इच्छा न करे, संयमी, सुव्रती व तपस्वी हो, ज्ञान-क्रिया-साहित हो, आत्मा की गवेषणा करनेवाला हो, वही भिक्षु कहाता है।

(४) सुय० प्र० श्रु० अ० २ उ० २ सूत्र ६ से ११ तक में कहा गया है कि पूजे जानेपर साधु मान न करे, राजादिक से पूजे जाने पर भी गर्व न करे।

(५) दशवै० अ० ९ उ० ४ सूत्र ७ में यश महिमा के लिए तपस्या करने के लिए मना किया गया है।

(६) दशवै० अ० ५ उ० २ सूत्र ३५ * में मान का कामी, यश का अभिलाषी, मान-सन्मान का इच्छुक साधु कपट-

---

* पूयणट्ठा जसो-कामी माण-सम्माण कामए।
बहुं पसवई पावं, माया-सल्लं च कुव्वई॥

धारी है, माया-कपट रूप सल्ल करने से बहुत पापोर्जन होता है—पाप-कर्मों का बंध होता है।

नोट—इस तरह यह बिलकुल स्पष्ट है कि पूजा सत्कार यश सन्मान आदि की लालसा रखने वाला साधु असाधु है। तेरहपंथी देखें कि वे इस कसौटी पर कसे जायँ तो साधु ठहरेंगे या असाधु?

अध्याय : २७

प्रतिक्रमण

साधु के लिए प्रतिक्रमण एक आवश्यक नित्यकर्म है। यह एक प्रकार की तपस्या है जो साधुत्व के लिए अनिवार्य है। लेकिन इन तेरहपंथियों में से कितनेक को प्रतिक्रमण करना ही नहीं आता है। और जिनको पाठ पढ़ना आता है उनमें से बहुत कम उसे ठीक ठीक समझ पाते हैं। भावपूर्वक प्रतिक्रमण करने वाले इन लोगों में थोड़े ही प्रमाण में होंगे।

एक बार आचार्यजी ने गंगापुर वाले लालचन्दजी तथा अन्य लोगों को हुक्म दिया था कि प्रतिक्रमण का पाठ दूसरों को सुनाओ। सबने अपने अपने मेल के आदमियों को सुनाया और इस तरह एक दूसरे की कमजोरी छिपा कर उन लोगों ने किसी तरह लाज रख ली, छिपा-छिपी चल पड़ने से असलियत का पता न लग सका। कई लोग रायशी दवेशी के वक्त गुनगुन किया करते हैं, बहुत-से जो पाठ पढ़ भी लेते है वे तोते की

तरह बोल देते हैं, कुछ समझ नहीं पाते। यह सब आगम की आज्ञा के प्रतिकूल है।

प्रमाण देखिए—

(१) निशीथ उ० १९ सूत्र १६ * में कहा गया है कि साधु दिन व रात्रि और दोनों के प्रथम प्रहर और अन्तिम प्रहर इस तरह चारों प्रहरों में स्वाध्याय नहीं करे, न करते को अच्छा जाने, तो लघुचौमासिक प्रायश्चित्त बताया है।

नोट—जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है, कई तेरह-पंथी लोग प्रतिक्रमण सच्चे अर्थों में नहीं करते हैं और वे बेचारे इतने समझदार भी नहीं है कि कर सके। केवल रिवाज पीटते हैं। होंठ हिलते हैं पर मन में भावों का स्पन्दन नहीं होता है। चौथे दिन की हाजिरी में इनके आचार्य इनसे पूछा करते हैं कि चारों समय सज्झाय की या नहीं तो उत्तर में ये लोग कहा करते हैं कि "करी दीखे है"। इस तरह ऊपर से ये लोग झूठ भी खूब बोल लेते हैं। हम देखते हैं कि जहाँ तक प्रति-क्रमण का सम्बन्ध है, इनमें से कई लोग कोरे ही हैं।

---

* जे भिक्खू चउकालं सज्झायं न करेति न करंतंवा साइज्जइ ॥

अध्याय : २८

पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाएँ

सूत्र में पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाएँ बताई गई हैं और साधु के लिए उन भावनाओं की आराधना करना, उन्हें जीवन में उतारने का अभ्यास करने के लिए उनको समझना, पाठ करना और उनकी भावना करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य कहा गया है। लेकिन ये तेरहपंथी लोग इनकी भावना भी नहीं करते हैं। ये लोग नाम के महाव्रती हैं, सच्चा महाव्रत इनमें नहीं है। अब नीचे एक-एक भावना को लेकर अपने मन्तव्य को स्पष्ट किया जायगा—

प्रथम महाव्रत की पाँच भावनाएँ

पहिली भावना—ईर्या-समिति का पालन करने वाला साधु है, इसके विरुद्ध आचरण करनेवाला षट्काय का घातक है।

नोट—ईर्या-समिति के अध्याय : १३ में यह अच्छी तरह दिखाया जा चुका है कि ये तेरहपंथी लोग ईर्या-समिति का पालन नहीं करते हैं, बल्कि उसके विरुद्ध चलते हैं, और इस तरह षट्काय के घातक हैं।

दूसरी भावना—मन में पाप न रखने वाला साधु है, अर्थात् जिसका मन पापयुक्त सदोप न हो, पूर्णरुपेण अशुभ क्रिया सहित न हो, कर्मबंधकारी, छेदनकारी, भेदनकारी, कलहकारी, द्वेषपूर्ण व घातकारी न हो, वहीं साधु है।

नोट—इस विषय में भी पहिले बहुत कहा जा चुका है। पहिले से विहार चातुर्मास आदि का निश्चय प्रकट करना और उसे घोषित करना, पहिले से ही चिट्ठी या तार (कपटपूर्ण भाषा द्वारा) दिलवाना आदि इन तेरहपंथियो के बहुत-से काम हैं जिनमें यह अपनी भापा द्वारा क्रिया व आरम्भ आदि के निमित्त बनते हैं। पाठक गण देखें कि इनका मन उक्त भावना में बताए हुए साधु के मन से कितनी विपरीत प्रवृत्ति वाला है?

तीसरी भावना—साधु के वचन को पहचानना, खराब क्रियावाले भूतोपघातक सदोप वचन बोलने की इच्छा नहीं करना, पाप रहित बोलना, अखंड चारित्र रखना।

नोट—तेरहपंथी अनेक दोष-युक्त वचन बोलते हैं, गृहस्थों से काम करा लेते हैं। इस तरह ये लोग इस तीसरी भावना के विरुद्ध भी आचरण करते हैं।

चौथी भावना—गवेषणा-पूर्वक अज्ञात कुल से थोड़ा थोड़ा आहार ले, मुहूर्त मात्र ध्यान करे, संयोग-दोष रहित व लोलुपता रहित आहार ग्रहण करे, वह साधु है। आहार पानी बिना देखे काम में लेनेवाला प्राणघाती है।

नोट—तेरहपंथियों का आचरण उक्त भावना के बिल्कुल प्रतिकूल है।

पाँचवी भावना—भंडोपकरण लेते देते रखते समय यत्नसहित परिवर्तन करना।

दूसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ

पहिली भावना—बिना विचारे न बोलना, क्रोध लोभ भय हास्य वश जीवनपर्यन्त झूठ न बोलना।

दूसरी भावना—क्रोध नहीं करना।

तीसरी भावना—लोभ नहीं करना।

चौथी भावना—भयभीत न बनना।

पाँचवी भावना—हास्य विनोद नहीं करना।

नोट—तेरहपंथियों के जीवन में उक्त पाँचों भावनाओं को स्थान नहीं है। वहाँ तो क्रोध लोभ भय हास्य आदि सभी दुर्गुण निवास करते हैं, और इनमें से हर दुर्गुण के कारण मिथ्याभाषी बनना पड़ता है जो चरित्र का नाशक है।

तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएँ

पहिली भावना—विचारपूर्वक अपने सहधर्मी के पास से परिमित अवग्रह माँगना (प्रमाणसहित), जिस मकान में गृहस्थ ने झाड़झूड़ (सफ़ाई) की हो उस मकान में न रहना।

दूसरी भावना—आज्ञा से बाहर आहार पानी आदि ग्रहण न करना।

तीसरी भावना—प्रमाण सहित अवग्रह लेना, पाट पाटलादि शुद्ध लेना, सम जगह को विषम जगह और विषम जगह को सम करना, वायु आती हो तो उसे बन्द न कराना, न आती हो तो उसे आने के लिए जगह न खुलवाना, ठंडे को गरम और गरम को ठंडा न करना, त्रस प्राणियों में भय न उपजाना।

चौथी भावना—अवग्रह माँगते समय वारम्बार मर्यादा बाँधते रहना, घृतादि अधिक न लेना, प्रशंसा न करना।

पाँचवी भावना—विचारपूर्वक अपने सहधर्मियों से परिमित अवग्रह मांगना, विनयपूर्वक रहना, आचार्य का विनय करना।

नोट—तेरहपंथियों में ये पाँचों भावनाएँ भी नहीं है। इस विषय में पिछले अध्यायों में विस्तारपूर्वक बताया ही जा चुका है।

चौथे महाव्रत की पाँच भावनाएँ

पहिली भावना—बारबार स्त्री-कथा न करना, मनोहर रूप न देखना।

दूसरी भावना—स्त्री के मनोहर अवयव न देखना, उनका चिंतवन न करना, स्त्रियों की कथा आदि न करना।

तीसरी भावना—पहिले की की हुई क्रियाएँ याद न करना।

चौथी भावना—स्त्री पुरुष नपुंसक वाली शय्या के आसन का सेवन न करना।

पाँचवी भावना—ज्यादह न खाना-पीना, रसयुक्त खान-पान का सेवन न करना, वीर्य-वर्धक आहार न करना।

नोट—तेरहपंथियों के चरित्र में इन पाँचों भावनाओं को भी कोई जगह नहीं है। बाग़ बगीचे देखना, रसयुक्त वीर्यवर्द्धक भोजन करना आदि ऐसी क्रियाएँ जो उक्त पाँचों भावनाओं के खिलाफ़ हैं। ये स्त्रीकथा, राजकथा, देशकथा, भातकथा भी चारों करते रहते हैं।

पाँचवें महाव्रत की पाँच भावनाएँ

पहिली भावना—कान से अच्छे बुरे शब्द सुनने में आसक्त न होना।

दूसरी भावना—आँख से अच्छा रूप सौन्दर्य देखने में आसक्ति न रखना।

तीसरी भावना—नाक से सुगंध लेने-में आसक्त न होना।

चौथी भावना—अच्छे रस का स्वाद लेने की लालसा न रखना, माँस मधु आदि न लेना।

पाँचवी भावना—अच्छे बुरे स्पर्श में आसक्ति न रखना।

नोट—तेरहपंथी उक्त पाँचों भावनाओं के विरुद्ध आचरण करते हैं।

इस तरह हम देखते हैं कि इन तेरहपंथियों के जीवन और आचरण में—चरित्र में—ऊपर बताई हुई पाँचों महाव्रतों की पच्चीस भावनाएँ भावात्मक या क्रियात्मक रूप में नहीं हैं अतः वे साधु हैं! ऐसे असाधुओं को जिनका असाधुत्व आगम-सूर्य की ज्ञान-किरणों द्वारा बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देता है, साधु मानना भूल है, अपराध है।

अध्याय : २९

संवर

तेरहपंथियों के जीवन की जो झाँकी इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ से मिलती है उससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि इनकी आत्मा सदैव कर्मबन्धन से बँधती रहती है और कर्म-वर्गणाओं का आगमन नहीं रुकता है। ऐसी हालत में कर्म-वर्गणाएँ अपनी अवधि पूर्ण करने पर अथवा अपना फल देकर झड़ती भी जायँ तो भी क्या होता है? जब तक कर्म-वर्गणाओं का आगमन नहीं रुकेगा तब तक मोक्ष-मार्ग में कैसे बढ़ा जा सकता है। कर्म-वर्गणाओं का आना और आत्मा से बद्ध होना रुक जाय फिर आत्मा से बंधे हुए कर्मों की निर्जरा हो तभी मोक्ष-प्राप्ति संभव है। उदाहरण के लिए नदी में डूबती हुई नाव को ले लीजिए। उसमें एक छेद है जिसमें होकर पानी आ रहा है। नाव में कुछ पानी भर गया है। अब हम यदि उस नाव के छेद को बन्द तो न करें लेकिन दोनों हाथों से पानी उलीचना शुरु कर दें

तो भी कोई लाभ न होगा, क्योंकि जितना पानी उलीचेंगे उतना या उससे अधिक पानी नाव में भर जायगा और धीरे धीरे नाव डूब जायगी। नाव को बचाने के लिए सब से पहिले छेद बन्द होना चाहिए (यह संवर है), फिर नाव से पानी को बाहर उलीचना चाहिए (यह सकाम निर्जरा है); तभी नाव पानी में डूबने से बचकर उसके पार हो सकती है (यह मोक्ष है)। अतः जीवनरूपी—आत्मारूपी—नौका को भवसागर से पार करने के लिए यह सबसे ज़्यादह ज़रूरी है कि कर्मवर्गणाओं को रोका जाय, फिर निर्जरा की जाय, अन्यथा भवसागर से पार होना अर्थात् सिद्ध-पद प्राप्त करना कठिन ही नहीं, असंभव है।

तेरहपंथियों की आत्मारूपी नौकाओं में संवर नहीं है इसी से वे डूब रही है। संवर के लिए संयम, त्याग, तपस्या और वैराग्य की आवश्यकता है, जो इन लोगों में दुर्लभ और अप्राप्य है। खैर...., यह निश्चित है कि इन लोगों में संवर-धर्म नहीं है और जैसी बेढंगी रफ़्तार है उसमें होना असंभव ही है।

स्पष्टता के लिए कुछ प्रमाण देखिए—

पाठ—

असंवुडा अणादियं, भमि हिंतिपुणो। कप्पकाल
मुवज्जंति ठाणा असुर किब्बिसिया त्तिबेमि ॥१६॥

—सुय० प्र० श्रु० अ० १ उ० ३ सूत्र १६॥

शब्दार्थ—अ०-संवर रहित, अ०-अनादि, भ०-परिभ्रमण करेंगे, पु०-बारम्बार, क०-बहुत काल, उ०-उत्पन्न होवे हैं,

ठा० - स्थान, अ० - असुर कुमार, कि० - किल्विषी में, त्ति० - ऐसा, वे० - कहता हूँ ॥

भावार्थ—वे संवर रहित पाखण्डी लोग अनादि संसार में परिभ्रमण करेंगे तथा वार-वार नरक आदि का दुख भोगेंगे। कदाचित तप के प्रभाव से स्वर्गादि गति मिल जाय तो बहुत काल पर्यन्त असुरकुमारादिक कल्विषी आदि में उत्पन्न होकर दुख पावेंगे, ऐसा श्री० भगवान ने कहा है।

पाठ—

तया चयई संभोगं सब्भिन्तर-बाहिरं ॥ १७ ॥
जया चयई सम्भोगं सब्भिन्तर-बाहिरं। तया
मुण्डे भवित्ताणं पव्वइय अणगारियं ॥ १८ ॥
जया मुण्डे भवित्ताणं पव्वइय अणगारियं। तया
संवर मुक्कट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ॥ १९ ॥

—दशवे० अ० ४ भिक्खु० आ० सूत्र १७, १८, १९

भावार्थ—वह अभ्यंतर कषाय व बाह्य कुटुम्ब आदि के संयोग का त्याग करेगा ॥ १७ ॥

जब अभ्यंतर व बाह्य संयोग का त्याग करेगा तब द्रव्यभाव से मुंडित बन कर साधुत्व अंगीकार करेगा ॥ १८ ॥

जब मुण्डित बनकर साधुत्व अंगीकार करेगा तब वह उत्कृष्ट संवर रूप अनुत्तर धर्म का स्पर्श करेगा ॥ १९ ॥

पाठ—

"मणसा जे पउस्संति चित्तं तेसि ण विज्जई।
अणवज्ज मत्तहं तेसिणाति सवुड चारिणो॥ २९॥"
—सुय० प्र० श्रु० अ० १ उ० २ सूत्र २९

शब्दार्थ—म० – मन से, जे० – वह, प० – द्वेष करता है, चि० – मन, ते० – उसका, ण० – न होवे, अ० – निर्बाध, अ० – असत्य, ते० – उनका, ण० – नहीं, ते० – वह, सा० – सव्रतचारी॥

भावार्थ—जो मन से राग-द्वेष करता है उसका मन शुद्ध नहीं होता है, वैसा ही अशुद्ध मन वाला संवर में प्रवृत्ति करनेवाला नहीं होता है।

और भी देखिए—

[१] उववाई सूत्र समवशरण अधिकार सूत्र ३२ में अभ्यंतर व बाह्य परिग्रह त्यागी को ही भगवान का साधु कहा है।

[२] दशा० श्रु० दशा ५ सूत्र ४ में चित्त समाधि के बोल के आगे कहा है कि षट्काय के रक्षक जो साधु होते हैं उन्हें देव-दर्शन होता है।

नोट—तेरहपंथियों को तो देव-दर्शन नहीं होता है, इसलिए वे षट्काय के रक्षक साधु नहीं ठहरते हैं।

अध्याय : ३०

व्रत-भंग

यदि साधु एक दोष का भी सेवन करे, एक व्रत का भी भंग करे तो छहो व्रतो का ही भंग हो जाता है। साधुत्व तो एक अखण्ड चरित्र का नाम है, अलग अलग नियमों की खिचड़ी नहीं है कि कोई अंश कम हो या न भी हो तो काम चल जाय। अखण्ड चरित्र का प्रत्येक अंश समुचित मात्रा में होना ही चाहिए अन्यथा वह अखण्डित न रहेगा, खण्डित हो जायगा और उसके खण्डित होने का अर्थ यह है कि साधु का साधुत्व कलंकित और नष्ट हो जायगा।

देखिए, श्री० भिक्षुजी ने भी एक दोष का सेवन करने वाले को असाधु कहा है—

पाठ—

"एक दोष सेवे कोई साध। ते संयम दियो विराध॥
तिणने गुरु जाणीने वान्दे कोई। ते तो अन्त संसारी होई॥
घणा दोष सेव साक्षात्। तिणने गुरु जाणने वान्दे दिनरात॥
ते तो पुरो अज्ञानी वाल। ते रुलसी की तेई काल॥

सूत्र प्रमाण भी देखिए—

पाठ—

से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए तुम्हा पावकम्मं णेव कुज्जा कारावे ॥ १ ॥

सिया तत्थे गयरे विप्पर मुसति छसु अण्णा यरंमि कप्पाति ॥ २ ॥

सुहट्ठी लालप्प माणे सएण दुक्खेण मूढे विप्परियास मुवेत्ति सएण विप्पमाएण पुढोवयं पकुव्वति, जंसि मे पाणा पव्वहिया पडिलेहाए णो णिकरणाए एस परिण्णा पवुच्चति कम्मो वसंती ॥३॥

—आचा० श्रु० १ अ० २ उ० ६ सू० ३

शब्दार्थ—से० – अब, त० – उसे, स० – जान कर, अ० – ज्ञानादि में, स० – सावधान हो, त० – इसलिए, प० – पापकर्म, णे० – न करे न करावे ॥ १ ॥

सि० – कदाचित्, त० – उसमें की एक भी, वि० – हिंसा करे, छ० – छहों में की, अ० – किसी भी, क० – करे ॥ २ ॥

सु० – सुखार्थी, ल० – लालन पालन करता हुआ, स०–स्वकीय, दु० – दुख से, मू० – मूर्ख, वि० – विपरीतता, उ० – पावे, स० – स्वकीय, वि० – विविध प्रमाद से, पु० – अलग अलग, व० – व्रत, प० – पालन करे, जं० – जिस, ए० – यह, पा० – प्राणी का, वा० – वध करे, प० – देख कर, णो० – नहीं, णि० – निवारण के लिए, ए० – ऐसी, प० – समक्ष, प० – कही, क० – कर्म की उपशांति ॥ ३ ॥

भावार्थ—युक्ति-बोध को जानने वाले मुनि ज्ञानादि में सावधान बनकर आप स्वयं पाप नहीं करते और दूसरे से नहीं

कराते ॥ १ ॥ जो काय षटकाय जीवों में से एक का भी घात करे, उसे छहों काय का घातक कहना चाहिए। प्राणातिपात व्रतादि छह व्रतों में से किसी भी व्रत का भंग करने वाला छहों व्रत का भंग करने वाला गिना जाता है ॥ २ ॥ मूर्ख जीव सुख के लिए लालनपालन करता हुआ अपने दुख से विपरीतता को प्राप्त होता है अर्थात् दुखी होता है, तथा अपने ही प्रमाद से व्रतों को भंग करता है जिससे संसार में प्राणी का वध होता है। उससे दूसरे को दुख होवे ऐसा काम न करना ही सच्ची परीक्षा है और इसी से शांति प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

नोट—ऊपर बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है कि एक व्रत का भंग होने पर छहों व्रत का—समूचे महाव्रत का—भंग हो जाता है और यह निश्चित ही है कि महाव्रत का भंग होने से साधु वेषधारी साधुत्व-विहीन पतित दम्भी बन जाता है ॥ ३ ॥

अध्याय : ३१

असंव्रत

यह वार वार दिखाया ही जा चुका है कि तेरहपंथी असंव्रती द्रव्यलिंगी साधु हैं, सच्ची साधुता इन में नहीं है। स्पष्टता के लिए यहाँ असंव्रती साधु व प्रमादी साधु के विषय में कुछ प्रमाण दिए जाते हैं जिनको देखने से इन लोगों की असाधुता का पता लगने में सुविधा होगी, सबसे पहिले हम इनके माननीय भिक्षुजी का कथन ही लिखते हैं, उसके बाद सूत्रों के प्रमाण पेश करेंगे।

भिक्षुजी का कथन

छटे गुण ठाणे प्रमाद कह्यो ते किण हीक
वेला लागतो जाणो। विषे कषाय अशुभ जोग
आयां पिण मुढमति करे उंधीताणो ॥ ३० ॥

—शा० शु० भाग २ ढाल ३ आ०

पाठ—

असं वुडेणं भंते अणगारे सिज्झात बुज्झति, मुच्चति,
परिणीव्वाति, सव्व दुक्खाण मंतं करेंति ?

गोयमाणो इणट्ठे समट्ठे ॥ से केणट्ठेणं भंते जाव अंत न करेति ? गोयमा ! असंवुडे अणगारे आउय वज्जओ सत्तकम्म पगडी ओ सि ढिल बंधण बद्धाओ धणिय बंधण बद्धाओ पकरेइ; हस्स काल ठीतीयाओ दिह-कालट्ठितियाओ पकरेइ । मंदाणु भावाओ तिव्वाणु भावाओ पकरेइ । अप्प पदे सगाओ बहु पदे सगाओ पकरेइ आउमंचणं कम्मं सियंबंधइ सिय नो बंधइ असाया वेयाणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणइ, अणा इयं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत संसार कंतार अणुपरियट्टति से तेणट्ठेणं । गोयमा । असंवुडे अणगारे णो सिज्झई ॥ ४२ ॥

—भग० स० १ उ० १ सूत्र ४२

शब्दार्थ—अ० – असव्रत, अ० – अणगार, सी० – सीझे, बु० – बुझे, मु० – मुक्त होवे, प० – निर्वाण पावे, स० – सर्व दुख का, अ० – अत करे, गो०–गोतम, णो० – नही, इ०–यह अर्थ, स०–समर्थ, सह०–वह, के०–कैसे, भ०–भगवान, जा० – यावत, अंत–नही, क० – करे, गो० – गौतम, अ० – असंव्रत अनगार, आ० – आयुष्य, व० – वर्ज कर, स० – शात कर्म प्रकृति, सि० – शिथिल, ब० – बंधन, ब० – बधी हुई को, ध० – निकाचित, बं० –बंधन से, ब० – बद्ध, प० –करे, ह्र० – ह्रस्वकाल की, ठी० – स्थिति को, दि० –दीर्घकाल की, ठि० – स्थिति, प० – करे, मं० – मंद, अनुभाग की, ति० – तीव्र अनुभाग, प० – करे, अ० – अल्प प्रदेश को, ब० – बहुत प्रदेश, प० – करे,

आ० – आयुष्य, क०–कर्म को, सि० – कदाचित, ब० – बाँधे, सि०– कदाचित, नो० – नही, ब० – बाँधे, आ० – असाता, वे० – वेदनीय, क०–कर्म, भु० – बारम्बार, इ०–इकट्ठा करे, अ० – अनादि, अ० – अनन्त, दि० – दीर्घकाल, चा० – चतुर्गति, स० – ससार कतार में, अ० – परिभ्रमण करे, से० – उसको, ते० – इसलिए, गो० – गोतम, अ० – अश व्रत, अ० – अणगार, णो० – नही, सि० – सीझे ॥ ४३ ॥

भावार्थ—अहो भगवन् ! असंव्रत आश्रवद्वार को नहीं रोकने वाला साधु क्या सीझे बुझे कर्म से मुक्त होवे निर्वाण को प्राप्त होवे, वह सब दुखो का अंत करे? अहो गोतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अहो भगवन् ! किस कारण से असंव्रत साधु सीझे नहीं, बूझे नहीं, दुखों का अन्त करे नहीं? हे गौतम ! असंव्रत अणगार आयुष्यकर्म छोड़ कर अन्य सात कर्मों की प्रकृतियो का शिथिल बन्धन हुआ हो तो उसका निकाचित बंधन करता है, ह्रस्व काल की स्थिति वाले कर्मों को दीर्घ काल की स्थिति वाला बनाता है, मंद रस देनेवाले कर्मों को तीव्र रस देने वाला करता है, अल्प प्रदेश आत्मक कर्मो को बहु प्रदेश आत्मक कर्म बनाता है, आयुष्य कर्म का बन्धन किसी समय करता है किसी समय नहीं करता है, असातावेदनीय कर्म पुनः पुनः संचित करता है, और अनादि अनन्त संसार कंतार मे परिभ्रमण करता है, इसीलिए हे गौतम ! असंव्रत अणगार (साधु) सीझे नहीं यावत संसार का अन्त करे नहीं ॥

पाठ—

ते दुविहा प० तं० पमत्त संजयाय अयमत्त संजयाय, तत्थणं जोते अयमत्त संजया तेणं

णो आयारंभा, णो, प्रारम्भाजाव अणारंभा,
तत्थणं जे ते पमत्त संजया ते सुहंजोगं पडुच्च
णो आयारंभा णो परारंभा जाव अणारंभा
असुहं जोगं पडुच्च आयोरंभावि जाव णो
अणारम्भा ॥

—भगवती० श० १ उ० १ सूत्र ३८ का अंश

शब्दार्थ—ते० – वह, दु० – दो प्रकार के, प० – प्रमत्तसंयमी अ० – अप्रमत्त सयमी, त० – तहाँ, जे० – जो, अ० – अप्रमत्त सयमी, ते० – वें, नो० – नही, अ० – आत्मारम्भी, णो० – नही, प० – प्रारम्भी, जा० – यावत्, आ० – अनारम्भी, त० – तहाँ, जे० – जो, प० – प्रमत्त सयमी, ते० – वे, सु० – शुभ योग, प० – आश्रित, णो० – नही, आ० – आत्मारम्भी, जा० – यावत्, अ० – अनारम्भी, आ० – अशुभ योग, प० – आश्रित, आ० – आत्मारंभी, जा० – यावत् णो० – नही, अ० – अनारम्भी ॥ ३८ ॥

भावार्थ—[संयमी के दो भेद है—(१) प्रमत्त संयमी (२) अप्रमत्त संयमी] अप्रमत्त संयमी आत्मारम्भी प्रारम्भी उभयारम्भी नहीं हैं परन्तु अनारम्भी हैं और जो प्रमत्त संयमी है वे शुभ योग आश्रित आत्मारंभी प्रारम्भी व उभयारम्भी नहीं हैं परन्तु अनारम्भी है और अशुभ योग आश्रित आत्मारम्भी प्रारम्भी उभयारम्भी हैं परन्तु अनारम्भी नहीं हैं ।

पाठ—

संयं संयं पसंसंता गरहंता परं वयं जे उ
तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया ॥ २३ ॥

—सुय० प्र० श्रु० अ० १ उ० २ सूत्र २३

शब्दार्थ—सं० – स्वय स्वय को, प० – प्रशंसा करते हुए, ग० – निंदा करते हुए, प० – दूसरे को, व० – वचन, जे० – जो, त० – वहाँ, वि० – विद्वत्ता बताते, स० – संसार में ही, वि० – रहेंगे ॥

भावार्थ—अपने दर्शन की प्रशंसा करता हुआ और अन्य दर्शन की निंदा करता हुआ जो अपना पंडितपन बतलाता है वह अनन्त काल तक चतुर्गतिमय संसार में रहेगा।

पाठ—

से बेमिसे जाहावी अणगारे उज्जुकडे णियाय पडिवण्णे अमायं कुव्वमाणि वियाहिते जाए सद्धाए णिक्खंते तमेव अणु पलिज्जा विजहिचा विसोत्तियं (पाठान्तर-पुव्वसंजोगं) पणया विरा माहा वीहिं ॥ १ ॥

—आचा० प्र० श्रु० अ० १ उ० ३ सूत्र १

शब्दार्थ—से० – अब, बे० – मैं कहता हूँ, से० – वे, जा० – तथापि, अ० साधु, उ० – आर्य कर्तव्य के करने वाले, णि० – मोक्ष-मार्ग, प० – प्रतिपन्न, अ० – अमाया को, कु० – करते हुए, वि० – कहे, जा० – जिस, स० – श्रद्धा से, णि० – निकले हैं, त० – उसी श्रद्धा से, अ० – पालन करे, वि० – छोड़ करके, वि० – संग, पु० – पूर्व संयोग, प० – वीर पुरुषो ने कहा, मा० – मुक्ति का मार्ग ॥

भावार्थ—(हे जंबू) मैं तेरे से कहता हूँ कि पूर्वोक्त रीति से पृथ्वीकाय के आरम्भ से जो निवृत्त हुए हैं वे साधु सरल संयम को पालने वाले मोक्षमार्ग में प्रतिपन्न कपट नहीं करने वाले कहे हैं, उनको उचित है कि जिस श्रद्धा से संसार का त्याग किया संयम लिया, उसी ही श्रद्धा से शंका तथा पूर्व

संयोग का त्याग करके संयम का पालन करें; क्योंकि यही मुक्ति का मार्ग तीर्थंकर शूरवीरों द्वारा आराधन किया हुआ है।

पाठ—

मुणिणा हुएण पवेइयं अणो हतरा एत णय ओहं तरित्तए अतीरंगमा एते णय तीरगमित्तए अपारंगमा एते णय पारंगमित्तए ॥ ११ ॥

आयाणिज्जं च आयाय त मि ठाणेण चिट्ठइ, वितथं पप्प अखेपन्ने तं मि ठाणामि चिट्ठइ ॥१२॥

उद्धेसो पासगस्स णत्थि ॥ १३ ॥

बाले कुण णहे काम सम णुण्णे असमित दुक्खे दुक्खी, दुक्खाण मेव आवट्टं अणपरिय इत्तिबेमि ॥१४॥

—आचा० प्र० श्रु० अ० २ उ० ३ सूत्र १२, १३, १४

शब्दार्थ—मु० – तीर्थंकर ने, हु० – निश्चय, ए० – यह, प० – कहा है, अ० – भवसागर से तिरने वाले, ते० – ये, ण० नही, ओ० – ओघ, त० – तिरे, अ० – तीर को प्राप्त नही हुए, ए० – ये, ण० – ती० – तीरगामी, अ०—नही पारगामी, ए० – य, ण० – नही, पा० – पारगामी ॥ ११ ॥

आ० – आदरणीय, च० – निश्चय, आ० – आदर करके, त० – उस, ठा० – स्थान में, ण० – नहीं, चि० – रहे, वि० – असत्य, प० – प्राप्त कर, अ० – आखे, त० – उस, ठा० – स्थान में, चि० – रहे ॥ १२ ॥

उ० – उपदेश, पा० – तत्वज्ञान का, ण० – नही है ॥ १३ ॥

बा० – मूर्ख, कु० – फिर, ण० – स्नेह, का० – काम भोगो को अच्छा जाने, अ० – उप समय नही, दु०—दुख से, दु० – दुखो को,

दु० – दुखों को, आ० – आवर्त में, अ० – पर्यटन करता है, ६० – ऐसा, बो० – मैं कहता हूँ ॥ १४ ॥

भावार्थ—तीर्थंकर भगवान ने निश्चय नय से ऐसा वर्णन किया है कि जो कुतीर्थीक तथा पार्श्वस्था आदि हैं, वे संसार समुद्र के प्रवाह को तिरने में तीर पहुँचने में पार होने में असमर्थ हैं अतएव न तो वे तिर सकते हैं और न वे तीर पार पहुँच सकते हैं और न पार हो सकते हैं, क्योंकि अज्ञानी जिन-आदरणीय संयम को ग्रहण कर उस संयम में नहीं ठहरते हैं और कुगुरुओं के मिथ्या उपदेश को ग्रहण करके उस में ही तिष्ठते है, इसीलिए वे पार नहीं पहुँच सकते। तत्वज्ञानी पुरुष को उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे हमेशा न्यायपंथ गामी होते हैं परन्तु जो अज्ञानी जीव है वे बारम्बार रोग के उदय से काम भोगों को भला जानते हैं, इसी से असंख्य दुखों में पड़कर शारीरिक और मानसिक दुखों के चक्र में पर्यटन करता रहता है ऐसा मैं कहता हूँ ॥

पाठ—

सव्वामगंधं परिण्णय णिरामगंधो परिव्वए ॥ ३ ॥
आदिस्सयाणो कयविक्कए सुसे ण किणे ण
किणावए किणंतं ण समणु जाणए ॥ ४ ॥

—आचा० श्रु० १ अ० २ उ० ५ श्रु० ३ व ४

शब्दार्थ—स० – सर्व दोष को, प० – जान कर के, णि० – निर्दोष, प० – परिवर्तन करे ॥ ३ ॥

आ० – उपदेशरहित, क० – क्रयविक्रय, ण० – नही, कि० – क्रय करे, ण० – नही करावे, कि० – करते को न अच्छा जाने ॥

भावार्थ—साधुओं को सदैव यही कर्तव्य है कि सर्व दोषों का त्याग कर निर्दोष रीति से परिवर्तन करे ॥ ३ ॥

क्रय विक्रय के उपदेश से रहित साधु आहारादिक वस्तुओं का क्रय विक्रय करे, करावे नहीं कराते को अच्छा जाने नहीं।

ऊपर जितने पाठ दिए गए हैं वे सब तेरहपंथियों के जीवन पर अच्छी तरह घटते हैं। असंव्रत साधु के विषय में यहाँ जो कुछ कहा गया है वह उनके सम्बन्ध में सत्य समझना चाहिए। इन प्रमाणों को देख कर भी वे अपने पतन को न देखें, अपने को गिरते से न बचाएँ, अपने को ऊपर उठाने की कोशिश न करें तो यह उनका बहुत बड़ा दुर्भाग्य ही कहना चाहिए। मैंने यह अध्याय केवल इसलिए लिखा है कि वे इसे पढ़ कर अपनी आत्मा को टटोल कर देखें और आत्मकल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर हों। आशा कम है, फिर भी निराशा के विरुद्ध आशा है। मेरी शुभ भावनाएँ इनके साथ है। भगवान इन्हें अकल्याण से बचाए।

अध्याय : ३२

आलोचना

शास्त्र मे बताया गया है कि साधु से कोई दोष हो जाए, तो उसे उसकी आलोचना करनी चाहिए लेकिन तेरहपंथियों में यह बात नहीं है। वे दिन रात सैकड़ों दोषों का सेवन करते हैं, गुप्त रीति से मोटे मोटे पाप भी कम नहीं करते हैं लेकिन वे कभी उनकी आलोचना नहीं करते। वे तो आलोचना का रिवाज पीटते है, और जहाँ रिवाज को रिवाज मान कर करने का ध्येय हो वहाँ दिल का काम ही क्या है। ऐसी क्रिया मे शरीर तो उपस्थित रहता है, मन नहीं होता। ऐसी क्रिया का ढाँचा रह जाता है, उस में से प्राण निकल जाता है। इन लोगों की आलोचना आज ऐसी ही निष्प्राण हो गई है, लेकिन दुख तो यह है कि बाहरी रूप में भी इनकी आलोचना दोषों व पापों की आलोचना नहीं है।

ये लोग निम्न प्रकार आलोचना करते हैं—

(१) रायशी के वक्त आचार्यजी को वंदना करके व गुण ग्राम करने के बाद बोलते है—

"खमागणी अन्नदाता रात्रि पाँच समिति तीन गुप्ति अशा-वध पणें विन पूज्या हात पग पसाऱ्या हो आल झंझालादि आवे तो वह कहे कि आल झंझालादि आव्या, माठा आवे तो माठा स्वपन्ना दियाया"।

(२) देवशी के वक्त उपर्युक्त पद्धति से गुणग्राम करके पाँच समिति तीन गुप्ति गोचरी व पंचमी व विहारादि की आलोचना करते हैं।

इस तरह यह स्पष्ट है कि ये लोग अपने दोषों की अपने अपराधों की, अपने पापों की व अपनी दुर्बलताओं की न तो मुँह से ही आलोचना करते हैं और न मन से ही। मुँह से करते मन से न करते तो भी आलोचना का कोई बाहरी रूप तो होता लेकिन वह भी नहीं है। ये लोग अपने दोषों को छिपा लेते हैं, मन में भी आलोचना नहीं करते हैं क्योंकि मन ही मन में भी आलोचना करते तो उन दोषों को बार बार न करते बल्कि धीरे धीरे दोषों से दूर, सद्गुणी पवित्र और महान बनते जाते लेकिन यहाँ तो गंगा उलटी ही बह रही है। एक पाप करके उसकी आलोचना करना बल्कि प्रायश्चित भी कर लेना अच्छा है लेकिन उस आलोचना या प्रायश्चित को सार्थक एवं सफल बनाने के लिए यह जरूरी है कि वह पाप फिर न किया जाय। आज पाप किया आलोचना कर ली, कल फिर वही पाप किया फिर आलोचना करी, परसो फिर वही पाप किया और फिर आलोचना कर ली और इस तरह पाप और आलोचना का क्रम

चलता रहा तो वह आलोचना आलोचना नहीं हैं, वंचकता है दम्भ है। **पाप की सच्ची आलोचना उसे फिर न करना है।** जिस आलोचना का चरित्र आचरण अथवा व्यवहार पर असर न पड़े वह आलोचना झूठी है निरर्थक है। इसीलिए शास्त्र में अधिक से अधिक तीन बार आलोचना नाम का प्रायश्चित करना लिखा है और यह लिखा है कि चौथी बार वह पाप हो तो उस व्यक्ति को साधु संग से निकाल देना चाहिए।

देखिए—

पाठ—

> तिहिं ठाणेहीं समणे निग्गंथे साहम्मियं संभोइयं विसंभोइयं करेमाणे णाइक्कमई तं सइंवा दट्ठू सढियस्स वा निसम्म तच्चमोसं आउट्टइ चउत्थं नो आउट्टई ॥ ६ ॥
>
> — ठा० ठा० ३ उ० ३ सूत्र ६

शब्दार्थ—ति० – तीनस्थान से, सं०—श्रमण, नि० – निर्ग्रंथ को, सा० – स्वधर्मी को, सं० – संभोगी वि० – विसंभोगी, क० – करता हुआ, ण० – नही, अ० – उल्लघन करता है, स० – एकदा, द० – देखकर, स० – सभा में, नि० – सुनकर, त० – तीसरी बार, मो० – झूठ, आ० – प्रायश्चित देता है, च० – चौथी बार, नो० – नहीं, आ० – प्रायश्चित देता है ॥

भावार्थ—अपने स्वधर्मी साधुओं में से किसी ने पाप-कर्म का सेवन किया हो और पूछने पर न कहे या असत्य बोले तो

उसका निर्णय कर के योग्य प्रायश्चित देकर उसे शुद्ध करे, फिर ऐसा कार्य करे तो भी उसको प्रायश्चित देकर शुद्ध करे और तीसरी वार भी ऐसा करे तो उसे सभा में प्रायश्चित देकर साथ आहार पानी करे। परन्तु यदि चौथी वार फिर वह पाप करे तो उसे प्रायश्चित न दे बल्कि उसे संघ के वाहर कर दे। ऐसा करने वाला तीर्थंकर की आज्ञा का उल्लंघन करनेवाला नहीं है।

पाठ—

से जाणं अजाणं वा कट्टु आहम्मियं पयं।
संवरे खिप्पमप्पाणं, बियंतं न समायरे ॥३१॥
अणायार परक्कम, नेवगूहे न निण्हवे। सुइसया
वियड भावे, असंसत्ते जि इंदिए ॥ ३२ ॥

—दशवै० अ० ८ सूत्र ३१ व ३२

शब्दार्थ—से० – वे साधु, जा० – जानके, अ० –अ नजान में, वा० – फिर, क० – करके, आ० – आधाकर्मी, प० – पटराग द्वेष करके मूलगुण उत्तरगुण का विराधना रूप, स० – छोड़े, खि० – शीघ्र, अ० – आत्मा से करनी करके पाछे आलोचना करना प्रायश्चित लेना, वि० – दूसरी बार, तं० – वह अधर्म का सेवन करे ॥ ३१ ॥

अ०–कदाचित् अनाचार सावद्य व्यापार, प०–सेवन करके गुरु के पास आलोचना करे जब, ने० – नहीं, गू० – गुप्त न रखे, न०– नहीं, नि० – वह सर्व प्रकार से आलोचना न करे, सु० – निर्मल चित्त से, स०–हमेशा, वि०–प्रकट, भा०–भाव से, (माया रहित होकर) अ०– गृहस्थ के प्रतिबन्ध रहित, जि० – पंचेन्द्रिय जीत कर विचरे ॥

भावार्थ—किसी समय जान बूझकर या अनजाने में कोई अधर्म कार्य होगया हो अर्थात् मूलगुण उत्तर गुण की विराधना हुई होवे तो शीघ्र ही आलोचना करके निवृत्त होवे और पुनः ऐसा नहीं करे ॥ ३१ ॥ शुचिभाव धारण करने वाले, सदैव प्रकट भाव धारण करने वाले, इन्द्रियों को वश में रखने वाले और प्रतिबंध रहित साधु अनाचार का सेवन करके उसे न छुपाएँ।

नोट—यहाँ संयमी साधु को अनाचार न छिपाने अर्थात् अपने दोष को प्रकट कर देने का आदेश है। यह प्रकटीकरण आलोचना का मुख्य अंग है।

और भी देखिए—

(१) निशीथ उ० सूत्र १९ में बताया है कि प्रायश्चित योग्य साधु के साथ चारों आहार करने कराने को अच्छा जानना गुरु चौमासिक प्रायश्चित का विधान है।

इस तरह हम देखते हैं कि तेरहपंथी दोप-सेवन तो बहुत करते हैं किन्तु आलोचना नहीं करते हैं। बार बार दोष-सेवन करने पर बार बार आलोचना की जाय तो भी उसका कोई मूल्य नहीं हैं, लेकिन वे लोग वैसा भी नहीं करते हैं। मोक्षमार्ग के अनुगामी का कोर्स बहुत कठिन होता है और यह संभव है कि मार्ग में उससे भूलें हो जाँय। उन भूलों को निराकरण करके भविष्य में उनसे बचने के लिए आलोचना का विधान है।

आलोचना करने पर पाप से बचना चाहिए। इस तरह जीवन के लिए आराधना के लिए आलोचना बड़ी जरूरी और महत्त्वपूर्ण चीज है जिसका दुरुपयोग भी नुकसान पहुँचने वाला होता है और अनुपयोग भी। इन तेरहपंथियों में उसका उपयोग है ही नहीं, और जो कुछ है वह प्रायः परम्परागत रिवाज मात्र मान्य होने से दुरुपयोगमय ही है। पाठक वृन्द विचार पूर्वक देखे और निर्णय करें।

अध्याय : ३२

हाज़री और लेख

निम्न लेख सामान्य साधु आचार्यजी के समक्ष हाजरी के समय चौथे दिन पढ़ा करते हैं और रोज इस लेख पर हस्ताक्षर किया करते हैं। उस लेख की नकल नीचे दी गई है—

मत्थेएण बंदामी हाथ जोड आपसुं अर्ज करूं महाराजाधिराज श्री० भिक्षु १ भारीमाल २ ऋषिराय ३ जयजश ४ मघवा ५ माणक ६ डालगणी ७ कालुराम ८ तुलछीगणी राज महाराजाधिराज की बांधी मर्यादा सर्व कबूल छे। खोली मेसास रैवे जटा ताई लोपवारा त्याग छे। आप महादयाल छो, गवाल छो, रुषपाल छो, श्रेम पुज्य परमेश्वर भगवान छो, सूत्र में आचारज का ३६ गुण कह्या त्या गुणां करी सहित छो। पांच महाव्रत ना पालनहार, चार कषाय ना टालणहार, पांच इन्द्रीया ना जीतणहार, पांच आचार ना पालणहार, एहवा तिरण तारण उत्तम पुरुष आपने जाणुं छुं। आपरी आज्ञा में चाले साधु साध्वी त्यांने १४ हज़ार

३६ हज़ार आगे विरथकाँ हुंता त्या सरीखा सरधु छुं। चोखो साधपणो सरधु छुं। म्हा में पणि चोखो साधपणो सरधु छुं। आपरी आज्ञा लोपी टालोकड हुवे तिणाने अढाई द्वीप का चोर सुं मोठो चोर सरधु छुं। आपरा अव-गुणवाद बोलने वाला ने भागल भिष्ट अन्यायी महामोह-नीय कर्म को बांधण हारो, नर्क निगोद में जावण वालो, अनन्त जन्ममरण को धधारण वालो, इसो काम करवारा म्हारे तो जीवजीव त्याग छे। टालोकड भेले आहार पाणी करवारा त्याग छे। पोथी पाना साधे लेज्यावणरा त्याग छे। सरधारा क्षेत्र में एक रात उपरांत रवणरा त्याग छे। अनन्तासिद्धारी आण छे। पांच पदारी साखसुं जावजीव पचक्खाण छे। ये लेख घणो राजी तिखें मनसु लिख्यो छे। सरमा सरमीसु लिख्यो नथी। संवत्—मिती—सही।

इस तरह उपर्युक्त मजमून के लेख पर रोज सामान्य साधुओं के हस्ताक्षर लिए जाते है और सप्ताह में दो बार हाजरी होती है, श्रावकों के सन्मुख जब अनुक्रमण में खड़े रहते हैं। समझ में नहीं आता यह हाजरी क्यों होती है? हाजरी तो चोर डाकुओं ठगों और बदमाशों की हुआ करती है अथवा स्कूल व बोर्डिंग के विद्यार्थियों की होती है। भला पंचमहाव्रतधारी साधुओं की हाजरी कैसी? अनन्त सिद्धो की साक्षी से त्याग करनेवाले महाव्रतधारी साधुओं की यह दुर्दशा हो सकती है? कदापि नहीं। ऐसी हालत तो ढोंगी पेटू साधु-वेषधारियों की ही होनी संभव

है। ऐसी पद्धति कभी भी जैन संप्रदाय में प्रचलित नहीं थी। जिसका अविश्वास होता है, जिसकी तरफ़ से खतरा होता है अथवा जो अविश्वसनीय होता है उसकी लिखापढ़ी की जाती है। आचार्यजी की आत्मा अन्दर ही अन्दर दोषी होने से दूसरों की ओर से सशंकित रहती है। यही नहीं, वे जानते है कि वे स्वयं और सब सामान्य साधु दोषी हैं और दोष दूर नहीं हो सकते, इसलिए मूर्ख गृहस्थों को बहकाए रखने के लिए, भोले भाले भक्त हृदयो की आँखों में धूल झोंकने के लिए यह तरकीब की जाती है। यह प्रथा चौथे पट्टधर आचार्य जीतमलजी ने चालू की थी। साधुओं की शिथिलता और स्वेच्छाचारिता को देखकर वे अपनी चतुर बुद्धि से समझ गए कि यही बेढंगी रफ़्तार रही तो समाज इनके प्रति अश्रद्धालु हो जायगी अतः समाज को अटकाए रखने के लिए, श्रावकों की श्रद्धा को ढीली न होने देने के लिए उन्होंने यह जाल रचा, ताकि मौके पर कहा जा सके कि देखो, हम लोग तो रोज़ ऐसी प्रतिज्ञा व घोषणा करते है, आदि आदि। सच तो यह है कि यह पद्धति ही स्पष्ट संकेत करती है कि दाल में काला है, अन्यथा कहाँ महाव्रतधारी मोक्षमार्ग के अनुगामी संसार-विरक्त वीतरागी महात्मा और कहाँ यह लिखा-पढ़ी ?

इस लेख में ऐसी गर्वोक्ति है कि हमारी कोई चूक नहीं है। पहिले अध्यायों से यह बताया जा चुका है कि इन लोगों का जीवन कमज़ोरियों दोषों और पापों का भंडार है, इस पर भी ये लोग अपने को अचूक कहने की हिम्मत कर बैठते हैं।

आश्चर्य तो उस समय होता है जब ये लोग यह कहने का भी दुःसाहस कर बैठते हैं कि भगवान महावीर और गौतम स्वामी से चूक हो गई थी। जब चौदह पूर्व और चार ज्ञान के धारक गौतम स्वामी भी चूक कर सकते हैं तो इन अनिर्मल मतिश्रुत ज्ञान वाले महा अल्पज्ञानी, अत्यन्त कम विवेकी नास-सझ लोगों से तो असंख्य चूकें होनी चाहिए, लेकिन इनकी गुस्ताखी तो देखिए कि अपने आपको बेचूक मानते हैं। यह तो "अपने मुँह मियाँ मिट्ठू" बनना है।

हाजरी के समय आचार्यजी सामान्य साधुओं से जो प्रश्न पूछते हैं—जैसे साध्विओं से तथा बाइयों से बातचीत करने का काम पड़ा या नहीं, गोचरी में पानी की धार लगी या नहीं; आदि आदि — तो ये लोग उत्तर में 'नहीं काम पड़ा दीखता है, धार नहीं लगी दीखती है, आदि आदि' कह कर साफ़ झूठ बोल जाते हैं। आहारादि की पांती के समय आर्यि-काओं से तथा बाइयों से बातचीत का काम पड़ ही जाता है, सैंगटा हो ही जाता है, फिर भी ये लोग साफ़ इनकार कर देते हैं। इसे कहते हैं सफ़ेद झूठ।

ये लोग रोज़ उक्त लेख पर हस्ताक्षर करते हैं तथा चौथे दिन हाजरी में इसे पढ़ते हैं। इस लेख में भी त्याग है तथा ऊपर से भी मुँह से बोल कर स्वयं या आचार्यजी के कहने पर त्याग करते हैं। बारबार त्याग क्यों? त्याग किया जाता है, फ़ौरन ही तोड़ दिया जाता है, फिर त्याग कर लिया जाता है।

यह सिलसिला चलता रहता है। इस तरह इनकी हाज़री के त्यागादि से पता लगता है कि इनके त्याग से संयम का कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि रिवाज से है। 'लकीर के फ़कीर' ऐसे ही आँखों के अन्धों को कहते हैं। देखिए—

(१) दश० श्रु० अ० २ में बार बार त्याग करके उसको तोड़ने वाले को 'सबळा' दोष का भागी बताया है।

(२) निशीथ उ० १२ सूत्र ३ में बार बार त्याग तोड़ने में चौमासिक दंड बताया है।

(३) दशवे० अ० ४ में एक ही बार साधु-दीक्षा लेने के समय त्याग करने का विधान है।

(४) ठा० ठा० १० में दस प्रायश्चित का विधान है, निशीथ में अनेक दंड का विधान है मगर बार बार त्याग करने का कहीं विधान नहीं है। छद्मस्थ की चूक होना संभव है मगर ये तो अपने को अचूक मानते है, फिर यह गड़बड़ क्यों? विचारशील पाठक विचार करें।

अध्याय : ३४

छट्ठा गुणस्थान

छठे गुणस्थान के सम्बन्ध में तेरहपंथी आचार्यों ने निम्न रचना द्वारा अपना मन्तव्य प्रकट किया है—

छटा गुणस्थान लेखो। वुकस पडी सेवणा की उत्कृष्टी थीती देशउणी कोड पुर्वरी कही पीण दोष सेवो दंड न लियो। जटाताणी व्रुकस पडी सेव्रणा संभवे। ते माटे आलोवणा लिया पिछे कषाय कुशील संभवे। विना अलोया मरे तो व्रुकस पडी सेव्रण इतने छटे गुणस्थाने कही वैमानिक पणे अभी योगयादिक में उपजेते नव हजार मांही छे तीणसुं भव अधीक नहीं करे। छटे गुणस्थाने मरे तो विराधक पणा में मरे तो देवतारा सुखा में हाणी पडे पीण पनरे भवसु अधीक न संभवे। नव हजार क्रोड माहि पिण कहीये। भगवती शतक १० में उद्देशे दुजे कयो चर्मकाल समये अलोवे वस्तु इम चिंतवो वे दोष लगावे छे। छेड़े आलोवे तो आराधक कह्यो। बीना आलोया मरे तो 'वीराधक। नवी' दिक्षा आवे जीसो दोषसहित मरे तो गुणस्थान नहीं फिर वीराधक छे। छटो गुणस्थान कहीये

तीनसुं पंधरा भवसु अधिक न संभवे। आभोगीयादिक देव हुवे देवतांरा सुखा में हाणी पडे गुण ठाणो छठो हुतो **सरधा फिरा पहिले** गुण ठाणो आवे समकत चरित्रनो विराधक कहीये। उत्कृष्टो देस उणो अर्ध पुद्गल रुले ते समकितनो विराधक मरी देव हुवे तो असुर कुमारादिक में उपजे अने छटो गुणस्थान हुवे तो नवी दिक्षा आवे जीसो काम कर्‍यो तथा साधपणो पालबारा परिणाम न हुवे इम धारीले माहासु नहीं पले तो सर्व चारित्र नो विराधक्र छे। छटो गुणस्थान फीर पीण समगत राखे देस वरत में मरे तो पांचमो गुण स्थान कह्यो। देशवरत न धार्‍या तो चौथो गुणस्थान कहीये। समगत सहीत मरे तो वैमाणीक हुवे। सर्व चरित्र विराधक पीण सर्वथा समकतनो आराधक ते माटे भव असंख्या तासु अधिक न करे। भगवती शतक ८ उ० १० में तथा टीका में कह्यो जघन्य ज्ञान दर्शन ना आराधक चारित्र सहित छे। ते चारित्र ना वलसू उत्कृष्टा पनरा भवसु अधिक न करे अने देश वरतनो तथा समगतनो आराधक तेहना असंख्याता भवकाया ते माटे साधू पणानो विराधक सर्वथा छे। पीण समगत देशवर्तनो आराधक थाय उत्कृष्ट असंख्याता भव संभवे। अनो छटो गुणठाणा वालो चोमासी छमासी ताई दोषसहित बिना आलोया मरे तो तेहनो चारित्र नो देस थी विराधक कह्यो तीण सु छटो गुणस्थान **न फिरे भव पंधरा सु अधिक** न करे। देवतांरा सुखा में हाणी पडे अभोगीयादिक हुवे बुकस पडी सेवणा ना पंधरा भव छे। ते माटे भव न वधे कोई पुछे छमासी दोष सेवी ने मन में धारी जाव जीव ताई आलोबारा

भाव नहीं तो छठो गुण स्थानो फिरे के नहीं। तेहनो उत्तर कोई आचारज की आज्ञा लोपी ने एक भुंगडो जाणी ने भोगवे तथा इसो नानो दोष जाणीने सेव्यो अने एक जानो तो आलोवता तो दोप जीसो प्रायश्चित नानो दोप हुवे तो थोड़ो साधपणो भांगो तिणसु थोड़ो दंड देवे। घणो न भांगो तीणसु मोटो दंड न देवे। अने तेहीज भुंगडादिक भोगवी तथा नानो दोष सेवी जाव जीव ताईं आलोउ नहीं इसी मन में धारी पछे जाव जीव ताईं उरे साधपणारी क्रिया अखण्ड पाले पीण ते दोष आलोयनारा भाव नहीं ते विना आलोया काल करे तो विराधक थयो। पिण छटो गुणस्थान गुण ठाणो नहीं गयो। सर्व साधूपणो भांगे जीसो दोप न सेव्यो ते माटे थोडो साधपणो भांगे जीसो दोष सेव्यो ते माटे विराधक थयो अनेघणा वरसारो साधपणो सावत रयो तीणसु छटो गुणठाणो फिरे नहीं देश थकी संजमनो विराधक पीण सर्व संजम नो विराधक नहीं तेहनो छटो गुणठाणो केम फिरे इम हिज छमासी दोप आलोवणारा भाव नहीं ते पीण देश थकी चारित्र नो विराधक छमास नो चारित्र गयो पीण घणा वरसारो चारित्र देखता छमासी दोप भुंगडा वरोवर जाणवो ॥ १ ॥

आचारज उपाध्याय विना रहणो न कल्पे तथा पवित्रणी विना रहणो न कल्पे कह्यो। व्यवहार उ० ३ ते उत्कृष्ट विधि आसरी संभवे तथा चोथा आरानी अपेक्षाय ए बोल संभवे। जीम भगवती शतक २५ उ० ७ छे दो स्थापनी चारित्र वाला जघन्य दोयसोह क्रोड उत्कृष्टा नवसोहे क्रोड कह्या। ते महा विदेय

में अने वाबीसा के बारे तो नथी अने पहला छेहलाके के बारे १०
खेत्रा में छे तीहा टीकाकार कह्यो पांचमा आरा के छेहडे
इण भरत में एक साधु एक साध्वी रहसी। इम एकीका क्षेत्र
में दोय २ रे लेख १० क्षेत्रा २० संभवे। अने जघन्य उत्कृष्टा
प्रत्येक सो क्रोड याते आदि तीर्थंकरनी तीर्थनी अपेक्षा छे। थोडा
हुवे तो जघन्य में घणा हुवे तो उत्कृष्टा इम कहया। तीम आचा-
रज उपाध्याय बिना तथा पवित्रणी बिना रहणो न कल्पे कह्यो
ते पिण चौथा आरानी अपेक्षा संभवे। अने पांचमा आरामे कदे
एक साधु साध्वी घणा हुवे अने कदे एक थोडा हुवे छे हेड एक
साधु एक साध्वी रहसी तीवसुं उपाध्याय पवित्रणी बिना न रहणो
एहवो नियम नथी जणाय ॥ २ ॥

साधु साध्वी संगव से संग भुजई पाट कह्यो। ए दिनरी
अपेक्षाय एंक थानक में बसवी तथा आहार करवो कह्यो। ते
माटे इंहा वसणो वरज्यो। ते रात्री आसरी ॥ ३ ॥

निशीथ में साधु साध्वी ने साथे विहार करणो वरज्यो। ते
विषे परिणाम आसरी वरज्यो। पिण उरें नहीं अठके ॥ ४ ॥

साधू छटे गुणस्थाने आराधक तथा विराधक पणे मुवो तो
पंडित मरण कहीये। विराधक हुवो तो पीण पडीत पणो न
गयो। आगे सुखा में हाणी पडे पिण पंडीत विरज छे। तिणसु
पंडीत कहीजे ॥ ५ ॥

कर्मचन्दजी स्वामी पूज्यजी महाराज ने पूछा करी के
नवी दीक्षा केम आवे। जद पूज्यजी महाराज फरमाई पहला

महाव्रत में तो मिनख (आदमी) मारे तथा गाय भैंस बकरी कुत्तो मोन्यादिक मारे तो नवी दीक्षा आवे। पिण चीडी, कांग, कबूतर परमुखरो प्रायश्चित आवे। **दूजा महाव्रत में** मोटी झूठ आपरे बोल्या सु मिनख (आदमी) आदि ने मार नाखे तो नवी दीक्षा आवे। **तीजा महाव्रत में** साधर्मी ना चेलादिकनी चोरी करे तो नवी दीक्षा आवे। **चौथा महाव्रत में** देवी सुं मनुषणी सुं तिर्यंचणी सुं मैथुन सेवे तो नवी दीक्षा आवे अने स्त्रीयादि रे हात लगावे तो चोलो, पचोलो रे आसर देणो। **पांचवा महाव्रत में** मोटी वस्तु रत्नादिकरी, हीरा आदिक एक मास उपरांत राखे तो नवी दीक्षा आवे। मांस पला दे देवे तो प्रायश्चित आवे॥

उक्त रचना के अतिरिक्त छट्ठे गुणस्थान के सम्बन्ध में तेरहपंथी आचार्यों की अन्य रचनाएँ भी देखिए—

ढाल २० की झीणी चर्चा

[जयाचार्यजी]

चारीत्र देश विराधक चरणनो, छटो गुण ठाणा माहि। बुकुसना भव न्याय कर तसु भव पधरे जणाय॥ २॥ चारीत्र ले सहु विराधीयों, रह्यो चौथे गुणठाण। फुलाक लब्ध फोडी सैन्या नसावे, मुल उत्तर गुण में दोष लगावे॥ समझे नर विरला॥ ३॥

तिणने पुलाक नियंठो कह्यो—जगभाण—ए छटै गुण ठाणरे॥ १॥ वली प्रमत्त गुण स्थाने चवद जोग जोय

असत्य मिश्र वचन मन होयरे ॥ ६ ॥ हंस वायसादिक रूप विविध बणावे, असिचरम सहित नर थावेंरे ॥ सम० ॥ तो पिण प्रायःश्चित ले सुध थावे—ए पणि पाठ भगवती मांयेरे ॥ ७ ॥ हय रूप बहु योजन जायतिरारे – जिणनेविर कह्यो अणगार रे ॥ स० ॥ निश्चय करीने तिणाने आश्व न कहियै । ये पिण पाठ भगवती मै लहीरे ॥ ८ ॥ मासीक चौमासीक निशीथ में दाख्या । त्यांरा पाठ हजारां भाष्या रे ॥ स० ॥ प्रत्यक्ष ए छटो गुणठाणो–तिण में शंका काय मै आणो रे ॥ ९ ॥ दंड न ले राखै मन में सल तो उणारी उणने मुसकल रे ॥ स० ॥ पिण दोष सेवण री नहीं थाप । तिण सुं छटो गुण ठाणो मिलायरे ॥ १० ॥

२१ वीं ढाल की गाथा

[जयाचार्यजी]

पडि सेवण मुल उत्तर तणोंरे । दंडे सुं सेन्या भगोयंजी । पुलक नियंठो तसु कह्योरे भाई । उतो छटे गुणठाणे होय ॥ ४ ॥ पडि सेवणा उतर गुण तणो रे । बिजो बुकस जोय जी । जघन्य दोय सै क्रोड सुरे भाई ओछा कदे नहीं होय ॥ ५ ॥ वायसं हंसादिक तणारे । विविध रूप वे कोयजी । बागल जलोक पंखि या तणारे । भाई चक्र छत्र धर जोय ॥१४॥ वनखंड बावडी रूप करे रै । शतक तेर में जोयजी । नव में उदेशे निहाल ज्यो रे भाई । ते पिण दंड लिया शुद्ध होय ॥ १५ ॥

एकम पूनमचंदजी सारे। वद पखचंद सु जोयजी। ज्ञाता अध्ययन दश में जिन कह्यो रे। मांहरा साध साध्वी होय ॥ १८ ॥ छटो गुण ठाणो जावे नहीं रे। वीर वचन अवलोयजी। स्वामी देख छदमस्थ नीरे। आतो समकित तूं मत खोय ॥ १९ ॥ नई दीक्षा आवे जिसोरे। दोष न सेवे कोयजी। अथवा थाप करे दोष नीरे। भाई फिरै छटो गुण ठाणो सोय ॥ २० ॥ छटो गुण ठाणो साध छरे। असाधु सरध लै कोयजी ॥ मिथ्यात आवे तेहनेरो भाई। तु दश बोला में जोय ॥ २१ ॥ मासिक चौमासिक दंड थकां रे। छटो गुणठाणो नहीं कोयजी। फिरे उंधी सरधा तथा थाप थकी रे भाई। तथा जबर दोष थी जोय ॥२२॥

नियंठा

[जयाचार्यजी]

पुलाक बकुस पडिसेवणा परवए, दिलसूं कषाय कुशील देखए। या में दोष तणो दंड जोयरे वले दोषरी थापन कोयए ॥ २३ ॥ तिए कारण चारित्र-चिजए, दोष थाप्यां जावे गुणं छीजए। जितरो दंड तितरो चर्ण जायए, दोष थाप्यां संर्व विल लायए ॥ २४ ॥

भिक्षुजी का कथन

उपयोग री खामी उपरे दियो स्वाम दृष्टान्त।
निरमल निको नितसुं शुद्ध जाणो तसु तंत ॥१॥

कुण को देखी गुरु कह्यो, ए कुण को शिष्य जोय।
ऊपर पग दिज्यो मति, तहत कियो शिष्य सोय ॥२॥

थोडी वारथी शिष्य तिको फिरतो फिरतो आय।
एक पग दीधो तिण उपरै, तब गुरु बोल्या ताही ॥३॥

तुझ में वरज्यो थो तदा मत दिज्यो पग साक्षात।
शिष्य कहै उपयोग शुद्ध चुक्यो स्वामी नाथ ॥ ४ ॥

त्रिजी वेलां शिष्य वली, फिरता फिरता फेर।
दो पगादिधो कण उपरै, गुरु निषेधो फेर ॥ ५ ॥

आगे तुझ वरज्यो हुंतो कहे शिष्य कर जोड़।
महाराज उपयोग मुझ चूक गयो इण ठोड़ ॥ ६ ॥

गुरु कहे अथके चुकियो, तो काल त्रिगेरा त्याग।
फिरता फिरता शिष्य फिरी वलि चुक्यो ते जाग ॥७॥

इम बार बार खामी पड़ी, ते विगय टालण थी तांहि।
वली कण उपर पग देणे थी राजी नाहीं मन मांहि ॥८॥

कर्मयोग उपयोग में खामी तो अधिकाय।
पिण नीत शुद्ध अरु थाप नहीं, साधपणो ते न्याय ॥९॥

भिक्षुजी का कथन

छटे गुण ठाणे प्रमाद कह्यो ते किण हीक वेळा लागतो जाणो ॥ विषे कषाय अशुभ अशुभ जोग आयां पिण मुढ मती करें उंधी ताणों ॥

जयाचार्यजी ने ऊपर ढाल में जो यह कहा है कि मुनि विक्रिया-ऋद्धि से अनेक प्रकार के रूप धारण कर ले तो भी साधुपना नहीं जाता है, उनका यह कथन भ्रममूलक है।

प्रमाण देखिए—

पाठ—

अणगारस्स भावियप्पणो अयंमेवा रुवे विसय विसयमेत्ते वुइए नोचे वणं संपत्तिए विकुव्विसुवा ३ एवं परिवाडोए नेयव्व जाव संद माणिया ॥ २ ॥

—भग० श० ३ उ० ५ सूत्र २

शब्दार्थ—अ० – साधु, भ० – भावित आत्मा का, अ० – यह, य० – ऐसा, वि० – विषय, वि० – विषय मात्र है, वु० – कहा, नो० – नहीं, स० – सपत्ति, वि० – विक्रिया की, ए० – ऐसे, प० – परिपाटी, ने० – जानना, जा० – यावत, स० – पालखी रूप ॥ २ ॥

भावार्थ—भावित आत्मा अनगार के विक्रिया करने के विषय में कहा है। परन्तु इतने रूप गत काल में किसी ने किया नहीं है, वर्तमान में नहीं करते हैं और आगामी काल में करेंगे भी नहीं। जैसे स्त्रीरूप का कहा वैसे ही पुरुष वगैरह का अनुक्रमे पालखी रूप तक कहना।

नोट—इस तरह सूत्र प्रमाण द्वारा जयाचार्यजी के मत का खंडन हो जाता है। पाठक विचार करें।

तेरहपंथी कहते हैं कि संयम में दोष लगने पर छट्ठा गुणस्थान नष्ट नहीं होता है। हाँ, यह वे जरूर कहते है कि उन दोषों को उचित (अदोष) क़रार देने (थाप कर देने) से

संयम नष्ट हो जाता है। लेकिन नीचे लिखे सूत्रों से पता लगता है कि तेरहपंथियों की यह धारणा भ्रम है कि दोष-सेवन से छट्ठा गुणस्थान नष्ट नहीं होता है।

देखिए—

(१) ठा० ठा० ३ उ० ४ सूत्र १८ में संयम में दोष लगने को चरित्र का प्रतीनीक बताया है।

(२) ठा० ठा० ४ उ० २ सूत्र २१ में चोभंगी साधु परिषह से हटे तो उसे कुन्डरिक की तरह बताया है।

(३) सुय० प्र० श्रु० अ० ८ सूत्र ३ में प्रमादी को कर्म बाल वीर्य और अप्रमादी को अकर्म पंडित वीर्य बताया है।

(४) आचा० प्र० श्रु० अ० ४ उ० १ सूत्र ६ में प्रमादी को धर्म से विमुख बताया है।

(५) भग० श० १ उ० १ सूत्र ४३ में बताया है कि अंशव्रत अनगार की सात आठ कर्म प्रकृति ढीली हों तो वे दृढ़ हो जायँ अर्थात् कर्म-बन्धन गाढ़ा हो जाय और संसार का अन्त न हो।

(६) उत्त० अ० ५ सूत्र १९ में कहा है कि पंडित-मरण सब साधुओं को नहीं होता और न सब गृहस्थों को ही होता है परन्तु शुद्ध व्रत पालने वाले गृहस्थ व शुद्ध साधु को होता है।

(७) भग० श० ३ उ० ४ सूत्र १४ में मायावी को

लकड़ी फोड़ता हुआ बताया है। मायावी ही स्निग्ध आहार करता और अमायावी रूखा सूखा आहार करता बताया है।

(८) भग० श० ३ उ० ५ सूत्र ७ में बताया है कि मायावी बिना आलोचना के मरे तो देव-गति में मिथ्यादृष्टि सेवक रूप में उत्पन्न होता है।

(९) भग० श० १३ उ० ९ सूत्र १ से १८ तक में तथा उ० ५ सूत्र २ में बताया है कि सच्चे साधु भावित आत्मा को विक्रिया रूप करने की शक्ति होते हुए भी नहीं करते हैं, मायावी ही करते हैं, अमायावी नहीं करते हैं। केवल शक्ति ही बताई है, वैसे वे करते नहीं है, पहिले किया नहीं है और कभी करेंगे भी नहीं। अर्थात् शक्ति लब्धि रूप में सदैव रहेगी लेकिन उपयोग रूप में न आयगी।

(१०) भग० श० ३ उ० ६ सूत्र १ से ७ तक में मायावी को मिथ्या-दृष्टि और अमायावी को सम्यक्‌दृष्टि कहा है। विक्रिया ऋद्धि की शक्ति बताने के लिए है लेकिन उपयोग कभी करा भी नहीं, करते भी नहीं और कभी करेंगे भी नहीं।

(११) ज्ञाता० प्र० श्रु० अध्याय १० उपसंहार सूत्र ४ में कहा है कि जो साधु प्रमादी बना हुआ है उसका चरित्र इसी तरह नष्ट होता है जैसे प्रतिपदा का चन्द्रमा दिनों-दिन हीन होता हुआ अमावस्या के चन्द्रमा के रूप में नष्ट हो जाता है।

पाठ इस प्रकार है—

पाठ—

"जहं चंदा तहं साहू राहू वरे हो जहं तहां पमाओ।
वणाई गुणा गुणो जंह तहां क्खमाई समण धम्मो पुणोवि
पइदिणं जहं हायं तो सव्वहा ससीणासो तह पुण्ण
चरित्तो विहुं कुसील संसग्गि माइंहि ॥ २ ॥
जणिय पमाओ साहू हायंतो पइदिण खमाइहि।
जायेंइणट्ठचरित्तो ततो दुक्खाइं पांवेई ॥ ३ ॥
तथा हीण गुणो विहु होऊ सुह गुरु जो गाई जाणिय
सेवंगा पुण्ण सुरुवो जायइ चि वड्ढ माणे स सहरुव्व ॥४॥

(१२) उत्त० अ० ८ सूत्र १४ व १५ में बताया है कि रस-गृद्धी साधु असुर कुमार आदि की योनि में उत्पन्न हो कर संसार में परिभ्रमण करता है।

(१३) सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २१ में बताया है कि व्यवहार-शुद्धि के लिए निर्दोष आहार ला कर संयोजणा दोष सहित भोगे तो वह संयम से दूर है।

(१४) दशवै० अ० २ सूत्र २ में कहा है कि भोग न मिलें लेकिन भोग की इच्छा करे तो वह त्यागी नहीं है।

(१५) सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २३ में रसगृद्धी को साधुत्व से दूर बताया है।

(१६) दशवै० अ० ६ सूत्र ६ से ८ तक में कहा है कि जो १८ ठाणों में एक की भी विराधना करे तो वह साधुत्व से दूर है।

(१७) सुय० श्रु० १ अ० २ उ० १ सूत्र ९ में वताया है कि वाह्य परिग्रह त्यागी मास मास खमण करे तो भी माया-कपट के कारण अनन्त गर्भादिक दुख पाता है।

(१८) सुय० प्र० श्रु० अ० १३ सूत्र १४ में कहा है कि प्रज्ञावंत साधु हो के गर्व करे तो वह वाल अज्ञानी है।

(१९) आचा० प्र० श्रु० अ० ३ उ० १ सूत्र ६ में प्रमादी मायावी को वार वार गर्भ में आना वतलाया है।

(२०) ज्ञाना० १ श्रु० अ० १ सूत्र १७१ में वताया है कि मेघकुमार के मन में गृहस्थावास में जाने का अशुभ भाव हुआ तो वीर प्रभु ने उसे दुवारा दीक्षा दी।

(२१) दशवै० अ० ५ उ० २ सूत्र ४८ से ५१ तक में तप चोर, वचन चोर, रूप चोर, आचार चोर, भाव चोर आदि को नरक में भ्रमण करना वताया है।

(२२) भग० श० १ उ० १ सूत्र ३८ में साधु के दो भेद कहे हैं—[१] शुभ योग आसरी अनारम्भी [२] अशुभ योग आसरी आरम्भी। आरम्भी को चतुर्गति में भ्रमण करना वताया है।

(२३) भिक्षुजी ने एक दोष का सेवन करने वाले को असाधु कहा है।

(२४) दश० श्रु० दश० ५ सूत्र ४ में वताया है कि जो साधु षट्काय का रक्षण करता है उसे देव-दर्शन अवश्य होता है।

(२५) ठा. ठा. ३ उ० ३ सूत्र ६ में तीन दफे प्रायश्चित्त देने के बाद अपराधी को संघ से निकाल देने का आदेश है।

(२६) दशवै० अ० ८ सूत्र ३१ व ३२ में अप्रतिबन्ध रहित शीघ्र आलोचना करने का विधान है।

(२७) आचा० श्रु० १ अ० २ उ० ६ सूत्र ३ में एक व्रत भंग होने पर छः व्रत का भंग होना बताया है।

जयाचार्यजी ने कहा है—

**" एकम पूनमचन्द जिसा बद पखचन्द सु जोय,
ज्ञाना ता अ० १० में जिन कह्यो म्हारा साध साध्वी होय "।**

जयाचार्यजी का यह कथन सत्य नहीं है। सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि जो साधु प्रमादी होता है उसका चारित्र नष्ट हो जाता है। ऐसी हालत में विरुद्ध मान्यता क्यों?

देखिए पीछे दिया हुआ प्रमाण नं. ११—ज्ञाना० प्र० श्रु० अ० १० सूत्र ४।

जयाचार्यजी का यह भाव है कि यदि साधु को कोई दोष लग जाय तो जहाँ तक उस दोष का सम्बन्ध है उतना ही चारित्र नष्ट होता है, सम्पूर्ण चारित्र नहीं, अर्थात् छट्ठा गुणस्थान बना ही रहता है। दोष सेवे या न सेवे, आराधक हो या विराधक हो, छट्ठा गुणस्थान सुरक्षित है। अगर कोई इनसे पूछे कि जो साधु अभी एक महीना हुआ मुनिधर्म में दीक्षित हुआ है वह यदि कोई दोष-सेवन करे जिसके लिए एक महीनें से अधिक

(४ महीने या ६ महीने) का प्रायश्चित बताया गया हो और वह प्रायश्चित की इच्छा करने से पहिले ही मर जाय तो यह कैसे कह सकेंगे कि मरते समय वह छठे गुणस्थान में था, अथवा यह कैसे कह सकेंगे कि उसका मरण पंडित-मरण था ?

प्रायश्चित की इच्छा रखने वाला भी यदि बहुत दोष सेवन करने वाले के संग में हो तो भी वह आराधक नहीं हो सकता है। ऐसी हालत में उसका मरण भी हो जायगा तो वह बाल-मरण ही कहलायगा।

इन ही के भिक्षुजी ने उपर्युक्त रचना में कहा है कि यदि कर्मवश प्रमाद कषाय आदि से किसी समय एक दोष लग जाय तो शुद्ध नीति से प्रायश्चित करने से छट्ठा गुणस्थान बना रहता है लेकिन ज्यादह दोष सेवन करने वाले कपट करने वाले छिपाने वाले का छट्ठा गुणस्थान रहने का विधान नहीं किया है।

जयाचार्यजी ने कहा है कि यदि अमुक दोष को दोष न कहा गया हो अथवा ऐसी स्थापना की गई हो जिसमें किसी दोष को अदोष कहा गया हो, तब यदि वह दोष हो जाय तो छट्ठा गुणस्थान नष्ट हो जाता है, अन्यथा नहीं। अब यहाँ हम देखें कि खुद जयाचार्यजी ने ऐसी गलत स्थापना क्या क्या की है—

भ्रम० विध्व० ।।।≈ में साधु का विरह बताया है और (उपर्युक्त) झीनी चर्चा की ढाल २० व २१ में ऐसा बताया

है कि दो हजार करोड़ से कम साधु कभी नहीं रहेंगे। यह पूर्वापर विरोध है, अतः ग़लत स्थापना है।

प्रश्नोत्तर ५६ व ५७ में कारणवश नित्य पिंड लेने की स्थापना की है। शास्त्र में रोगी नीरोगी अवस्था में लेना मना है (विस्तार के लिए अध्याय ७ देखिए)। शास्त्र के विरुद्ध होने के कारण यह ग़लत स्थापना है।

जयाचार्यजी ने ऐसी बहुतसी स्थापनाएँ ग़लत की हैं। उदाहरण के लिए ऊपर दो दी गई हैं।

भग० श० १० उ० २ में यह कहा गया है कि यदि साधु चरम समय तक अर्थात् अन्तिम क्षण तक अपने दोषों की आलोचना कर ले तो उसका मरण पंडित-मरण होता है अर्थात् मरते समय वह छठे गुणस्थान में ही होता है, अतः मरने से पहिले प्रायश्चित करने पर उनका (तेरहपंथियों का) मरण पंडित-मरण ही होगा, उनका छठा गुणस्थान ही अन्त तक रहेगा—ऐसा तेरहपंथी कहते हैं लेकिन यह भ्रममूलक है। शास्त्र में एक विधान दूसरे विधान की अपेक्षा रखा करता है, एक विधान को हर पहलू से समझने के लिए अन्य विधानों को भी समझना ज़रूरी है अन्यथा अर्थ का अनर्थ होना संभव है। तेरहपंथियों ने ऐसा ही अनर्थ किया है। शास्त्र* में स्पष्ट लिखा है कि तीन बार प्रायश्चित होने के बाद फिर दोष-सेवन हो जाय तो साधु को संघ से बाहर निकाल देना चाहिए। तेरह-

---

* ठा. ठा. ३ उ० ३ सूत्र ६॥

पंथियों ने यह न सोचा कि एक ही दोप को तीन वार से अधिक सेवन करने पर या तीन से अधिक दोप सेवन करने पर साधुत्व नहीं रहता है अर्थात् छट्ठा गुणस्थान नष्ट हो जाता है फिर वहुत से दोपों का सेवन करने के वाद भी आलोचना का क्या मूल्य रह जाता है? एक तो वैसे ही अंशव्रती आचार्य के सन्मुख दीक्षा लेने से छट्ठा गुणस्थान प्राप्त नहीं होता है फिर ऊपर से तीन वार से अधिक दोप सेवन न भी हो तो भी छट्ठा गुणस्थान कहाँ से आ सकता है लेकिन अगर ऊपर से तीन वार से अधिक दोप-सेवन हो जाय तव तो वहाँ छट्ठे गुणस्थान की एक क्षण के लिए भी कल्पना नहीं की जा सकती। हाँ, सुव्रती आचार्य से दीक्षा ली जाय और फिर मरने के समय तक तीन वार से अधिक दोप-सेवन न हो अर्थात् मरने से पहिले का दोप सेवन तीसरा ही हो, तव साधु मरने से पहिले आलोचना कर ले तभी मरते समय छट्ठा गुणस्थान संभव है अर्थात् तभी पंडित-मरण संभव है, अन्यथा नहीं। प्रश्न० श्रु० १ अ० २ उ० २ सूत्र ४ में वताया है कि जो आत्मध्यान सहित शुद्ध अध्यवसाय से काल को प्राप्त हो वही पंडित है, उसीका देहान्त पंडित-मरण है।

भगवती श० ८ उ० १० मे टीकाकार ने कहा है कि जघन्य ज्ञानदर्शन वाला चारित्र सहित हो तो वह चारित्र के वल से पंद्रह भव से अधिक भव संसार में धारण न करेगा। जयाचार्यजी ने इस कथन के आधार पर से निम्न प्रकार चतुर्भंगी + वनाई है—

+ भ्रम विध्व० पृष्ट ३ व ४ मिथ्यात्वी अधिकार का पहिला बोल।

(१) पहिला पुरुष—शील-क्रिया आचार सहित, ज्ञान (सम्यक्त्व) रहित, पाप से निर्वृत्त, धर्म का अजान कार, **देश आराधक, बाल तपस्वी** ।

(२) शील-क्रिया रहित, ज्ञान (सम्यक्त्व) सहित, सम्यक्दृष्टि **देश विराधक, अव्रती** ।

(३) ज्ञान और शील-क्रिया सहित साधु, **सर्व आराधक सर्वव्रती** ।

(४) ज्ञान क्रिया रहित सर्व विराधक **अव्रती** [बाल पापी] ।

इस प्रकार सम्यक् चारित्र और सम्यक् दर्शन के आधार पर जयाचार्यजी ने चार भेद किए हैं। प्रथम तो ये भेद ही शास्त्रीय दृष्टि से ग़लत हैं लेकिन यदि अभ्युपगम सिद्धान्त से थोड़ी देर के लिए ये भेद मान भी लिए जायँ तब भी जयाचार्यजी का यह कथन, कि अनेक दोषों का सेवन करने पर भी मरने से पहिले आलोचना करने पर छट्ठा गुणस्थान नष्ट नहीं होता है, ठीक नहीं बैठता है । जयाचार्यजी ने दूसरा भेद अव्रती—देश विराधक का किया है। यहाँ यह न समझ लेना चाहिए कि वह देश विराधक होने से चारित्र का आराधक हो गया । स्वयं उन्होंने ही उसे चारित्र-विहीन कहा है अतः जहाँ तक चारित्र का सम्बन्ध है वह पूर्ण विराधक है लेकिन क्योंकि वह सम्यक्-ज्ञान–सहित है इसलिए विराधक से पहिले 'देश' का विशेषण लगा है। यह न समझ लेना चाहिए कि देश विराधक में 'देश'

का सम्बन्ध किसी भी दृष्टि से अथवा किसी भी अंश में चारित्र से है। नहीं, उसका सम्बन्ध केवल सम्यक्त्व से—सम्यक्‌दर्शन और सम्यक्‌ज्ञान से—है। अतः दोष-सेवन के कारण जिसके चारित्र की विराधना हो गई है लेकिन जिसे सम्यक्त्व है वह दूसरी श्रेणी में आने पर भी चारित्र की दृष्टि से पूर्ण विराधक ही होगा और चारित्र की दृष्टि से पूर्ण विराधक होने पर वह छट्ठे गुणस्थान में नहीं आ सकता है, क्योंकि छट्ठे गुणस्थान के लिए सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र दोनों की ही परम आवश्यकता है, सम्यक् ज्ञान हो और चारित्र न हो तो वह छट्ठे गुणस्थान में कदापि नहीं आ सकता। इस तरह जयाचार्यजी की चतुर्भंगी के आधार पर से ही छट्ठे गुणस्थान के सम्बन्ध में उनकी ऊपर बताई हुई मान्यता का खंडन हो जाता है।

रही उक्त चतुर्भंगी के शास्त्रीय दृष्टि से ग़लत होने की बात। यह जैनदर्शन का एक मुख्य सिद्धान्त है कि न कोरी जानकारी से कोई ज्ञान चाहे वह सत्य ही क्यों न हो सम्यक्‌-ज्ञान हो सकता है, और न कोरे आचरण से ही कोई चारित्र चाहे वह ठीक ही क्यों न हो, सम्यक्‌चारित्र हो सकता है। सम्यक्‌ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र के लिए सम्यक्‌दर्शन होना अनिवार्य है। एक व्यक्ति जैन शास्त्रों को—सूत्रों को—पढ़कर जैन शास्त्र का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लेता है लेकिन उसे उनपर विश्वास नहीं है अर्थात् उसे सम्यक्‌दर्शन नहीं है तो उसका वह ज्ञान सत्य ज्ञान होते हुए भी सम्यक्‌ज्ञान न कहलायगा और उसे

सम्यक्ज्ञानी न कहा जा सकेगा। यही बात चारित्र के सम्बन्ध में है। अब देखिए, जयाचार्यजी ने जो पहिले भेद में देश आराधक का वर्णन किया है उसके लिए लिखा है कि वह शील-क्रिया ('सम्यक् चारित्र) सहित तो होता है लेकिन उसे सम्यक्त्व नहीं होता है अर्थात् उसे सम्यकज्ञान व सम्यक्दर्शन नहीं होता है। समझ में नहीं आता कि सम्यक्दर्शन के बिना सम्यक्ज्ञान के बिना अर्थात् सम्यक्त्व के विना सम्यक्चारित्र कैसा और सम्यक्चारित्र के बिना आराधक—चाहे वह देश आराधक ही क्यों न हो—कैसा ?

ऊपर जयाचार्यजी की चतुर्भंगी की ग़लती भी बता दी है और उसी के आधार पर छट्ठे गुणस्थान विषयक उनकी मान्यता को भी खंडित कर दिया है। अब हम सूत्र * द्वारा बताये हुए तद्विषयक भेदों को लिखते हैं। सूत्र में निम्न प्रकार तीन भेद कहे हैं—

[१] **उत्कृष्ट**—वह व्यक्ति जो मति श्रुति अवधि मनःपर्यय व केवलज्ञान में से एक या अधिक ज्ञान का धारक हो। केवलज्ञानी तो उस भव से मोक्ष जाय पर अन्य व्यक्ति तीन भव से अधिक संसार में भ्रमण न करे, द्वादश अंग का पाठी हो, भावक्षायिक हो।

[२] **मध्यम**—वह व्यक्ति जो सम्यक्ज्ञान, दर्शन और चारित्र वाला हो, एकादश अंग का पाठी हो, क्षयोपशम भावी हो,

---

* भगवती श० ८ उ० १०

विशेष उद्यमी हो, और जो ७-८ भव से अधिक संसार में परिभ्रमण न करे।

[३] जघन्य—वह व्यक्ति जो सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र का धारी हो, दयामाता के ८ प्रवचन वाला हो, जिसका मति-श्रुतज्ञान निर्मल हो, जो निरतिचारी हो, शुभ नीति से आराधना करने वाला हो, कर्म योग से कोई दोष लग जाय तो शास्त्रानुकूल उसकी आलोचना करने वाला हो, और अखण्ड चारित्री हो।

पाठक देखें कि शास्त्रीय त्रिभंगी कितनी अपूर्व और महत्त्व-पूर्ण है। इस में जघन्य चारित्री को भी सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र वाला कहा है जो ठीक भी है लेकिन जयाचार्यजी ने तो सम्यक्त्व-विहीन को ही देश आराधक कह डाला है। शास्त्रीय त्रिभंगी और जयाचार्यजी की चतुर्भंगी दोनों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर पता लगेगा कि शास्त्रीय विवरण चारित्र और संयम की ओर तथा तपस्या और आत्म-निग्रह की ओर ले जाने वाला है जब कि जयाचार्यजी का कथन शिथिलाचार का पोषक और आत्म-संयम तपस्या आदि की ओर से उदासीन या विमुख करने वाला है। वैसे जयाचार्यजी ने तीसरा और चौथा भेद गलत नहीं किया है लेकिन उनं में भी वह दिशा नहीं आ पाई है, जो आनी चाहिए थी। पाठक विचार-पूर्वक देखें तो पता चलेगा कि सूत्र में बताया हुआ जघन्य चारित्री जयाचार्यजी का बताया हुआ सर्व-आराधक, सर्वव्रती, ठहरता है। यह जमीन आसमान का भेद नहीं तो और क्या है?

संयम की दृष्टि से भगवती श० २५ उ० ७ सूत्र १ में तथा उत्त० अ० २८ सूत्र ३२ व ३३ में जीवन की जो श्रेणियाँ बताई हैं उनमें से प्रथम दो श्रेणी छठे गुणस्थान में आती हैं। कोई छठे गुणस्थान में है या नहीं, यह ठीक समझने के लिए उस श्रेणी-विभाग से सहायता मिल सकती है इसलिए उसे नीचे दिया जा सकता है—

(१) **सामायिक संयमी**—चार यामरूप श्रमणधर्म तीन कर्ण तीन योग से स्पर्श करता हुआ सामायिक संयमी कहलाता है।

(२) **छदोस्थापनी**—पूर्व पर्याय छेद कर आत्मा को पाँच याम रूप धर्म में स्थापन करता हुआ विशुद्ध पाँच याम रूप धर्म को नव कोटि से स्पर्श करता हुआ छदोस्थापनी कहलाता है।

(३) **परिहार विशुद्ध**—निरन्तर तप का सेवन करने वाला परिहारविशुद्ध चारित्री है।

(४) **सूक्ष्म सम्पराय**—लोभ को सूक्ष्म अनुवेदता हुआ जो रहे वह उपशम या क्षायिक श्रेणी में रहता है और यथाख्यात चारित्र से किंचित् कम होता है, उसका गुणस्थान ग्यारहवां होता है। उसे सूक्ष्म सम्पराय चारित्री कहते हैं।

(५) **यथाख्यात**—केवलज्ञानी को यथाख्यात चारित्री कहते हैं। इसका गुणस्थान १३ वां होता है।

नोट—उव्वा० के समवशरण अधिकार के सूत्र २५ में यह कहा है कि भगवान के साधु तीन खोटी लेश्या रहित होते हैं।

ज्ञाना० प्र० श्रु० अ० १९ सूत्र २७ में कुन्डरीक और पुन्डरीक का उल्लेख है। कुन्डरीक ने १००० वर्ष तक चारित्र का पालन किया, लेकिन देहान्त से ढाई तीन दिन [अल्प काल] पहिले गृहस्थी हो गया, राज्य अंगीकार कर लिया, अन्तः-पुर में विषय-सेवन में गृद्ध हो गया, परिणाम यह निकला कि वह मर कर नरक में गया। अब कोई भला आदमी इन आँखों के अन्धों से पूछे कि सूत्र में ऐसा स्पष्ट उदाहरण होते हुए भी तुम क्यों यह मान बैठे हो कि मरने से पहिले कितने ही दोष-सेवन करने पर भी आलोचना मात्र करने से छट्ठा गुणस्थान क़ायम रहता है ? अरे भाई, १००० वर्ष का चरित्र-पालन ज्यादह क़ीमती हैं या थोड़े से समय की आलोचना ? १००० वर्ष तप करके भी ढाई तीन दिन के पतन ने कुन्डरीक को डुबा दिया। तो अनेक दोष-सेवन करने के बाद, जन्मभर दोषमय जीवन विताने के बाद, एक आलोचना मात्र से कैसे उद्धार हो जायगा ? हाँ, पुन्डरीक की तरह जीवन शुद्ध और विचार निर्मल हों और थोड़े समय की ही तपस्या क्यों न हो तो भी सद्‌गति प्राप्त हो सकती है। सद्‌गति और दुर्गति तो परिणामों पर निर्भर है। परिणाम शुद्ध है तो सद्‌गति है मोक्ष है, परिणाम अशुद्ध हैं तो दुर्गति है, बन्धन है, नरक है, निगोद है। अब तेरहपंथी अपने हृदय पर हाथ रखकर देखें कि उनके परिणाम शुद्ध हैं या अशुद्ध ?

जयाचार्यजी ने यह भी कहा है कि संघ का कोई साधु अपने दोष छिपाए, दिल में रक्खे, आलोचना न करे तो उसका दुष्परि-

णाम उसे ही भोगना होगा, संघ के अन्य व्यक्तियों को नहीं। यह बात भी ग़लत है। एक साथ रहने से, हर समय संग जीवन बिताने से, एक दूसरे के गुण और दोषों का पता लगना स्वाभाविक और सहज है। संघ में कोई दोष-सेवन करे, करता रहे तो उसके साथी अन्य साधुओं को पता लग ही जायगा। वे उसके दोषों को इसलिए न प्रकट करें क्योंकि वह स्वयं मौन है तो उसके दोष के प्रकट न होने की जिम्मेदारी उसकी तो मुख्य रूप से है ही, अन्य साधुओं पर भी हुई। अपने दोष छिपाए जायँ या दूसरे के, छिपाना है तो चोरी ही और चोरी में कोई ज्यादह भाग ले चाहे कम, भाग लेने वाला है चोर ही, और जो चोर है वह अपराधी है, और अपराधी को सजा मिलनी ही चाहिए अर्थात् उस दोष के दुष्परिणाम का फल उसे चखना ही चाहिए। संघ प्रत्येक सदस्य मुनि के लिए जिम्मेदार है, वह अपनी जिम्मेदारी से नहीं बच सकता, अतः इस विषय में जो जयाचार्यजी ने कहा है वह असत्य है, शिथिलाचार-पोषक है। ऊपर बताई हुई चोरी करने वाला साधु और उस चोरी को छिपाने वाले साधुओं का महाव्रत भंग होने से छट्ठा गुणस्थान कैसे रह सकता है? विचारशील पाठकवृन्द विचार करें।

पुलाक नियंठा वाले के लिए सुय० प्र० श्रु० अ० ७ सूत्र २६ * में यह बताया है कि वह संयम के सार से रहित था। ये

* अन्नस्स पाणास्सिहलो इयस्स अणुप्पियं भासती सेव माणे।
परसत्थयं चेव कुसीलयं च निस्साए होई जहाँ पुलाए॥

तेरहपंथी कहा करते हैं कि जब वह चक्रवर्ती की सेना को मार कर भगा देता है तब भी उसका गुणस्थान नहीं जाता है। लेकिन उनका यह कथन असत्य है क्योकि जब संयम के सार से रहित हैं तब छट्ठा गुणस्थान कहाँ रहा? इसमें तो शक्ति का वर्णन मात्र किया है। ठा० ठा० ५ उ० ३ सूत्र ४ में भी ऐसा ही बताया है। दूसरे, उसमें बुक्कुस नियंठा दोष-सेवी को अंशव्रती बताया है। तीसरे, कुशील नि० को चारित्र के कुशील का सेवी बताया है। चौथे, निग्रन्थ नि० को दोष न लगाने वाला बताया है। पाँचवे स्नातक नि० को शुद्ध संयमी केवली आदि बताया है। इस पर से यह ठहरता है कि अधिक से अधिक तीन दोष का सेवन करने पर आलोचना हो तब छट्ठा गुणस्थान रह सकता है, इस से अधिक दोष होने पर नहीं।

इस सब उपर्युक्त विवरण से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि छट्ठे गुणस्थान विषयक जयाचार्यजी की मान्यता भ्रम-मूलक है। अब हम ज़रा देर के लिए जयाचार्यजी की इस मान्यता को ठीक भी मान लें और ज़रा गंभीर विचार करें तो हम देखेंगे कि इस मान्यता मे ही परस्पर पूर्वापर विरोध होने से यह पूरी की पूरी मान्यता अर्थ-हीन है। आलोचना का अर्थ होता है आत्मकल्याण के हेतु शुद्ध हृदय से कमजोरीवश या अनजान में हो जाने वाले दोषों का मन-वचन-काय से पश्चाताप। अतः अगर हम यह समझलें कि सारी उम्र दोष-सेवन करें, मरने से पहिले आलोचना कर लें तो हमारा मरण

पंडित-मरण होगा और हमें सद्गति प्राप्त होगी तो यह हमारी अव्वल दरजे की मूर्खता ही होगी। जो आलोचना स्वार्थ के लिए की जाती है, जिस आलोचना में आत्म-कल्याण की सच्ची भावना नहीं होती है, जिस आलोचना में आँखें तो आँसू बहाती है लेकिन दिल नहीं रोता है वह आलोचना आलोचना नहीं है, कूट-नीति है दम्भ है। तेरहपंथियों की उक्त मान्यता तो उन हिंदुओं की मान्यता की तरह निकम्मी और स्वार्थ-मूलक है जो ये समझ लेते हैं कि वर्ष भर पाप करके गंगा में डुबकी लगा आयँगे और वहाँ अपने पाप धो देंगे। भला, शरीर धोने से कहीं पाप धुला करते हैं, और क्या मन को पानी से धोया जाता है? कभी नहीं। बेचारे तेरहपंथी आज इसी चक्कर में फँस कर आत्म-कल्याण के सच्चे मार्ग से तो वंचित हो गए हैं, केवल मात्र रिवाज पीट कर स्वर्ग के मजे उड़ाना चाहते हैं, लेकिन वे याद रखें कि उनके कार्य उन्हें स्वर्ग का पासपोर्ट न देंगे, उन्हें मोक्ष मार्ग का रास्ता न दिखायँगे बल्कि उन्हें नरक में ढकेलेंगे, उन्हें अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण कराएँगे।

अध्याय : ३५

अकेले में साधुत्व

प्रश्न—अकेले में साधुत्व है या नहीं ?

उत्तर—है। उत्तरा० अ० ३२ सूत्र ५ मे बताया है कि कदाचित अपने से बढ़कर गुणवन्त अथवा सामान्यगुणी न मिले तो पाप टालते हुए अकेले ही संयम में विचरना उचित है। जयाचार्यजी ने भी प्रश्नोत्तर के प्रश्न २८ में ऐसा लिखा है कि साधु बिना कारण अकेला न विचरे। इससे यह तात्पर्य निकलता है कि यदि कारण हो तो साधु अकेला विचर सकता है। छट्ठे गुणस्थान विषयक विवरण में भी ऐसा ही कहा गया है कि आचार्य उपाध्याय पवित्रणी बिना रहना ग्राह्य है कारण कभी साधु कम हों। अतः यह स्पष्ट है कि अकेले में साधुपन है।

देखिए—

पाठ—

न वा लभेज्जा निउण सहायं गुणा हियं वा गुणओ समं वा, एगो वि पावाइ विवज्जयंतो विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ ५ ॥

—उत्त० अ० ३२ सूत्र ५

शब्दार्थ— न० – नहीं, वा० – कदाचित, ल० – मिले, न० – अच्छा, विवेकशील, स० – शिष्य न मिले, वा० – अथवा, गु० – गुणकारी, अ० – अधिक, गु० – गुण करके, स० – सरीखा, वा० – अथवा, स्वत, ए० – अकेला, वि० – वही, पा० – पापकर्म, वि० – विशेष, व० – छोड़ता हुआ, वि० – विचरे, का० – संयम काम के विषय, अ० – सावधान होता हुआ प्रवर्ते ॥

भावार्थ—समान या उत्तम शिष्य की प्राप्ति नहीं होवे तो अकेला ही पापकारी अनुष्ठान का त्याग कर के काम भोग प्रतिबंध रहित करता हुआ संयम में विचरे।

आचा० श्रु० १ अ० ५ उ० १ सूत्र में यह बताया है कि आठ अवगुणों का धारी अकेला विचरता है। (१) बहुत क्रोधी (२) मानी (३) मायावी, (४) लोभी, परपिष्ट (५) धूर्त (६) ढोंगी (७) दुष्ट परिणामी (८) प्रमादी। इसका यह भाव है कि जो व्यक्ति इन आठ अवगुणों का धारक है वह संघ में रहना पसन्द न करेगा क्योंकि वहाँ उसकी दाल न गल सकेगी। अकेला रह कर ही वह अपनी स्वार्थ-सिद्धि करना चाहेगा इसलिए ऐसा अवगुणी साधारणतः अकेला ही विचरता है। लेकिन इससे यह न समझ लेना चाहिए कि जो भी अकेला विचरता है वह इन आठों अवगुणों का धारी है। अवगुणी अकेला विचरता है, जो अकेला विचरता है वह अवगुणी है— ये दोनों बातें अलग अलग हैं, अन्यथा शास्त्रों में सद्गुणी के अकेले विचरने का विधान क्यों होता? आचा० का प्रमाण पहिले दिया जा चुका है। ठा. ठा. ८ सूत्र १ में भी ऐसा

आया है कि गुणसहित का अर्थात् गुणी साधु का अकेला रहना कल्पता है। उस गुणी में ये गुण हों—(१) श्रद्धावंत (२) सत्यवादी (३) बुद्धिवान (४) बहुसूत्री (५) संगतिवंत (६) अल्पाधि-करणवान (७) वीर्यवंत (८) क्रोध रहित।

अतः स्पष्ट है कि गुणी व्यक्ति उचित संगति न मिलने पर अकेला ही विचरता हुआ साधु-धर्म का पालन कर सकता है। आजकल अवगुणों का साम्राज्य है और गुणी व्यक्ति तो दुर्लभ ही हैं। किसी गुणी व्यक्ति को अच्छी संगति मिलना कठिन है। संघों तक में भी पूरी अव्यवस्था, दंभ और अनाचार है। ऐसी हालत में साधुता के मुमुक्षी गुणवान व्यक्ति को अकेला विचरना ही अधिक श्रेयस्कर है। सूत्र में इसकी पूरी पूरी अनुमति और आज्ञा है। यह हो सकता है कि आठ अव-गुणों का धारी अकेला विचरे। ऐसा होगा तो वह उस गुणी साधु की कोटि में नहीं आ सकता जिसके लिए सूत्र में अकेला विचरना कल्पता कहा है। जो साधु अकेला विचरण करें उसमें ऊपर बताए हुए आठ अवगुण नहीं होना चाहिए अन्यथा वह साधु न हो कर साधु-वेषधारी असाधु ही होगा। शेष केवली-गम्य!

अध्याय : ३६

साध्वी

जाचार्यजी ने प्रश्नोत्तर के प्रश्न ३७ में वृहद्कल्प उ० ३ का हवाला देते हुए लिखा है कि साधु के स्थान में साध्वी को जो १७ कार्य करने का निषेध है वह रात्रि के समय के लिए है। लेकिन उनका यह कथन निराधार है, क्योंकि सूत्र में रात्रि का कहीं भी उल्लेख नहीं है। दूसरे जब साध्वी को रात्रि के समय साधु के पास रहना ही मना है तो फिर १७ कार्य करने के निषेध का अर्थ ही क्या है? अपने शिथिलाचार का समर्थन करने के लिए, उसे धर्मानुकूल बताने के लिए, उन्होंने अपनी तरफ़ से यह कल्पना की है।

वे काम इस प्रकार है—(१) जाना, (२) खड़ा रहना, (३) बैठना, (४) सोना, (५) निद्रा लेना, (६) विशेष निद्रा लेना, (७) ऊँघना, (८) चार प्रकार के आहार में से कोई भी आहार करना, (९) टट्टी जाना, (१०) पेशाब करना, (११)

बलग़म डालना, (१२) नाक साफ़ करना, (१३) सिज्झाय करना, (१४) ध्यान करना, (१५) लेटना, (१६) काउस्सग करना, (१७) भिक्षुकी पडिमा करना। अब भला देखिए, जब साधु के स्थान में साध्वी को आहार करने की मनाई है तब यह मनाई रात्रि के समय पर क्यों कर लागू हो सकती है जब कि रात्रि में आहार लेना तो साधु साध्वी दोनों को वैसे ही मना है ? बिल्कुल साफ़ बात होते हुए भी अपनी तरफ़ से ऊट-पटाँग कल्पना करना कहाँ तक उचित है ? अतः यह स्पष्ट है कि ये काम हर समय के लिए मना हैं। लेकिन ये लोग इनमें से कई कार्य करते हैं। मुख्यतः आहार का सम्बन्ध तो सब को मालूम ही है। आहार लाना, पानी लाना, पलेवन करना, साधु के स्थान में आकर बैठना और बातचीत करना, ऐसे अनेक तरह के काम होते हैं जो सर्वथा सूत्र-विरुद्ध हैं।

ठा. ठा. ४ उ० २ मे यह लिखा है कि अकेला साधु अकेली साध्वी को आहार दे सकता है—ऐसा तेरहपंथी लोग कहते हैं और इसके आधार पर आहार-सम्भोग करते हैं। यह भी अनाचार है। उपरोक्त पाठ में सूत्र १८ के अनुसार प्रथम रास्ता पूछने की बात आयी है इस से स्पष्ट है कि अगर कोई साध्वी रास्ता भूल कर अकेली रह जाय उस समय के लिए यह विधान है, हर समय के लिए नहीं।

व्यवहार उ० ६ में लिखा है कि अन्य गण में से सदोष साध्वी आए तो उसे दंड देकर उसके साथ एक स्थान में भोजन

करना, एक स्थान में बैठना आदि ग्राह्य है—ऐसा जयाचार्यजी ने कह कर अपने शिथिलाचार की सफ़ाई दी है और उसे जारी रखा है लेकिन यह भी असंगत और भ्रममूलक है क्योंकि वहाँ सूत्र १७, १८,१९ और २० में से २ सूत्र तो साधु के लिए हैं और दो सूत्र साध्वी के लिए हैं, उसका आशय ऐसा है कि अन्य गण से साधु या साध्वी आवे तो आचार्यादिक से दंड लेकर साध्वी साध्वी के पास और साधु साधु के पास रहे और उपरोक्त कार्य करे। अतः स्पष्टतः जयाचार्यजी का मन्तव्य भ्रमपूर्ण है, सत्य के विपरीत है।

* व्यवहार उ० ७ की साक्षी देते हुए जयाचार्यजी ने

---

* नो कप्पति निग्गंथाणं निग्गंथि अप्पणो अट्ठाए पव्वा वित्तएवा मुडा वित्तएवा सिक्खावित्तएवा सेहावित्तएवा उवट्ठावित्तएवा, सवासित्तएवा संभुञ्जित्तएवा संवासित्तएवा, तीसे इत्तरियं दिसंवा अणुदिसंवा उद्दिसित्तएवा धारित्तएवा ॥ ६ ॥ कप्पति निग्गंथाणं निग्गंथीणं अण्णोसिं अट्ठाए पव्वा वित्तएवा जाव संभुञ्जित्तएवा तीसे इत्तरि य दिसंवा अणुदिसंवा मुंडितएवा जाव जाव उद्दिसित्तएवा धारितएवा ॥ ७ ॥ णो कप्पति निग्गंथीणं निग्गंथ अप्पणो अट्ठाए पव्वावित्तएवा मुडा वित्तएवा जाव उद्दिसितएवा धारितएवा ॥ ८ ॥ कप्पति निग्गंथणं निग्गंथाणं निग्गंथाणं अट्ठाए पव्व वित्तएवा मुंडवित्तएवा जाव उद्दिसितएवा धारित एवा ॥ ९ ॥

लिखा है कि आचार्य के लिए साध्वी को भाव-मुंडित करना, सिखाना, गोचरी सिखाना, प्रतिलेखना सिखाना, महाव्रत से स्थापन करना, एक ठिकाने जीमना, एक ठिकाने बैठना, ग्राह्य है। लेकिन यह भी असंगत और असत्य है। वहाँ तो सूत्र ६-७-८ और ९ में ऐसा वर्णन आया है कि जिस ठिकाने साधु रहता हो और वहाँ पास मे आर्यिका न हो और कोई स्त्री वैराग्यवंत होकर दीक्षा लेनी चाहती हो तो उसको साध्वी के आश्रय मे रखने के लिए कह कर उसको भाव-मुंडित करे तथा अन्य कार्य करे, और जहाँ साध्वी रहती हो वहाँ उसे पहुँचा कर उसके सुपुर्द कर दे। यही बात साध्वी के लिए भी किसी पुरुष को दीक्षा देने के विषय में है। अब देखिए, यहाँ जयाचार्यजी ने अर्थ का कितना अनर्थ किया है? विशेष समय के लिए और वह भी बहुत थोड़े समय के लिए जो बात कही गई है उसे साधारणतः समझना अर्थात् उसे हर समय के लिए लागू करना सरासर अन्याययुक्त और असत्य है। अपवाद मार्ग को राजमार्ग बनाना साधारण भूल ही नहीं है, एक अक्षम्य अपराध है।

निशीथ० उ० ४ सूत्र २५ व व्यवहार उ० ५ मे संभोग अपवाद मार्ग के लिए कहा है कि खखारे बिना साध्वी को साधु के यहाँ नहीं जाना चाहिए—इसका सहारा लेते हुए जयाचार्यजी ने कहा है कि साधु साध्वी के यहाँ खखार कर जा सकता है। लेकिन यह बात गलत है। यहाँ तो सिर्फ़ यह भाव है कि कभी

जाना आवश्यक हो, उचित हो (जैसे सर्पादि ने काटा हो उस समय जाना पड़े) तब खखार कर जाना चाहिए, विना खखारे नहीं जाना चाहिए। जयाचार्यजी ने जो निष्कर्ष निकाला है वह मिथ्या है, खेंचातानी है।

ये लोग जो आर्यिकाओं का लाया हुआ भोजन ग्रहण करते हैं और जो आहार-सम्भोग करते हैं उसका प्रतिवाद स्पष्ट रूप से सूत्रों में है। उदाहरण के लिए प्रमाण देखिए—

गच्छाचार पैयना के सूत्र ६१ में लिखा है कि आर्यिका का लाया हुआ आहार साधु न ले, चाहे दुर्भिक्ष हो, और मरणान्तक कष्ट हो तब भी साधु रहते तक उसे ग्रहण न करे। इसी के सूत्र ८५ * में यह कहा गया है कि स्त्री का सैंगठा अरहन्त भी कर ले तो निश्चय मूलगुण नष्ट होता है। अब विचारिए कि जब अरहन्त तक को स्त्री के सैंगठे से दोष लग सकता है तब ये बेचारे किस गिनती में हैं ?

स्त्री जहाँ से उठे उसी जगह आकर फ़ौरन ये लोग बैठ जाते हैं जब कि शास्त्रानुसार (उत्त० अ० १६ के अनुसार) कम से कम स्त्रीके उठने और वहीं इनके बैठने के बीच में एक घंटे का अन्तर होना जरूरी है।

---

* जत्थित्थि कर फरिसं लिंगी अरिहावि संयमवि करिज्जा। तं निच्छ यओ गोयम ! जाणिज्जा मूलगुण भंहं ॥ ८५ ॥

आचार्य के वापरे हुए कपड़े चोळपट्टा आदि आर्यिकाओं को वापरने के लिए दिये जाते हैं जो सर्वथा शास्त्र की आज्ञा के प्रतिकूल है। ब्रह्मचारिणी को वे कपड़े वापरना मना है।

इस तरह जहाँ साध्वी से सम्पर्क का सवाल है वहाँ भी ये लोग पूरी तरह दोषी ठहरते हैं।

अध्याय : ३७
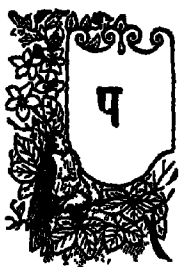
जिन-आज्ञा-पालन

हिले अध्यायों में यह बात अच्छी तरह बताई जा चुकी है कि तेरहपंथी साधुओं का जीवन साधुत्व से कोसों दूर है। उनके दैनिक जीवन पर हम दृष्टि डालें तो हम देखेंगे कि उनके कार्य में व्यवहार में जिन-आज्ञा-पालन की बहुत अवहेलना है। वे जिन-आज्ञा-पालन की दुहाई देते हैं, इसकी घोषणा भी करते हैं लेकिन जिन-आज्ञा का जिसे हम वास्तविक पालन कहते हैं वह उनके जीवन में नहीं है। जो वे करते हैं उसे जिन-आज्ञा-पालन कह कर शब्दों से तो नहीं लेकिन भावों से अपने को जिनेन्द्र भगवान का प्रतिनिधि मानते हैं, जो स्पष्टतः उनकी अनधिकार चेष्टा है। जिनेन्द्र के वचनों का, जो आज हमे आगम द्वारा ही उपलब्ध है, ठीक ठीक पालन करना ही सच्चे अर्थों में जिन-आज्ञा-पालन है और इसका इन तेरहपंथियों के बीच में पूरा पूरा अभाव है।

यूँ तो पहिले की बहुत सी बातों को लेकर दिखा दिया है कि इन तेरहपंथियों द्वारा जिन-आज्ञाओं की खूब अवहेलना होती है लेकिन फिर भी यहाँ संक्षेप रूप में सूत्र रूप में उनकी जिन-आज्ञा-विरुद्ध क्रियाओं की ओर संकेत किया जाता है—

(१) अल्प वर्षा होते समय अथवा तेज़ हवा चलते समय गोचरी के लिए जाना।

(२) थापीता दोष सेवन करना।

(३) सचित्त अचित्त का विचार न करते हुए पदार्थ ग्रहण करना।

(४) जीमण का आहार अधिक लेना।

(५) नित्य पिंड ग्रहण करना।

(६) मिलते हुए भोगो का सेवन करना।

(७) अनाचार को आचार कह कर उसका सेवन करना।

(८) दान और दातार की प्रशंसा करना।

(९) अज्ञात कुल की गोचरी न कर के स्वादिष्ट भोजन वाले कुल की गोचरी करना।

(१०) ईर्यासमिति का पालन न करते हुए चलना।

(११) जिन-आज्ञा के विरुद्ध वस्त्र और पात्र का उपयोग करना।

(१२) मुँह हाथ आदि छोटा बड़ा स्नान, सम्बन्धी आज्ञा का उल्लंघन करके, करना।

(१३) आहार विहार निहार में गृहस्थों को साथ रखना।

(१४) अप्रशस्त प्रतिलेखना करना ।

(१५) गृहस्थों से शिक्षण प्राप्त करना व अल्प वयवालों को शास्त्र पढ़ाना ।

(१६) पृथ्वीकाय आदि त्रस जीवों की हिंसा करना ।

(१७) संदेश आदि द्वारा पत्रव्यवहार तार आदि का काम करवाना ।

(१८) दरवाजा खोलना, बन्द करना; खुलवाना, बन्द करवाना ।

(१९) माया-कपट भरी भाषा बोलना, भाषा समिति का पालन न करना ।

(२०) कपटपूर्ण भाषा द्वारा गृहस्थों से काम कराना ।

(२१) ग़रीबों व साधारण प्रजा से अधिक रईसों व सरकारी अफ़सरों का आदर करना ।

(२२) चारों काल की सज्झा सूत्र के अनुसार न करना ।

(२३) अठारह दोषों का सेवन करना ।

(२४) पाँच महाव्रत की पच्चीस भावनाओं का पालन न करना ।

(२५) असंव्रत अनगार का आचरण रखना ।

(२६) व्रत भंग होने पर भी व्रत भंग न हुआ ऐसा कहना ।

(२७) ऐसे काम करना जिससे कर्मों का संवर न हो और संवर न रहते ऐसा कहना कि संवर है । साधु न होते कहना कि साधु है ।

(२८) असंव्रत होते हुए भी सव्रत हैं—ऐसा कहना ।

(२९) लगे हुए दोषो की योग्य प्रतिलेखना न करना ।
(३०) जिन-भगवान और गौतमस्वामी को चूके कहना और अपने को अचूक कहना ।
(३१) छट्ठे गुणस्थान विषयक ग़लत मान्यता रखना ।
(३२) अकेले साधु को बिना कारण दोष देना ।
(३३) अपने उद्देश्य से किराए पर लिए हुए साफ़ किए हुए या बनाए हुए मकानों मे रहना ।
(३४) आधाकर्मी दोप का सेवन करना, उद्दिष्ट भोजन लेना ।
(३५) पात्रा कर के गोचरी के लिए जाना ।
(३६) पात्रादि रगना ।
(३७) बढिया बढ़िया वस्त्र लेना ।
(३८) गरमागरम आहार विशेष लेना ।
(३९) रसयुक्त आहार मे लोलुपता रखना ।
(४०) विहार, महामहोच्छव, चातुर्मास आदि के समय और स्थान का पहिले से ही निर्णय करना और उसकी घोषणा करना ।
(४१) सूर्योदय से पहिले ही प्रतिलेखना करना ।
(४२) पूजा-सत्कार की लालसा रखना और जानबूझ कर कराना ।
(४३) बागबगीचे खान आदि देखना, तथा अन्य रूप देखना ।
(४४) गृहस्थ के घर के मध्यस्थ भाग मे रहना ।
(४५) आर्यिकाओ का लाया हुआ आहार ग्रहण करना ।

(४६) आहार की पांती के समय आर्यिकाओं के सँगठे का कोई ध्यान नहीं रखना।

(४७) आर्यिकाओं से आचार्यों के कपड़ों की प्रतिलेखना करवाना।

(४८) आचार्य के वापरे हुए कपड़े आर्यिकाओं से वापरवाना।

(४९) चौकी में पटरी डोरी काम्मी चद्दर आदि नापसन्द पदार्थ चुपचाप डाल देना और पूछने पर स्वीकार नहीं करना।

(५०) दीक्षा निमित्त न कलपते काल से ज्यादह समय तक रहना।

(५१) रात्रि के समय गोंद हीगणू हरताल आदि बासी रखना और मणाबंदू बजन रखना।

(५२) परिमाण से अधिक वस्तु विशेष रखना।

(५३) दूसरों की पीठ पीछे बुराई करना [दशवै० अ० ८ सूत्र ४६ में साधु को किसी की पीठ पीछे बुराई करना मना है]

(५४) कमर कसना, लंगोट लगाना।

(५५) नव दीक्षित को अपनी ओर से नए उपकरण ओवा पुणजणी आदि अधिक संग्रह में कर देना, उसे दीक्षा लेते समय पहिले से लेकर न आने देना।

(५६) गोचरी से लौट कर चौवीसता नाम की आलोचना न करना [दशवै० अ० ५ सूत्र ८ में यह आलोचना करने का आदेश है]

(५७) देशकथा, राजकथा, भक्तिकथा, स्त्रीकथा करना [सामायिक में ऐसा करना मना है]।

(५८) काग़ज़ काटने की मशीन चलाना [अपने काग़ज़ दूसरों से न कटवाने के कारण स्वयं काग़ज़ काटने की मशीन चलाकर इन लोगो ने अनेक जगह मशीनें चलाई हैं]

(५९) अपने नाम से पहिले दीक्षा के बाद ही १०८ लगाना और आचार्यत्व के बाद १००८ लगाना [तीर्थंकर के १००८ चिन्ह स्वाभाविक होते हैं, इन लोगों के नहीं होते फिर भी ये झूठी नक़ल करते हैं]।

और भी देखिए—

(१) वृहद कल्प उ० १ में बताया है कि साधु साध्वी शीतकाल व उष्णकाल में साधारणतः क्रमशः १ महीने व २ महीने तथा विशेपतया चातुर्मास में ४ महीने तक एक ग्राम में रहे। नवकल्प विहार इसी को कहते हैं। आचा० श्रु० २ अ० ११ उ० २ सूत्र ९ में बताया है कि मर्यादा से बाहर रहना अतिक्रान्त दोष का सेवन है। आ० श्रु० २ अ० १२ उ० १ में एक मास उपरान्त रहना मना किया है और चौमासा खत्म होते ही प्रतिपदा के दिन विहार करना बताया है। निशी० उ० २ सूत्र ३६ व ३७ में कल्प उपरान्त रहने पर मासिक दंड बताया है। तेरहपंथी इन आज्ञाओं के

विरुद्ध आचरण करते हैं। दीक्षा का बहाना बना कर अधिक दिन ठहरते हैं। यह सरासर जिन-आज्ञा की अवहेलना है।

(२) वृहद० उ० १ सूत्र ७ में साधु को ग्रामादिक के क़िले में रहते समय जहाँ रहना वहाँ की गोचरी करना लिखा है, एक महीना क़िले के बाहर रहे तो किले के बाहर की गोचरी करना लिखा है। ऐसा ही साध्वी के लिए २ महीने का विधान है, परन्तु तेरहपंथी तो एक बड़े साधु को टाल कर भिक्षाचरी में इधर-उधर और उधर का इधर आहार लाकर और बड़े साधु का बहाना बना कर भोग लेते है, ऐसा ही सज्झातर के विषय में करते हैं। यह उनकी रस लोलुपता है जो उन्हें इतना साहस दे देती है कि खुल्लमखुल्ला सूत्र के विरुद्ध आचरण करें।

(३) तेरहपंथी मन्त्र-जंत्र भी करा लेते है। निशी० उ० २ सूत्र ६५ व ७२ में वशीकरण मन्त्र तन्त्र आदि व डोरा आदि कराने वाले साधु को मासिक दंड बताया है। उत्त० अ० ५ में बताया है कि कुविद्या अनन्त काल तक रुलाती है, इसलिए ज़न्त्र-तन्त्र आदि न करना कराना चाहिए।

(४) वृहद कल्प० उ० १ सूत्र १२-१३ में बताया है कि साध्वी को दुकान में, चौरास्ते पर के स्थान में या गली में या राजपंथ में नहीं रहना चाहिए। इनकी साध्वियाँ रहती हैं जो सर्वथा अनुचित और दोषयुक्त है। वृहद० कल्प उ० १ सूत्र २९ व ३० में साध्वी को उस मकान में जिस में पुरुष रहता हो रहना मना किया है, स्त्री जाति रहती हो वहीं रहना

बताया है; परन्तु कहीं कहीं तेरहपंथी साध्वियाँ दूकान के ऊपरी भाग में तथा झरोकों में जहाँ पुरुष का ज्यादह प्रवेश होता है वहाँ भी ठहर जाती हैं। यह बिल्कुल स्पष्ट अनाचार है।

(५) बृहद कल्प उ० ३ सूत्र २२ में साधु को गृहस्थ के घर में जाकर खड़ा रहना, बैठना, चारों आहार आदि करना मना किया है। हाँ, रोगी सतवीर तपस्वी जर्जरित (क्षीण) देहवाला, मूर्च्छागत आदि साधु कारणवश बैठना आदि कर सकते हैं। बृहद० कल्प उ० ३ सूत्र २२ व २३ में गृहस्थ के घर बैठकर चार पाँच गाथा विस्तार से तथा कथा, वार्ता व्याख्यान करना मना किया है। हाँ, एक प्रश्न एक हेतु या एक गाथा या एक श्लोक विशेष कारण से कहने की अनुमति दी गई है। दशवै० अ० ३ सूत्र ६ में गृहस्थ के घर में बिना कारण बैठना अनाचार बताया है। सुय० श्रु० १ अ० ९ सूत्र २१ में उपर्युक्त काम करने को संयम की विराधना कहा है, क्योंकि गृहस्थ के घर सोना आदि संसार में भ्रमण करने का कारण है। दशवै० अ० ६ सूत्र ५७ ५८, ५९ व ६० में लिखा है कि गृहस्थ के घर में साधु बैठे तो मिथ्यात्व लगता है, ब्रह्मचर्य नष्ट होता है, प्राणी का वध होता है, संयम का विनाश होता है, भिक्षाचरी में अंतराय होता है, मालिक को क्रोध उत्पन्न होता है, ब्रह्मचारी की नौ साधनाओं का खंडन होता है, स्त्री को शंका उत्पन्न होती है, अतः गृहस्थ के घर साधु को बैठना त्याज्य है। ये तेरहपंथी व्याख्यानादि बैठ कर देते हैं—यह सूत्र-विरुद्ध है।

(६) दशवे० अ० ७ सूत्र ४७ में गृहस्थ के हाथ से काम कराना मना किया है। निशी० उ० १२ सूत्र ४४ मे गृहस्थ से भार उठवाना मना किया है, उठवाने पर चौमासिक दंड बताया है, परन्तु तेरहपंथी जो औषधि सुई कतरनी वस्त्र आदि अनेक पाड़िया की वस्तुएँ लाते है वे पीछे गृहस्थ के घर जाकर देना चाहिए परन्तु अपने स्थान पर ही गृहस्थ को सुपुर्द कर देते हैं और गृहस्थ अपने घर को ले जाता है। इस तरह साधु को जो बोझ स्वयं उठाना चाहिए था उसे गृहस्थ से उठवा लेते हैं। यह जिन-आज्ञा का अनादर है।

(७) जब किसी श्रीमंत के घर में मृत्यु आदि होती है या जब वहाँ कोई व्यक्ति बीमार आदि होता है तब वहाँ दर्शन देने के लिए वे रोज जाते रहते है, धर्म-चर्चा करते है, कथावार्ता व्याख्यान आदि भी सुनाते है परन्तु सबके यहाँ नहीं जाते है। सरस आहार जहाँ मिलता है उसी घर में विशेष रूप से जाकर धर्म का उपदेश देते हैं। भगवान के आदेशानुसार गौतम महाशतक श्रावक के घर रेवती को कटु वचन कहने के बारे में और उसे शुद्ध करने के बारे में गए थे, गौतम स्वेच्छा से अनंद श्रावक के घर उसका संथारा देखने गए थे लेकिन श्रावक के कहने बुलाने से नहीं गए थे जब कि ये तेरहपंथी लोग तो कहने बुलाने से जाते हैं, जो सर्वथा शास्त्र के विरुद्ध है।

(८) वृहद० उ० ४ सूत्र १२ के अनुसार २ कोस से अधिक दूर आहार पानी ले जाना त्याज्य है। निशी० उ० १२

सूत्र ३८ में आधे भोजन उपरान्त भोजन ले जाने और भोगने पर चौमासिक दंड बताया है। परन्तु ये लोग औषधि आदि कुछ अधिक ले जाकर गृहस्थ की आज्ञा से भोग लेते हैं जो सर्वथा सूत्र की आज्ञा के विरुद्ध है।

(९) वृहद कल्प उ० २ नि० उ० ९ मे सज्ञातर का आहार लाकर भोगना मना किया है, इसका विस्तृत वर्णन है। परन्तु तेरहपंथियों में आर्यिका के सज्ञातर का आहार तो साधु ले आते हैं और साधु के सज्ञातर का आहार साध्वी ले आती है और दोनों का आहार-सम्भोग होता ही है। अतः यह कहा जा सकता है कि साधु साध्वी दोनो अपने अपने सज्ञातर का आहार भी भोगते हैं, दिखाने के लिए यह अदली-बदली कर लेते हैं जो सर्वथा कूट-नीतिज्ञता-पूर्ण है। जिस मकान में साधु रहता है वह मकान रात को छोड़ कर अन्य मकान में जाकर रात को ठहर जाता है ताकि वहाँ से आहार ले सके। ऐसा करने पर सज्ञातर को पता लग जाता है कि कल हमारे यहाँ आहार को जरूर आयँगे तो वह इसके लिए तय्यारी करता है और ये खाने के लोलुपी वह उद्दिष्ट भोजन ले आते हैं। परन्तु निशी० उ० ११ सू० ८३ में दंड बताया है। निशी० उ० २ सूत्र ४६ में सज्ञातर का पिंड लेना और भोगना, घर की जानकारी बिना गोचरी के लिए जाना, मना है दंडनीय है। तेरहपंथी ये सब दोष करते ही हैं।

(१०) दशवे० अ० ४ भि० ४ में यह कहा है कि दूसरे

के ज़रिए भी हिंसा-कार्य करने का त्याग किया है। भग० श० १६ उ० ७ सूत्र १ में यह वर्णन आया है कि उघाड़े मुख से बोलने से सावद्य भाषा होती है, यत्न-पूर्वक बोलने से निर्वद्य भाषा होती है, रायशी देवसी प्रतिक्रमण के अतिचारों में वायु-काय में उघाड़े मुँह बोलने बुलाने, बुलाते को अच्छा जानने पर मिच्छामि दुक्कडं देना लिखा है। इस पर से यह स्पष्ट है कि मुँह उघाड़े कोई बोले तो उत्तर नहीं देना चाहिए, उघाड़े मुँह बोल कर आहारादि दे तो आहारादि ग्रहण नहीं करना चाहिए अन्यथा वह दूसरे के द्वारा हिंसा-जनक कार्य कराने का दोषी ठहरता है। तेरहपंथी यह दोष-सेवन करते ही हैं। उवाई समवशरण अधिकार के सूत्र १२७ के अनुसार कोणिक राजा ने यत्न-पूर्वक मुख से भगवान से वार्तालाप की थी। यह उदाहरण तेरहपंथियों के व्यवहार को अनुचित ठहराता है।

(११) तेरहपंथी साध्वियाँ अन्य स्त्रियों द्वारा घड़ी में बांध कर लाई हुई औषधि सुई कतरनी आदि ले लेती है। ये समोर लाई हुई वस्तुएँ ठहरीं, क्योंकि बाइयाँ सामायिक को आती हैं फिर ये सामान क्यों लाती हैं? स्पष्ट है कि वे साधु साध्वियों के उद्देश्य से लाती हैं। यह अग्राह्य है। दशवै० अ० ३ सूत्र २ में वस्त्रपात्रादिक आहार पानी समोर लाया हुआ लेना अनाचार बताया है। दशवै० अ० ६ सूत्र ४९ में समोर लाया आहार लेने वाला द्रव्यलिंगी यति बताया है। दस्सा० श्रु० अ० २ सूत्र ७ में आहार पानी वस्त्रादि समोर लाया हुआ लेने में

सवला दोष लगना बताया है। निशी उ० १८ में समोर लाया हुआ लेने में मासिक दंड बताया है। निशी० उ० ३ सूत्र १५ व १७ में ३ दरवाजों के उपरान्त समोर लाया हुआ लेने में चौमासिक दंड बताया है, इत्यादि। जगह जगह मना होने पर भी तेरहपंथी इनके उद्देश्य से लाया हुआ वस्त्रादि लेते है जो सर्वथा जिन-आज्ञा के विरुद्ध है।

इस तरह यह स्पष्ट है कि ये लोग संयम से भ्रष्ट हैं, असाधु हैं। भगवान की निम्न ताड़ना इन लोगों पर अच्छी तरह लागू होती है—

पाठ—

अहम्मठी तुमंसि णाम बाले, आरंभट्ठी अणु-
वयमाणे 'हणपाणे' घाय माणे हण ओयावि
समणु जाण माणे 'घोर धम्मे उदेरिए' उव
हइणं आणाणाए एस विसण्णे वितद्दे विया-
हिते तिबेमि ॥ ८ ॥

— आचा० श्रु० प्र० अ० ६ उ० ४ सूत्र ८

शब्दार्थ—अ० – अधमार्थी, तु० – तू है, णा० – नाम, बा०– मूर्ख, आ० – आरंभार्थी, अ० – कहता हुआ, ह० – मारो प्राणी को, घा० – घात करते को, ह०–मारते को, स० – अच्छा जानता है, घो० – रौद्र, ध०– धर्म, उ० – प्रकाशित, उ० – उपेक्षा करे, आ० – आज्ञा बाहिर, ए०– यह, वि० – हिंसक, वि० – कहा गया है, ति० ऐसा, बे० – कहता हूं ॥

भावार्थ—संयम से भ्रष्ट होने वाले को सत्पुरुष इस प्रकार उपदेश करते हैं कि 'अहो, तू प्राणियों का घात करता है, जीवों को मारने का कुबोध करता है, इसी से तू हिंसा का भागी है, धर्म से अपरिचित है, अधर्म का अर्थी है, तीर्थंकरों ने दुष्कर होते हुए भी जो व्यवहार्य है ऐसा धर्म फरमाया है। तेरे जैसा कायर उसका निर्वाह नहीं कर सकता है इसी से तू जिन-आज्ञा की भयंकर रूप से उपेक्षा करता रहता है और विषया-सक्त बन कर हिंसा में तत्पर रहता है ऐसा मैं कहता हूँ'।

उपसंहार

पुस्तक में अथ से इति तक जो वर्णन है उससे भली-भाँति यह स्पष्ट हो जाता है कि तेरहपंथियों का जीवन साधु जीवन नहीं है; बल्कि साधु वेषमें पाखण्ड, दम्भ, अहंकार, असत्य, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, गर्व, माया, कपट, ईर्ष्या, राग, द्वेष, असन्तोष, लोभ, मान, क्रोध, वासना आदि दुर्गुणों से भरा हुआ पतित दयनीय जीवन है। मनुष्य-जन्म पाकर भी इन लोगो ने उसकी जो मट्टी पलीद की है, अपना जो भयंकर पतन किया है, वह इनका बड़े से बड़ा दुर्भाग्य है। मोक्षमार्ग को छोड़कर इन्होंने जो विनाश और पतन की ओर क़दम बढ़ाया है उसके फलस्वरूप अनन्त काल तक चतुर्गति-मय संसार में, दुखों से भरे हुए जगत में, भ्रमण करने की तय्यारी कर ली है। अहा, कैसा दुर्भाग्य है कि चिंतामणि रत्न पाकर भी उसे अथाह समुद्र में गिरा रहे हैं। इनकी दुर्दशा देख कर इन पर दया आती है और भगवान के तीर्थ का अनादर देखकर आँसू आते हैं। क्या इनका उद्धार नहीं होगा, भगवान के तीर्थ की दशा कब सुधरेगी, ये ही प्रश्न दिमाग़ में बार बार घूमते हैं। इसी परेशानी ने यह किताब लिखाई है। उद्देश्य यही है कि भगवान के तीर्थ की दशा सुधरे,

जिनवाणी माता का मुख उज्ज्वल हो, कुपथगामियों का उद्धार हो, भोलीभाली समाज को सत्पंथ मिले, दुनिया में सच्चे साधुओं का प्रताप फैले, ढोंगियों दम्भियों दुराचारियों का भंडाफोड़ हो, वे अधिकार-च्युत हों । भगवन्! क्या मेरी— आपके इस तुच्छ भक्त की—ये भावनाएँ कार्य में परिणत न होंगी ? क्या समाज धर्म और व्यक्ति का उद्धार न होगा ?

अन्त में मैं तेरहपंथियों से कहूँगा कि आप लोग अब अपना यह नाटक समेट लीजिए, आप समाज के रंगमंच पर काफ़ी नाच दिखा चुके और समाज को भी काफ़ी नचा चुके। अपने कल्याण की ख़ातिर, धर्म और भगवान के तीर्थ के सुयश की ख़ातिर होश संभालिए, हठाग्रह को छोड़िए, अन्धानुकरण का त्याग करिए। सर्व साधारण लोगो से मैं कहूँगा कि आप पर यह चरितार्थ न हो पाए ऐसा यत्न कीजिए:—

बड़ा ऊँट आगे भया पीछे भई क़तार ।
सबही डूबे बापड़े बड़े ऊँट की लार ॥

अथवा यह कि

एक एक के पीछे भला रस्ता कोई नहीं पूछता।
अन्धे फँसे सब घोर में कहाँ तक पुकारे सूझता ॥

बस, मैने इस पुस्तक में अपना दिल निचोड़ कर रख दिया है। जितनी भी मुझ सरीखे तुच्छ व्यक्ति में शक्ति है उतना मैने तेरहपंथियों को समझाने की कोशिश की है। अगर वे अपनी

भूल समझ कर धर्म के अनुकूल आचरण करेंगे तो लाभ उठायँगे अन्यथा उनका वही हाल होगा जो संभुत चक्रवर्ती का हुआ है। इसने अपने हठाग्रह और अहंकार के कारण मुनि के धर्म में चित्त देने के उपदेश को नहीं माना था जिसके परिणाम-स्वरूप वह सातवें नरक गया। तेरहपंथी अपने जीवन को नहीं सुधारेंगे तो उनके लिए भी विनाश का मार्ग खुला हुआ है।

अगर मेरे दिल की आवाज को किसी भूले भटके भाई ने भी समझा और समझ कर अपने भ्रम का निराकरण किया, अपने जीवन का सुधार किया, तो मैं अपने इस प्रयत्न को धन्य समझूँगा।

ओ३म। शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

परिशिष्ट १

पाठकों के सन्मुख अब सामान्य साधु व आचार्य को धर्म-विषयक कुछ आवश्यक बातें—दोष अनाचार आदि—सूत्रों से संग्रह कर के दिए जाते हैं, ताकि पाठकों को वास्तविक साधु धर्म के परिचय को और इन तेरहपंथियों के वास्तविक जीवन को देख कर इन लोगों की पोल मालूम हो सके—

४२ दोष

गृहस्थ की ओर से

१ आहाकम्मं – आधाकर्मी, साधु के लिए बनाया हुआ
२ उद्देसियं उद्धेशिक, साधु के उद्देश्य से बनाया हुआ
३ पुइकम्मं – पुति कर्म, कणमात्र भी शामिल
४ मिस्सजाय – मिश्र, शामिल भाव से बनाना
५ ठवणा – थापीता, साधु निमित्त स्थापित करना
६ पाहुड आए – महमान का भोजन आगे पीछे करना
७ पाउर – अंधेरे में उजाला करके लेना
८ किय – मोल का लेकर देना
९ पामाच्च – उधार लाकर देना

१० परियट्ठ — अदल बदल कर देना
११ अभिहड — सन्मुख लाकर देना
१२ अभिन्नो — छान्दा और किवाड़ खोल कर देना
१३ मालाहेड — ऊपर से नीचे लाकर देना
१४ अच्छीजे — निर्बल से छीन कर देना
१५ अणिसिट्ठ — साझीदार से बिना पूछे देना
१६ अज्जायरे — आँधन मे ज्यादह डाल कर देना

साधु की ओर से

१७ धाइ — धाय की तरह बालक को छीन कर लेना
१८ दुइ — दूत की तरह समाचार कह कर लेना
१९ निमन — निमित्त कहके लेना
२० अजिव — जाति बता कर लेना
२१ वणिमग्ग — लाचारी दिखा कर लेना
२२ तिगिच्छ — औषधि बता कर लेना
२३ कोह — क्रोध कर के लेना
२४ माण — मान कर के लेना
२५ माया — माया कर के लेना
२६ लोहा — लोभ कर के लेना
२७ पुव्यपच्छाय — दातार की आगे पीछे प्रशंसा करके लेना
२८ संथव — विद्या फोड़ कर लेना
२९ विज्जयंत — मन्त्रोपचार करके लेना
३० चुन्नजोगं — चूर्ण की गोली बता कर लेना

३१ मुलकम्मं – गर्भपात कर के लेना
३२ उप्पायण – संयोग कर के लेना

साधु व गृहस्थ दोनों की ओर से

३३ सकिए – शंकासहित लेना
३४ मक्खीए – मक्खी की पाख मात्रा भी सचित्त से लगा हुआ लेना
३५ निक्खते – सचित्त पर अचित्त रखा हुआ लेना
३६ पहेए – अचित्त पर सचित्त रखा हुआ लेना
३७ सरए – सचित्त अचित्त मिश्र लेना
३८ हयगो – अन्धे और लंगड़े से लेना
३९ मोस्साए – तत्काल का बना पूरा अचित्त न बना लेना
४० अपरणि – अधूरा शस्त्र परिणमा लेना
४१ लित – ताज़ी लिपी जगह में से लेना
४२ छठूए – गिरते गिरते लेना

मांडले के पाँच दोष

१ मनोज्ञा – दूध शक्कर का मेल मिलाना
२ अतिमात्र – प्रमाण से अधिक आहार करना
३ अमनोज्ञा – नीरस आहार विसरा के करना
४ मनोज्ञा – सरस आहार सराह के करना
५ धूम्र – दातार को सराहना विसराना

५२ अनाचार

१ उद्देसियं -- उद्देशिक, साधु निमित्त बना हुआ
२ कीयगड -- मोल का लाया, क्रीतगड
३ नियागं -- नित्यपिण्ड, रोज एक घर से लेना
४ अभिहडाणिय -- अभ्याहृत, सामने लाकर देना
५ राइभत्ते -- रात्रिभक्त, रात्रि भोजन करना
६ सिणाणीय -- स्नान, देश-थकी सर्व-थकी स्नान करना
७ गंध -- गंध, चन्दनादि लगाना
८ मल्लेय -- पुष्प, पुष्पमाला पहनना
९ वियणे -- विजणे हवा लेना
१० सन्नीही -- स्निग्ध मात्रा, घृत तेल आदि रात्रि में रखना
११ गिहमत्तेय -- गृहीपात्र, गृहस्थ के पात्र में जीमना
१२ रायपिण्डे -- राजपिण्ड, राजा आदि का वलिष्ठ आहार करना
१३ किमिच्छए -- किमिच्छीक, दानशाला का आहार लेना
१४ संवाहणं -- संवाधन, हड्डी मांस त्वचा आदि को तेलादि लगाना
१५ दंतपहोयणाए -- दंतप्रधान, अंगुली से दंतमंजन करना
१६ संपुच्छणा -- संप्रश्न, असंयमी से कुशल पूछना
१७ देहपलीयणाए -- आइने में चेहरा देखना
१८ अट्ठावएय -- अष्टापद, जुआ खेलना
१९ नालिए -- नालिका, शतरंज खेलना

२० छतस्सधारणट्ठाए — शिरछत्र, शिर ढकना
२१ तेगिच्छं — चिकित्सा करवाना
२२ पाहणापाए — पाँव में पगरखी (जूते) रखना
२३ समारंभंचजोइणो — अग्निकाय का समारंभ करना
२४ सिज्जातर पिण्डंच — सज्झातर का लेना
२५ आसंदि पलियंकए — आसंदिपर्यंक, पलंग पर बैठना
२६ गिहंतरनिसेज्जाय — गृहस्थ के घर अकारण बैठना
२७ गायसुवट्ठणाणिय — शरीर पर पीठी मलवाना
२८ गिहिणोवेयावडियं — गृहस्थ की वैयावृत्य करना कराना
२९ जाइआजीव वतिया — सम्बन्धी से आजीविका करना
३० ततानिवुडभोइतं — तीन उबाल बिना पानी लेना
३१ आउरस्सरणाणियं — क्षुधा पीड़ित कुटुम्ब का आश्रय लेना
३२ मुलए — मूली खाना
३३ सिगवेरय — अदरक खाना
३४ उच्छूखण्डे — गन्ने का टुकड़ा खाना
३५ अनिव्वुडे — सूरणा आदि कन्द खाना
३६ कंपमूलेय — मूणजणी खाना
३७ सचितेफले —सचित्त फल खाना
३८ विएयआमए — सचित्त बीज खाना
३९ सोवच्चले — संचल लोन खाना
४० सिंधवे — सैन्धा नमक खाना
४१ लोणे—सादा लोन खाना
४२ रोमालाणेयआमएं — रोमदेश का लोन खाना

४३ सामुद्दे – समुद्री नमक खाना
४४ पंसुखारिय – पंसुखार खाना
४५ काला लोणेय आमए – काला नमक खाना
४६ धुवणेति – धूप देना
४७ वमणेय – जान कर वमन करना
४८ वत्थिकम्म – गुप्त स्थान की शोभा करना
४९ विरेयणे – अकारण जुलाब लेना, विरेचन
५० अंजणे – अंजन करना
५१ दंतवणेय – दांतन करना
५२ गायाभंग विभुसणे–शरीर को सुशोभित करना

सव्वमेय मणाइणं निग्गंथाण महेसणं ॥

२२ परिषह

१ दिगच्छा – क्षुधा
२ पिवासा – तृष्णा, प्यास
३ सिय – शीत
४ उसिण – उष्ण
५ दसमसय – दंशमंश
६ अचेल – वस्त्र
७ अरई – अरति
८ इत्थि – स्त्री
९ चीरिया – चलना
१० निसिहिया – बैठना, निषधा
११ सेज्जा – शय्या

१२ अक्कोस — आक्रोश

१३ वह — वध

१४ जयण — याचना

१५ अलाभ — अलाभ

१६ रोग — रोग

१७ तणफास — त्रण, पास

१८ जल — जलमैल

१९ सकार पुकार — सत्कार

२० पन्ना — पुरुषाकार, प्रज्ञा, ज्ञान

२१ अन्नाण — अज्ञान

२२ दंसण — दर्शन

२१ सबळे दोष

१ हतकम्मंकरेमाणे सबले — हस्तकर्म

२ मेहुण पडिसेवेमाणे — मैथुन

३ राइभोयणंभुज्जमाणे — रात्रि में चारों आहार करना

४ आहाकम्मंभुजमाणे — आधाकर्मी आहार लेना

५ रायपिंडे भुजमाणे — राजपिण्ड (पराक्रमी आहार करना)

६ कीये — मोल का लेना

,, पामीच्चं — उधार लाया लेना

,, अच्छिजं — बलात्कार पूर्वक लेना

,, अणिसिट्ठं — विना आज्ञा के लेना

,, आहट्ठूदिजमाणं — सन्मुख लाया लेना

७ -अभिक्खणं पडिमाइखिता भुजमाणे--वारम्बार त्याग को तोड़ना

८ अंतोछमासस्साणाओगणं संक्रेमाणे — छह मास के अन्दर गुणवन्त को छोड़ कर दूसरी टोली में जाना

९ अंतोमासस्सतओ उदगलेवंकरे माणे — एक मास में तीन पानी का लेप लगाना

१० अंतोमासस्सतओ माइट्ठाणे करे माणे — एक मास में तीन माया-स्थान का सेवन करना

११ सागरियापिण्ड भुजमाणे — सज्झातर का पिण्ड भोगना

१२ आउट्टियाएपाणाइ वायं करे माणे — जान कर प्राणी का घात करना

१३ आउट्टियाए मुसावायं करे माणे — जान कर झूठ बोलना

१४ आउट्टियाए अदिणादाणं गिह्माणे — जान कर चोरी करना

१५ आउट्टियाए अणंतर हियाए पुढ़विए ठाणं वासंज्जवानिसिहीयिवाचेतमाणे — जान कर सचित्त पानी और रज पर बैठना

१६ एवं ससणिधाए पुढविए एवं ससरक्खाए पुढविए — जान कर सचित्त पृथ्वी और रज पर बैठना

१७ एवं आउट्टियाए चितमंत ताए सिला लाएचिंत मंताए लेलूए कोलावासं सिवा दारू एजीव पइट्ठिए सअंडे सपाणा सवीए सहरीय सअण्डे सउस्से सउतिंग पणग दगमट्टीय मक्कडा संताणए तह पगारे ट्ठाणं वासिज्जवा निसिहियवा चेतमाणे — जान कर सचित्त पृथ्वी कंकर कीड़ी नगरा प्राण बीज आदि पर बैठना

१८	आउट्टियाए मुलभोयणं वा कंद भोयणवा पत, भोयणं पुप्फ भोयणं फल-भोयणं विय भोयणं वा हरिय भोयणं वा भुजमाणे	जान कर मूल कन्द सकन्द त्वचा कुपल पत्ते फूल फल बीज हरी काय का भोजन करना
१९	अंतोसवच्छ रस दस उदगलेव करमाणे	एक वर्ष में दस पानी के लेप लगाना
२०	अंतोसवच्छ रस दस माइट्ठाणं करेमाणे	एक वर्ष मे दस माया स्थान का सेवन करना
२१	आउट्टियाए सीतोदग ओघाइएणं हत्थेणवा मंतण वा दव्विए भाय णेणवा आसणवा पाणंवा खाइ-मंवा साइमंवा पडिग्गहा हेता भुजमाणे	जान कर सचित्त रज पानी या सचित्त द्रव्य से लगा आहार पानी ग्रहण करना

२० असमाधि

१ दव दव चारियावी भवति — चपलता से चलना

२ अप्पमज्जीय चा० — दिन को न देख कर चलना, रातको न पूँज कर चलना

३ दुप्पमज्जीय चा० — पूजना कहीं, चलना कहीं

४ अतिरिय से ज्ञासणियं — प्रमाण उपरान्त पाट पाटले भोगना

५ रायणिय पारभासी — बड़े को हीन वचन कहना

६ थेरोवधायाणेए — बड़े का घात चाहना

७ मुतोवघातिए — पृथ्वी आदि जीव की घात चाहना

८ संगलणेकोहणे — क्षण क्षण में क्रोध करना
९ पिठमंसेया विमवति — पीठ पीछे अवगुणवाद बोलना
१० अभिक्खणं उभारिता भ० — वार वार दूसरों के दुर्गुणों को कहना
११ णवाइ अधि करणाइ अधि० — नए क्लेश को उत्पन्न
२ विभवति करना
१२ खमित्त विउ सविताइ उदिरता भ० — बीते हुए समय के क्लेश को उत्पन्न करना
१३ अकाले सझ्याओ करियावि भ० — अकाल में सिज्झाय करना
१४ ससरक्खपाणीपदे — सचित्त से लगा हुआ आहार लेना
१५ सदकरे — प्रहर रात्रि बाद सूर्योदय पहिले जोर २ से बोलना
१६ भयकरे — संघ में फूट डालना
१७ झझकरे — हरवक्त कटोर वचन बोलना
१८ कलहकरे — संघ में झगड़ा उत्पन्न करना
१९ सुरप्पमाणमोइए — दिनभर खाऊँ खाऊँ करना
२० एसणाइ अभियाचि भ० — भन्डोपकरण की पूरी गवेषणा नहीं करना

आचार्य की ८ संपदा

१ आयार संपया (आचार संपदा) — संयम अखंडित पालना (क्रिया आदि)

२ सुय संपदा (सूत्र संपदा) – श्रुतज्ञान रखना; पाठी शुद्ध उच्चारी रहना

३ सरीर संपदा (शरीर संपदा) – शरीर हीनता रहित लम्बा पूरा

४ वयण (वचन) सं० – राग द्वेष रहित संशय रहित स्पष्ट शब्द बोलना

५ वायणा (वाचना) सं० – पात्र जानकर भेदानुभेद सिखाना

६ मत्ति (मत्ती) सं० – निर्मल मति का होना, स्वचक्षु से ग्रहण करना, कठिन शब्द की धारणा रखना,

७ प्पयोग (प्रयोग) सं० – सूत्र प्रमाणे वस्तु ग्रहण करना, स्थान देखकर चर्चा आदि करना।

८ संगगह परिणाणणंमं – क्षेत्र आदि उपकरण आदि प्रमाण ॥१॥ से अधिक संग्रह न करना

परिशिष्ट २

यहाँ प्रतिक्रमण पाठ इसलिये दिया जाता है जिससे पाठक समझें कि तेरहपंथी साधु (द्रव्यलिंगी) बोलते क्या हैं और आचरण में लाते क्या है ?

श्री साधु प्रतिक्रमण विधिपूर्वक

श्री श्रीमंदरदेवाय नमः देवसी, कींवा, रायसी, चोविस्था की आज्ञा श्रीगुरु महाराज श्रीमन्द्रस्वामीजी की लेणी, चोविस्था करना, १ इच्छामि पडीक मेउकी पाटी कहणा २ एक नवकार व ३ तस्स उत्तरी की पाटी, ताव काय सुधी कह के ध्यान में ४ ईच्छामि पडिक मेउकी की पाटी कहणा और ५ नवकार बोल करके ध्यान संपूर्ण करना पीछे ६ एक प्रगट लोगस्स कहणा ७ नमोथुणं की पाटी बोलना ८ एक पीछे देवशी, कींवा, रायशी, प्रतिक्रमणा की आज्ञा लेना विधियुक्त वन्दणा करके पिछे प्रतिक्रमण स्थापना फिर,

१ आवस ही इच्छा मिणंभते तुभेणं अभणु नाये समाणे देवशी किंवा, रायशी पडिकमणु ठायमि देवशी, किंवा, रायशी ज्ञान दर्शन चारित्र, तप, अतिचार चिंतवनार्थ करे मि काउ-स्सग्गं २ नमो अरिहंताणं का सम्पूर्ण पाठ कहणा पिछे ३....

करेमिभन्ते समायं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चखामि जायजीवाए तिविहेणं भणेणं वांयाए काएणं न करेमि न कारवेमि न करंतंपि अन्नं न समणु जाणामि तस्सभंत्ते पडि-कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि पिछे ४ इच्छामि ठामि काउस्सग्गं जोमेदेवसिओ किंवा, राय-शीओ अईयारो कउ काईओ वाईओ माणसिंओ उस्सुतो उमग्गो अकप्पो अकरणिज्ञो दुझाउं दुची चिंतिओ अणयारो अणिच्छी अन्नो असमणे पाउग्गो नाणे तह दंसणे चारित्ते सुइए समाइए तिण्हं गुत्तिणं चउण्हं कसायाणं पंचण्हं महाव्रयाणं छण्हं जीवणी कायाणं सतण्हं पिंडे सणाणं अट्ठण्हं पव्वयमाओणं नवण्हं वंभचरगुतीणं दसविहे समण-धम्मे समणाणं जोगाणं जंखंडियं जं विराहियं तस्समिच्छामि दुक्कडं ॥

पीछे ५ तस्स उत्तरी की पाटी ताव काय सुधि ध्यान करणा ध्यानमें, १ आगमे तिविहे पन्नत्ते तं जहा सुत्तागमे अत्थामे तदुभयागमे एवा माहारा श्री ज्ञान के विषे जे कोई अतिचार दोष लाग्यो होय ते आलोउ १ जं वाइधं २ वच्चमिलियं ३ हिनक्खरं ४ अच्चक्खरं ५ पयहिणं ६ विण-यहिणं ७ जोगहिणं ८ घोसहिणं ९ सट्ठुदिन्नं १० दुट्ठू-पडिच्छियं ११ अकाले कउ सिझाए १२ कालेण कउ सिझाए १३ असिझा ये सिझाय १४ सिझाए न सिझाय भणतां गुणत्तां

विचारतां चोखतां ज्ञान अने ज्ञान वतनी अविनय असातना किधी होय तो तस्समिच्छामि दुक्कडं ॥ पिछे ॥-२-॥

दशण श्री समकित अहंतो महदेवो जावज्जी-वं, सुसाहुणो गुरुणो जिणं पन्नतं ततं इय सम्मतं मए गहियं एवा मारा समकित के विषे जे कोइ अतिचार दोस लाग्यों होय ते आलोउ जिन वचन साचान सरध्या होंय १ न प्रतिल्या होय २ न रुच्या होय ३ ॥ १ ॥ प्रदर्शण की अकागङ्या वांच्छा किधि होय २ प्रपासन्डी की परशंसा किधी होय ३ सस्तवो [परिचय] किधो होय ४ फल प्रते संदेह संशय आण्यो होय ५ तो समकित रुपि रत्न उपरे मिथ्यात्व रुप रज मैल खेह लाग्यो होय तस्समिच्छामि दुक्कडं अतिचार पृथ्वीकाय के विषय जे कोई अतिचार दोस लाग्या हो ते आलोउ।

पृथ्वीकाय में १ मुरड २ मट्टी ३ खडि ४ गेरु ५ हिंगलु ६ हरताल ७ सुरमो ८ खापरियो आदि देइने विराधना १ किधि होय २ कराई होय ३ करता प्रते भलो जाण्यो होय ते देवसी किंवा रायशी पडिक्कमणो मिच्छामि दुक्कडं। अपकाय मे १ द्दार २ ओस ३ हेम ४घडा ५कुंवारो पाणी ६तलावरो पाणी ७काचो पाणी ८ मिश्र पाणी ९ संकारो पाणी आदि देइने विराधना किधी होय ३ तस्समिच्छा० तेउकायमे ॥ १ खीरा २ अगिरा ३ मोमर ४ भरसाड ५ झाला ६ तुटति झाला ७ आहारादि कर संघठा करके कोई विराधना किधी होय ३ तस्समिच्छा० ॥ वाउकायमे ॥ १ उकलयावाय २-मंडलयावाय ३ घणवाय

४ तणवाय ५ समवाय ६ छिंक ७ खासी ८ वाघासी ९ उठतां १० बैठता ११ हालता १२ चालता १३ पुंजता १४ पडिलेहता १५ उघाड़े मुँढे आदि देईने विराधना किधि होय ३ तस्स-मिच्छा० ॥ **वनसपतिकायमे** ॥ १ हरी तरकारी २ वीज ३ अंकुरा ४ कण ५ कपाशीया ६ लिलण ७ फुलण आदि देइने वनसपति काय की विराधना करी ३ तस्समिच्छा० ॥ **त्रसकायमो** ॥ १ वेन्द्री २ लट ३ गिन्डीला ४ चिरमिया ५ संक ६ सिघोटिया ७ कवडा ८ जलोक ९ वाला परमुख आदि देइने विराधना किधि होय ३ देवशी कीवा रा० पडि० पाप दोस० मिच्छा० ॥ **तेइन्द्रीमे** ॥ १ जू २ लिख ३ किडि ४ माकोडी ५ चांचर ६ माकड ७ गजई ८ खीजुरिया आदि देइने विराधना किधी होय ३ तस्स मिच्छा० ॥ **चोइन्द्रीमे** ॥ १ ढिंड २ पतंग ३ भमरा ४ भिगोडी ५ माखी ६ मच्छर ७ कसारी ८ बिच्छू आदि देईने विराधना किधि होय ३ तोरावयशी० देवशी पडि० तस्स मिच्छा० ॥ **पंचेइन्द्रीमे** ॥ १ जलचर २ थलचर ३ उरपर ४ भुजपर ५ खेचर ६ छीमोछीम ७ गरभेज ८ चवदेस्थानकरा जिव आदि देईने विराधना किधि होय ३ दे० रा० पडि० मि० ॥ **इरयासमितिकेविषे** ॥ १ द्रव्यथकी इरया-समिति दिवसथकी जोयन चालणो २ क्षेत्रथकी धुसर प्रमाण ३ कालथकी दिवस ने विषे ४ भावथकी दसवोल वरजीने ५ गुणथकी उपयोग सहित जोयने चालणो संवर निरजरा अर्थे जे कोई अति चा० दोप०. दे० पडि० तस्स.मि०.॥

भाषासमितिनेविषे ॥ १ करकसकारी २ कठोरकारी ३ छेदनकारी ४ भेदनकारी ५ पर प्राणी ने पीडाकारणी ६ हिंसाकारणी ७ सपापसहित भाषा बोली होय ३ तो दे० रायशी० पडि० मि० ॥ **एसणासमितिनेविषे ॥** जे कोई अतिचार दोष लाग्यो होय ते आलोउ १ सोला दोस उदगमनरा सोला उतपातरा, दशएसणा का, पाँच मान्डलाना-पूर्व पच्छात् लाग्या होय ते रा० दे० पडि० मि० अयार भंन्डमत निखेवणा **समितिनेविषे ॥** जे कोइ अतिचार दोस लाग्यो होय ते आलोउ १ भन्डी उपगरण २ वस्त्र ३ पात्र ४ विनपुज्या विनप्रतिलेख्या-लिधा होय या मुक्या होय तो दे० पडि० मि० ॥ **उचारपासवण खेलजल-सिंघायण परिठावणीया समितिनेविषे ॥** जे कोई अतिचा० दोप० आलोउ १ उचारपासवण भूमिका अप्रति लेखी होय २ दुपडीलेहि होय ३ अपर मरजि होय ४ दुपरमरजि होय ५ विन पुंज्याप्रठाविं होय जवता आवशेहि २ आवता निशेही २ प्रठावतां अवझाण जस्सउग्गं ओसरे २ नहि कियो होय तो दे० रा० पडि० मि० ॥ **मनगुप्तिनेविषे** जे कोई अतिचार० दोप० आलोउ १ मन आडडोड २ संकल्प विकल्प ३ विषय ४ कपाय ५. रागद्वेप थकी संजम थी मन बाहिर निसर्यो होय तो दे० रा० मि० ॥ **वचनगुप्तिनेविषे ॥** १ स्त्री-कथा २ राज कथा ३ देश कथा ४ भक्त कथा अनेरी विकथा असंजतिने आवजाव कियो होय तो, दे० रा० पडि० मिच्छा० ॥ **कायागुप्तिनेविषे ॥** जे कोई अतिचार दो० आलोउ काया अजेणा

सहित असावद्यपणे विन पुज्या हात पग पसाऱ्या होय संकोच्या होय उड्डीगण लियो होय तो दे० रा० पडि० मिच्छा० ॥

पहला महाव्रतनेविषे ॥ जे, कोई अतिचार० दो० ते आलोउ छ जीव नी काय नि विराधना किनी होय ३ मि० ॥ **दुजा महाव्रतनेविषे** ॥ जे० अ० दो० ते आलोऊँ १ क्रोध करी २ मान करी ३ माया करी ४ लोभ करी ५ हास्य करी ६ कितोल करी ७ मृपावाद ८ झूठ बोल्यो होय ३ तो दे० रा० पडि० मि० ॥ **तिजामहा०** ॥ वि० जे० अ० दो० आलोउ १ देव आदत्त २ गुरु आ० ३ साधर्मी आ० ४ राज आ० ५ गाहावई याकेनी आ० लिधि होय ३ दे० रा० पडि० मि० ॥ **चौथामहा०** ॥ वि० जे० अति० दो० आलोउ १ काम राग २ स्नेह राग ३ दृष्टि राग ४ देवता देवांगना ५ मनुष्य ६ मनुष्यणी ७ तिर्यंच ८ तिर्यंचणी संमंधिया काम भोग सेव्या ३ होय तो दे० रा० पडि० मि० ॥ **पाँचवामहा० विषे** ॥ जे० अति० दो० आलोउ १ सचित्त परिग्रह २ अचित मिश्रपरिग्रह छता उपरराग अछत्ता की वान्छा १ शब्द २ रुप ३ रस ४ फरस ५ भला उपरराग भुंण्डा ऊपर द्वेष आयो होय ३ तो दे० रा० पडि० मिच्छ० ॥ **छट्ठा रात्रीभोजन के विषे** ॥ जे० अति० दो० आलोउ १ असणं २ पाणं ३ खादिमं ४ स्वादिमं ५ रात्री स्निग्ध सितमात्र राख्यो ३ तो दे० रा० पडि० मिच्छा० ॥ **पाँचमहा० २५ भावना न** भायी होय तो मि० ३३ असातना माहिली कोई असातना किधी होय तो मि० ॥ पीछे ॥

१ अठारह पाप स्थान कहणा, पाँच महाव्रत मूलगुण दस

पच्छ खाणादि उत्तर गुण में जे कोई अति० दो० मि० पिछे ॥२॥ इच्छामि ठामि आलोउ मे जो मे देवसेओ अइया रोकओ की पाटी कहणी ३ नवकार कही ने ध्यान पूरो करणो ॥ पीछे ॥ दुजाआवसग्गरी आज्ञा लेना ॥ २ ॥ पिछे ॥

एक लोगस्सकी पाटी कहना ॥ ३ ॥ तीजाआवसग्गरी आज्ञा लेना ॥ पिछे ॥ दोय खमा समणा की पाटी कहणी ॥ ४ ॥ चौथाआवसग्गरी आज्ञा लेणी ॥ पिछे ॥ ध्यान में कह्या सो सब प्रगटपणे कहणा संपूर्ण ॥ बाद में स्वमेव किंवा शुद्ध गुरु समीपे ॥ पाँच समिति ३ गुप्ति पंचमी गोचरी आदि दिवस सम्बंधी कीये कृतव्य सर्व आद करके अनुक्रमें शल्य माया रहित आलोचना करना और रात्री सम्बन्धी होय तो रायसी सम्बन्धी आलोचना शल्य रहित आलझझालादिक यामाठा स्वपनादिक या विविध प्रकार हुआ होय वो सर्व माया रहित खुले शब्दों में आलोचना करके प्रायःश्चित धारण करना जघंन्ये १ उपवास एक कर जुमा याने ४ चार मज्झम ३ या २ या ५ उदकृष्टा ७ या ९ या ११ विहारादिक हुवे तो जादा सर्व निशल्य होय ने आलोयने दण्ड अंगीकार करना ॥ पिछे ॥

१ तस्सखस्स देवसी किंवा रायशी अस्स अइयारस्स दुव्वीच्चींतिओ दुव्भासियं दुच्चीट्ठियं आलोयंतं पडिकमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाणं वोसी रामि २ नवकार सम्पूर्ण कहना ३ करेमि भन्ते की पांटी ४ चत्तारि मंगलिकनि पाटी ५ इच्छामिपडिक मेउ इरया वहियायकी पाटी ६ पिछे ॥

इच्छूं वांछूं — प्रतिक्रमवतो निवर्त्तवो
इच्छामि — **पडिक्कमिउ**

मर्यादा उपरांत विछौना किया हो
पगामसीझाए

इन्द्रियों की सुखकारी शय्या (विछौना) की हो — विछौना
निगामसीझाए — **संथारा**

विना देखे पूजे विछौना किया हो
उवट्टणाए

विगर पूजे पर्यटन याने वगल फेरी हो
परियट्टणाए

विगर पूजे हाथ पैर संकोचे पसारे हों — अंग-उपअंग पसारे हों
आउट्टाणाए — **पसारणाए**

पूजे विगर जूँ खटमल आदि रजादि रगडे हों, निद्रामें जोर से वोला हो
छप्पइ संघट्टणाए — **कुइए**

वड़वड़ाया हो यत्नासे छींका हो जँभाई ली हो आलस्य मोड़ा हो
कक्कराइए — **छिए** — **जंभाइए** — **आमोसे**

व्याकुल हुआ हो — आकुल व्याकुल हुआ हो — सोता हुआ स्वप्न में
आउल — **माउलाए** — **सुवणवतियाए**

स्त्री भोग महा स्वप्नादि देखे हों — दृष्टि विपरीत हुई हो
इत्थीविप्परियासियाए — **दिट्ठीविप्परियासियाए**

मन विपरीत हुआ हो. पानी भोजन विपरीत आदि किया हो
मणाविप्परियासियाए — **पाण भोयण** — **विप्परियासियाए**

जो मे दिवस रात्रि सम्बन्धी अतिचार लगे हों तो.
जो मे देवसिओ अइयारोकउ.
उसका मैं मिच्छामिदुक्कडं देता हूँ
तस्स मिच्छामिदुक्कडं ॥

निवर्तता हूँ
पडिक्कमामि

बहुत घरों से थोड़ा २ आहार लेना (१२ कुल की गउगोचरी)
गोयरचरियाए

भिक्षाचरी शास्त्रोक्त विधि से करना, थोड़े उघाड़े किवाड़ होते हुए
भिक्खायरियाए उघाड कवाड

ज्यादे खुले किए हों, कुत्ता, वछेड़ा, स्त्री, संघठा किया या लगा हो.
उग्घाडणाए साणा वच्छा दारा संघट्टणाए

अग्रभाग का साधु निमित्त स्थापन किया वो लिया हो
मंडिपाहुडियाए

वलिदान का स्थापा लिया हो,
वलपाहुडियाए

पुण्यार्थ या साधु के लिये स्थापा हुआ लिया हो,
ठवणा पाहुडियाए

शंका सहित लिया हो, जंबरन् का आदि लाया-लिया हो,
संकिए सहस्सागारे

अणएसणीक अकल्पता लिया हो, अधूरा शस्त्र का पानी लिया हो:
अणेसणाए पाणेसणाए

प्राणी सहित बेइन्द्रीयादिक सह भोजन लिया हो,
पाणभोयणाए
बीज सहित भोजन लिया हो,
बियभोयणाए
हरी वनस्पति सहित भोजन लिया हो
हरियभोयणाए

पश्चात् कर्म-दोष लगा हो, पहले दोषीला बना हुवा लिया हो
पच्छा कम्मियाए पुराकम्मीयाए

दृष्टि आड़ दोष लगा हो, सचित्त पानीका सँघठा सहित लिया हो
आदिट्ठहडाए दगससट्ठहडाए

सचित्त रंज लगा हुवा लिया हो, गिरता २ लिया हो
रयससट्ठहडाए परिसाडणियाए

अठावने लायक लिया हो, खुद का परिचय देकर भिक्षा ली हो
परिट्ठावणीयाए उहासणभिक्खाए

जे १६ दोष उदगमन का गृहस्थ से लगाया हो
जं उग्गमणं

१६ उतपात के दोष वितर्क बुद्धि कर लगाये हों १०
एसणाके ५ मंडला दोष लगाये हो
उप्पायणेसणाए

दोषीला लिया हो, लिया हो, भोगा हो फिर जो फिर नहीं
अपडि सुधं पडिग्गहियं परिभुतं वा जं च न

अठाया हो जो मे दिवस सम्बन्धी अतिचार किया हो
परिट्ठावियं जो मे देवसीओ अइयारोकउं
उसका मिच्छामिदुक्कडं पाप दूर हो
तस्स मिच्छामिदुक्कडं ॥ २ ॥

निवर्तता हूँ चार काल की सज्झाय न करी होय
पडिक्कमामि चउकालंसज्झायस्स अकारणयाए
रात्रि को दो दिवस की दो-दो काल की भंडोउपकरण
उभओकालं भंडोवगरणस्स
पडिले हनान की हो
अप्पडिलेहणाए
सूत्र के अनुसार अच्छी तरह प्रतिलेखना न की हो
दुप्पडिलेहणाए
अच्छी तरह न पुजी हो, रीति प्रमाण न पुजी हो, अतिक्रमी हो
अप्पमज्जणाए दुप्पमज्जणाए अइक्कमे
वतिक्रमी होय अतिचार अनाचार जो मे दिवस के विषे
वइक्कमे अइयारे अणायारे जो मे देवसीओ
अतिचार किया उसका मिच्छामिदुक्कडं देता हूँ
अइयारकओ तस्स मिच्छामिदुक्कडं ॥ ३ ॥

निवर्तता हूँ एक प्रकार का असंयम से नि०
पडिक्कमामि एगविहे असंजमेहिं पडि०

दो प्रकार का बन्ध प्रेम बंध द्वेष-बंध
दोहिं बंधणेहि राग बंधणेहिं दोपबंधणेहिं

नि० ३ दंड १ मन दंड २ वचन दंड
पडि० तिहिं दंडेहिं १ मण दंडेणं २ वय दंडेणं

३ काया दंड नि० ३ गुप्ति से १ मन गुप्ति
३ काय दंडेणं पडि० तिहं गुत्तिहिं १ मण गुत्तीणं

२ वचन गुप्ति ३ काय गुप्ति नि० ३ शल्य
२ वय गुत्तिणं ३ काय गुत्तिणं पडि० तिहिं सल्लेहिं

१ माया कपट शल्य २ नियाना फल इच्छा का शल्य
१ माया सल्लेणं २ नियाणा सल्लेणं

३ मिथ्या दर्शन का श० नि० ३ गर्व से
३ मिच्छा दसण सल्लेणं पडि० तिहिं गारवेणंहिं

१ ऋद्धि का गर्व २ रस का गर्व सुख शय्या का गर्व
१ इड्ढी गारवेणं २ रस गारवेणं ३ सया गारवेणं

नि० विराधना से १ ज्ञान की वि० से
पडि० विराहणाहिं १ नाण विराहणाए

२ दर्शन सम्यक्त्व की वि० ३ चारित्र की वि० से नि०
२ दसण विराहणाए ३ चारित्त विराहणाए पडि०

४ कषाय से १ क्रोध से २ मान से
चउविहिं कसाएणं १ कोह कसाएणं २ माण कसाएणं

३ माया से ४ लोभ से नि०
३ माया कसाएणं ४ लोभा कसाएणं पडि०

४ संज्ञा से १ आहार स० २ भय स०
चउविहिं सन्नाहिं १ आहार सन्नाए २ भय सन्नाए
३ मैथुन स० ४ परिग्रह स० नि०
३ मेहुण सन्नाए परिग्गह सन्नाए पडि०
४ विकथा से १ स्त्री क० २ भोजन क०
चउविहिं विकाहाहिं १ इत्थी कहाए २ भत कहाए
३ देश क० राज क० नि० ४. ध्यान से
३ देस कहाए ४ राय कहाए पडि० चउहिं झाणेहिं
१ आर्तध्यान २ रौद्र ध्या० ३ धर्म्म ध्या०
१ अट्टेणं झाणेणं २ रुद्देणं झाणेणं ३ धम्मेणं झाणेणं
४ शुक्ल ध्या० नि० ५ क्रिया से १ काया से लगे
४ सुक्केणं झाणेणं पडि० पंचहिं किरियाहिं १ काइयाए
२ अधिकरण (शस्त्र) से ३ द्वेष से ४ परिताप उपजाने से
२ अहि गरणियाए ३ पाउसियाए ४ परितावणीयाए
५ जीवघात करने से लं० नि०
५ पाणाइवाय किरियाए पडि०
५ प्रकार का काम गुण से १ शब्द २. रूप ३ गंध
पंचहिं काम गुणेहिं १ सद्देणं २. रुवेणं ३ गंधणं
४. रस ५ स्पर्श न अनुभव करूँ उनसे नि०
४. रसेणं ५ फासेणं पडि०

५ आश्रव से निवर्तता हूँ वह महाव्रत १ सर्व हिंसा त्यागे प्राणी की
पंचहिं महाव्वएहिं १ सव्वाओ पाणाइ वाय उवेरमणं
२ सर्व झूठ त्यागे
२ सव्वाओ मुसावाया उवेरमणं
३ सर्व चोरी त्यागे
३ सव्वाओ अदिन्ना दाण उवेरमणं
४ सर्व मैथुन त्यागे ५ सर्व परिग्रह त्यागे
४ सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ५ सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं
नि० ५ समिति १ ईर्या देखते हुए चले, रात्रि पूछ के चले
पडि० पंचहिं समिएहिं १ इरिया समिए
२ विचारे बोले निर्वद्य ३ निर्दोष भोगे
२ भाषा समिए ३ एसणा समिए
४ भंडोपकरण यत्नपूर्वक लेवे देवे
४ आयाण भंडमतनिक्खे वणा समिए
५ परिठावणीया समिति योग्य वस्तु यत्नपूर्वक निर्वद्य जगह परठावे
५ उच्चार पासवण खेल जल सिंघाएण परिट्ठा वणिया समिए
नि० ६ जीवनी काय १ पृथ्वी
पडि० छहिं जीवनीकाएहिं १ पुढविकाएणं
२ पानी, अप्प. ३ अग्नि ४ हवा
२ आओकाएणं ३ तेउ काएणं ४ वाउकाएणं
५ वनस्पति ६ त्रसकाया नि०
५ वणस्सइकाएणं ६ तस्सकाएणं पडि०

६ लेश्या से — १ कृष्ण लेश्या पाँच आश्रव सेवे
छहिं लेश्याहिं — १ कन्हले श्याए
२ नील लेश्या ईर्ष्या पर गुण ढके — ३ कापोत वक्र वचन बोले
२ निल लेश्याए — ३ काओ लेश्याए
४ तेजो प्रिय धर्मी — ५ पद्मचारी कषाय पतली
४ तेओ लेश्याए — ५ पम्ह लेश्याए
६ शुक्लध्यान ध्यावे नि० — ७ भयस्थान — ८ मद के स्थान
सुक्कलेश्याए पडि० — सतहिं भयट्ठाणेहिं — अट्ठहिं भयट्ठाणेहिं
९ ब्रह्मचर्य — १० प्रकार साधुधर्म — ११ श्रावक
नवहिं बंभचेरगुत्तिणं — दसविहिं समणधम्मे — एकारस्स उवासग्ग
पडिमा — १२ साधुप्रतिमा — १३ क्रियास्थान
पडिमाहिं — बारस्सहिं भिक्खुपडिमाहिं — तेरस्सहिं क्रियाट्ठाणेहिं
१४ प्रकार के जीव — १५ पमारधामि
चओदसहिं भुयगामेहिं — पन्नरसहिं परमाहम्मिएहिं
१६ अध्याय सुयगडांगके — १७ प्रकारके असंयम
सोलसहिं गाहासोलसएहिं — सतरसविहिं असंजमेहिं
१८ औदारिक वैक्रियक सम्बन्धी अब्रह्मचर्य
अट्ठारसविहिं अबंभेहिं
१९ अध्या० ज्ञाताताके — २० असमाधिस्थान
एगुणविसाए नायज्झयणेहिं — विसाए असमाहिट्ठाणेहिं
२१ सबला — २२ परिषह
एकविसाए सबलेहिं — बाविसाए परिसहेहिं

२३ अ० सुयगडांग २४ प्र० देवता

तेविसाए सुयगड झायणेहिं चओविसाए देवेहिं

५ महाव्रत की २५ भावना

पणविसाए भावणाहिं

२६ अ० १० व्यवहार० ६ वृहत्० १० दशा श्रु० के

छविसाए दसकप्पववहारेणं

एवं २६ उ० २७ साधु के गुण

तुदेसणकालेणं सताविसाए अणगारगुणेहिं

२८ अ० आचार कल्पका २९ पापसूत्र

अटाविसाए आयारकप्पेहिं एगुणतिसाए पावसुयपसेहिं

३० महामोहनीय स्थान ३१ सिद्धों के गुण

तिसाए मोहणीढाणेहिं एगतिंसाए सिद्धागुणेहिं

३२ जोगसंग्रह

बतिसाए जोगसगेहेहिं

३३ प्रकार गुरुअसातना सूत्रकारने ३३ प्र० अन्य प्रकारकी बताई हैं

तेतिसाए आसायणाएहिं ॥ ४ ॥

१ अरिहंताणं आसायणाए २ सिधाणं आसायणाए ३ आयरियाणं आसायणाए ४ उवझायाणं आसायणाए ५ साहूणं आसायणाए ६ साहुणीणं आसायणाए ७ सावयाणं आसायणाए ८ सावियाणं आसायणाए ९ देवाणं आसायणाए १० देविणं आसायणाए ११ इहलोगस्स आसायणाए १२ परलोगस्स

आसायणाए १३ केवलीणं आसायणाए १४ केवलीपन्नतस्स-धम्मस आसायणाए १८ सदेव मणुया सुरस्स लोगस्स आसायणाए-२९ सव्वपाण भूयजीव सताणं आसायणाए ३० कालस्स आसायणाए ३१ सुयस्स आसायणाए, ३२ सुयदेवय्यए असायणाए ३३ वायणरियस्स आसायणाए जंवाइधं वच्चामेलीयं-हिनक्खरं अचक्खरं पयाहिणं विणयाहिणं जोगहिणं घोसहिणं सट्ठू-दिन्नं दुटठूपडिच्छियं आदि देइने सम्पूर्ण कहणा ॥ ५ ॥

नमस्कार हो	२४ तीर्थंकर को
१० नमो	चओविसाए तित्थयराणं

ऋषभ देव से महावीर स्वामी तक	उत्कृष्ट सेवने योग्य
उस भाई महावीर	पज्जवसणाणं

इनके द्वारा	निर्ग्रन्थों के	प्रणीत किये	प्रवचन शास्त्र
ईणमेव	निग्गथं	पावयाणं	सच्चअणुतरं-
केवली द्वारा भाषित	प्रधान	निष्कलंक	शुद्ध है
केवलीयं	पडिपुन्नं	नेयाओयं	-संसुध
शल्यरहित	सिद्धगति का दाता	मुक्ति का दाता	निर्वाणमार्ग
सल्लगतणं	सिद्धीमग्गं	मुतिमग्गं	निजाणमग्गं
सब दुख रहित	इस मार्ग	मेरी सिद्धि	सब दुख
निव्वाणमग्गं	अवितह	मविसीद्ध	सव्वदुख
क्षय का मार्ग	जीव इसमें स्थापा है	सिजे	बुद्ध
पहिणमग्गं	इत्थंट्ठियाजीवा	सिझंति	बुझंति

मुक्त संसार पार हो सर्व दुखसे छूटे अंत करे
मुच्चंति परिनिव्वायंति सव्वदुक्खाण मंतं करांति
उस धर्म को श्रद्धा करता हूँ प्रतीत करता हूँ रुचता है
तं धम्मं सद्दहामि पतियामि रोयेमि
स्पर्श करता हूँ पालता हूँ विशेष पालता हूँ ऐसा धर्म
फासेमि पालेमि अणु पालेमि तं धम्मं
श्रद्धा करता हूँ विराधना रहित रुचि करता हूँ फरसता हूँ
सद्दहंतो पतियंतो रोयंतो फासतो
पालता हूँ विशेष पालता हूँ ऐसा धर्म केवली
पालंतो अणुपालंतो तस्स धम्मस्स केवली
प्रतिपादन किया इसलिए मैं अब उठा हूँ आराधना करने
पण तस्स अब्भुट्ठीयोमि आराहणाए
विराधना रहित विशेष विराधना रहित
विरओमि विराहणाए
असंयम को त्यागता हुआ संयम को अंगीकार करता हुआ
असंयम परियाणामि संयमं उवसं पवज्ञामि
अब्रह्मचर्य को त्याग करता हुआ ब्रह्मचर्य धारता हुआ
अबंभं परियाणामि बंभं उवसं पवज्ञामि
अकल्पनीक को त्यागता हुआ कल्पनीक लेता हुआ
अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसं पवज्ञामि
अज्ञान को त्यागता हुआ ज्ञान को अंगीकार करता हुआ
अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसं पवज्ञामि

खराब क्रिया को छोड़ता हुआ संयम क्रिया को करता हुआ
अकिरियं परियाणामि करियं उवसं पवज्झामि
मिथ्यात्व को छोड़ता हुआ सम्यक्त्व को धारता हुआ
मिच्छतं परियाणामि संमतं उवसं पवज्झामि
अबोध का त्याग करता हुआ बोध को धारण करता हुआ
अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसं पवज्झामि
उन्मार्ग को छोड़ता हुआ सुमार्ग को धारता हुआ
अमग्गं परियाणामि मग्गं उवसं पवज्झामि
इन ८ बोलों में जो दोष लगा या न लगा हो
जं संभारामि जं च न संभारामि
वो प्रतिक्रमता हूँ जो फिर न निवर्तता हूँ उसका
जं पडिक्कमामि जं च न पडिक्कमामि तस्स
सबका दिवस सम्बन्धी आगामी काल का
सव्वस्स देवसियस्स अइयारस्स
प्रत्याख्यान किया है साधु संयम में प्राक्रम
पडिक्कमामि समणोहं सजय विरय
कपट रहित त्याग पापकर्म का नियाना रहित
पडिहय पच्चक्खाय पावकम्मे अनियाणे
सम्यक्त्व दृष्टि युक्त माया झूठ छोड़ता हुआ
दिठीसपन्नो माया मोसो विवज्झओ
अढाई द्वीप का सम्बन्ध
अढाइजेसु दीवा समुदेसु

१५ कर्म-भूमि ५ माहाविघे ५ भरत ५ ऐरावत क्षेत्र में भूमि
पन्नरस्स कम्म भुमिसु
जावे कोई साधु रजोहरण गोच्छा
जावंति केइ साहु रयहरण गुच्छग
पात्रे मुखपत्ती आदि द्रव्य जैन लिंग
पडिग्गधरा
पाँच महाव्रत के धारक भाव दीक्षित संयम १८ हजार
पंच महव्वयधारा अट्ठारस
शास्त्र सिलांग रथ के धारक अक्षय अखंडित
सहस्स सीलंग रथधारा अक्खय
आचार चारित्र के धारक वो सब को मस्तक
अयार. चरिता तेसव्वे सिरसा
मन की शुद्धता मस्तक करके वंदना करता हूँ
मणसा मत्थएणं वंदामि ॥ ५ ॥ पीछे ॥

सबजीव माफ करो सबजीवों से मित्र-भाव सब जीवों से
खामिमि सव्वेजीवा सव्वे जीवावि
क्षमा माँगता हूँ मैत्री है सर्व जीवोंसे वैर
खंमतुमे मितिमे सव्व भुएसु वेरं
मेरे विरोध नहीं किंचित् कोई से इस प्रकार आत्म-साक्षी से
मझ न केणइ एवं महं
आलोचना करता हूँ गुरु साखे निंदता हूँ घृणा करता हूँ
आलोइयं निंदियं गरहिं

दुर्गछा करता हूँ	सर्व प्रकार से	तीन करण ३ योग से
दुगछियं	सव्व (२)	तिविहेणं
प्रतिक्रमण करता हूँ	वंदता हूँ	जिनतीर्थंकर
पडिक्कते	वंदामि	जिण

२४ को
चउविसं ॥ ६ ॥ पिछे ॥

दोय पाटी खमासणा की कहना ॥ पीछे ॥ पाँचपदा की वनणा करना ॥ पीछे ॥ सात लाख पृथ्वीकाय की पाटी कहणा ॥ पीछे ॥ खमत खामणा करके, कडो, काटो कठोर वचन लगा हो तो देवसी कींवा रायशी तस्स मिच्छामि दुकडं कहना ॥ पीछे ॥ पाँचवां आवसक की आज्ञा लेणा ॥ पीछे ॥ देवशी कींवा रायशी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, अतिकर्म, वतिकर्म, अतिचार, अनाचार, लग्यो होय तो तस्स मिच्छा० दुकडं ॥ पीछे ॥ नवकार की पाटी कहना ॥ पीछे ॥ करेमिभन्ते की पाटी ॥ पीछे ॥ इच्छा मिङ्गामि काउसं की पाटी कहणा ॥ पीछे ॥ तस्स उतरिकी पाटी ताव काय सुधी कहके ध्यान करणा, ध्यान में चार लोगस्स एक नवकार की पाटी कहके पूरा करना ॥ पीछे ॥ एक लोगस्स प्रगट कहना ॥ पीछे ॥ दोयं खमासमणा की पाटी कहना फिर पाँचवां आवसग समाप्त ॥ छट्ठा आवसग की आज्ञा लेना ॥ पीछे ॥ १ गया कालनो पडिकमणो २ जाव जीवनी सोमाइ ३ आगमिया कालना पच्छक्खाण. अथा सक्ती करणा ॥ पीछे ॥

जो पहिले लिया वह भाव चारित्र, २ चौवीस तीर्थंकर की स्तुति

१ पहली सोमाइक **२ दुजो चोविस्थो**

३ आचार्य वन्दना ४ लगे पाप का प्रायश्चित

३ तिजीवनणा **४ चोथा पडिक्कमणो**

५ कर्म क्षय करने रूप काउस्सग याने ध्यान

५ पांचवो काउस्सग

६ आगामी काल का त्याग याने संवर

६ छट्ठा पच्छक्खाण ईणमोअतिकर्मवतिकर्म

३ अतिचार ४ अनाचार लाग्यो होय तो तस्स मिच्छामि दुक्कडं ॥ पीछे ॥

पाँच नवकार कहना ॥ पीछे ॥ वडे को वंदना विधियुक्त आचार्यादिक अनुक्रमें करना संपूर्ण समण प्रतिकम्मणा ॥

चउकाल की सझाए

(१) सूर्योदय पहले एक मूहूर्त्त में पाँच नवकार चोविस्थो पडिकमणो करणो।

(२) सूर्योदय बाद प्रतिलेखना चोविस्था पाँच नवकार करणा।

(३) दिन के चार वजे पीछे पाँच नवकार पलेवन चोविस्था करना।

(४) सूर्यास्त पीछे एक मुहूर्त्त के पहले चोविस्था पडिकमणो पाँच नवकार करना।

चारकाल की सझाए समाप्त

देवशी, रायशी प्रतिक्रमण में चार लोगस्स के ध्यान की परंपरा है; पखीको १२ लोगस्स और चोमासी पखीको को २० लोगस्स का, छमछरीको चालीस लोगस्स का, चोमासी अन्तिमपक्षी को वीस लोगस्स हीली चोमासा पखीको २० लोगस्स का ध्यान करने की परंपरा है। प्रतिक्रमण करते वक्त १ चोविस्था खड़े खड़े करना, २ ध्यान खड़े हुए एक पुद्गलपर दृष्टि स्थापन करके या आँख बन्द करके देह स्थिर करके करना, ३ तीजे आवसक में गुरु वनणा अडुखडू बैठके दसोंकर मिलाके नमस्कार सहित करना; चौथे आवसक में अतिचार खड़े २ बोलना, पाँच पदाकी वनण दसों अंग नमाके करना; पाँचवां आवसक में ध्यान उपरोक्त मुजब करना, छट्ठा आवसक पूरा होने वाद एक पुन्चे पर सिंघ आसण सहित एक नमोत्थुणं के सेवट में सिद्ध गई नाम धेइयं ठाणं संपताणं नमोजिणाणं कहके सिद्धांको देना; दूसरा नमोत्थुणं अरिहंत को देना, तीजा नमोत्थुणं गुरु महाराज श्रीमन्धर स्वामीजी को शुद्ध गुरु को देना उनके सेवट मंम धम्मस्स आयरियस्स थइथूई मंगलं मेरा धर्माचार्यजी को हो यों कहके समाप्त करना और पाँच नवकार गुणणा ॥ इति शुभम् ॥

॥ ओऽम् शान्ति ॥

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
निवेदन ...			
२	३	१८६६	१९६६
,,	६	१८६८	१९६९
,,	६	१८७७	१९७७
,,	१२	१८८६	१९८६
,,	१३	१८८२	१९९२
३	७	१८८५	१९९५
पुस्तक			
८	५	आये	आमे
८	१३	म्हघापुत्र	मृघापुत्र
२४	११	का मालदार से	से मालदार का
२४	१५	रो	इतना
२६	१२	... न कराए;	साध्वी से न कराए;
३६	३	करेना	करेन्तं
३६	३,४	पडिछमामि	पडिक्कमामि
३६	४	अवाणं	अप्पाणं,
४०	१३	१३१	१, उ० १
४५	१२	वारंह	बाहर ?
५९	१०	आंड	आउ ?
५९	१६	दौड़कर	छोड़कर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६५	१७	से	ने
६५	१७	गया	—
६८	९	....ग्रास	३२ ग्रास
७२	१४,१७	साड़ी	साळी
७३	३	"	"
७३	३	२३	२४
७४	२०	थीथोजी	थोथोजी
७५	१८	त्रिक्खु	भिक्खु
७६	६	अज्ञान	आसन
८४	९	उर्क	उड
८७	१५	नेहसणाए	तेहसणाए
८८	२०	डुरप्पया	दुरप्पया
८९	१	तस्त	तस्स
१०३	१०	पे	म
१०३	१२	हेड	हेउ
१०७	२४	साहन	साहन्न
१०९	१७	लिथि	लिवि
१०९	२१	मूढ़	मूळंका
११०	१०,११	किए	लिए
१११	२	तालपलम्बे	ताड़पलम्बे
११२	१	अ०....	अ० २
११३	७	तहप्पगारं	तहप्पई

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२५	१	भ्रम-भूलक	भ्रम-मूलक
१३०	१८	महीने	मही में
१३३	१२	संचिक्खस्त	संचिक्खऽत्त
१३३	१३	साभण्णं	सामण्णं
१४०	१८	सेणवा	दुसेवणा
१४०	१९	आहदुदलएज्जा	आहट्टुदलएज्जा
१४२	७	आयाभंवा	आयामंवा
१४२	१०	ठ०	उ०
१६५	२	भणुव्विगो	मणुव्विगो
१६५	२	अव्वक्खिन्नेण	अव्वक्खित्तेण
१६५	१७	कल	कुल
१७८	२१	समका	रेसम का
१८०	११	अवेहहणं	अवेलेहणं
१८४	५	कप्फेण	कक्केण
१९०	१७	पप्फोउण	पप्फोडण
१९३	११	बुववाई	उववाई
२३७	२१	सागण्भायणं	सागभायणं
२४१	१३	लोगो	लागो
२४४	१४	लगते	लगने
२४५	३	दाँडी से	दाँडी इतना
२६३	१३	मीसा	मोसा

क्षमा-याचना

शुद्धिपत्र में बताई हुई अशुद्धियों के अतिरिक्त और भी ग़लतियाँ हो सकती हैं; जिसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। कृपया पाठक सुधार कर पढ़ लें।

—प्रकाशक

शुद्धि-पत्र

(२)

पहिले शुद्धि-पत्र में बहुतसी अशुद्धियां दी जा चुकी हैं। लेकिन फिर भी अनेक अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनमें खास खास निम्न प्रकार हैं:—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९०	४	कुज्जा	कुज्जा नेव
२९४	३	चतुर्यति	चतुर्गति
२९४	२४	जोते अपमत्त	जंते अपमत्त
२९५	१	प्रारम्या	परारम्भा
२९७	३	एत	एते
२९७	८	असेपन्ने	असंयपन्ने
२९७	१०	कुण	पुण
२९७	११	अणपरिय	अणपरियट्ठ
३०२	१०	समोइ	सम्भोइ
३०२	११	निसमोइय	निसभोइयं
३०४	११	उ०...	उ० १०
३१०	५	दश०	दशा०

३११	१४	वस्तु	सु
३११	१७	फिर	फिरे
३१४	१०	तींवसुं	तिनसुं
३१५	१९	फुलाक	पुलाक
३१७	१५	यापन	थापन
३२८	१०	सूत्र...	मूत्र ९
३५०	११	हींगणू	हींगळू
३५५	१	भोजन	योजन
३५७	१२	डव	उव
३६१	४	चिन	चितजी
३६६	१७	कंपमूलेय	कंदमूलेय
३६६	१७	मूणजणी	मूल जड़ी
३७२	१	सगलणे	संजलणे
३७४	२	भणेणं	मोणेणं
३७६	१७	फरस ५	गंध ५ फ
३८६	९	पूछ	पुंज
३८८	८	नुदेसण	उदेसण